॥ श्रीः ॥

विद्याभवन-राष्ट्रभाषा-ग्रन्थमाला

२०

मराठी का भक्ति-साहित्य

(मराठी का प्राचीन साहित्य)

लेखकः—

प्रो० भी० गो० देशपांडे, एम्० ए०, बी० टी०

मराठी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

वि० सं० २०१६] [ई० १९५९

प्रकाशक :—

चौखम्बा विद्याभवन

चौक, वाराणसी-१

The Chowkhamba Vidya Bhawan

Chowk, Varanasi-1 (India)

1959

मूल्य—

साधारण संस्करण ८)   राज संस्करण १०)

मुद्रक :—

विद्याविलास प्रेस,

वाराणसी

संत कवियों के पावनकारी

चरण-कमलों पर

यह अक्षर-भावपुष्प

सादर समर्पित

शुभसम्मति

लोकनायक डा० मा० श्री अणे बी. ए., एल्.एल्. बी., एम्. पी.

(भूतपूर्व राज्यपाल बिहार, भू० पू० सभापति महाराष्ट्र

सा० सम्मेलन तथा विदर्भ साहित्य संघ)

मैंने 'मराठी का भक्ति-साहित्य' बड़े चाव से पढ़ा। विद्वान् लेखक ने मराठी के भक्तिसाहित्य की विशेषताओं का सम्यक् दिग्दर्शन अपने प्रदीर्घ और मार्मिक 'मुखबंध' में यशस्विता से किया, जिसका विहंगावलोकन करते ही सुविज्ञ पाठक उनके गहन अध्ययन और प्रौढ चिन्तन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। इस ग्रंथ में आद्यकवि मुकुन्दराज से अंतिम महाकवि मोरोपंत तक सब संत तथा पंडित कवियों की काव्य-सृष्टि की चुनी हुई और उद्‌बोधक जानकारी रोचक एवं धाराप्रवाही शैली में प्रस्तुत की गई है। लेखक ने संतकवियों की जीवनियों के प्रभावकारी भावचित्र खींचने में संयम और कौशल से काम लिया है। मैं लेखक की चरित्रलेखन-निपुणता से कई वर्षों से भलीभाँति परिचित हूँ। ग्रंथकार का दृष्टिकोण संतुलित और सत्यान्वेषक है। ग्रंथ में साधार स्थापनाएँ हैं, जिनका पठन पंडितों को बौद्धिक आनंद देता है। मेरी दृढ राय है कि इस ग्रंथ के द्वारा हिन्दी के पाठक मराठी के प्राचीन संतसाहित्य की आध्यात्मिकता, प्रौढता, भव्यता और सुन्दरता से भलीभांति परिचित हो सकेंगे। मुझे लगता है कि लेखक ने हिन्दी तथा मराठी साहित्य की अनमोल सेवा की है।

भारत के संविधान में १४ राष्ट्रभाषाएँ (National languages) मानी गई हैं। हिन्दी को केन्द्र सरकार की शासकीय भाषा बनने का समुचित और चिरवांछित गौरव प्राप्त हुआ है। अन्य तेरह राष्ट्रभाषाओं के साहित्य में बिखरे हुए रत्नों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य हिन्दीभाषा को ही करना है। मेरी दृष्टि में इन राष्ट्रभाषाओं के साहित्य की जानकारी हिन्दी द्वारा ही सुलभ हो सकती है और भारत की भावनात्मक एकता (Emotional Integration) दृढ़ की जा सकती है। सभ्य व्यक्ति अपनी माता तथा मौसी पर समान प्रेम करते हैं, जिससे कुलाभिमान और वंशाभिमान दृढ़-मूल होता है। इस प्रकार हमें (भारतीयों को) चाहिए कि हम अपनी मातृभाषा पर निस्सीम प्रेम करते हुए उसकी अन्य तेरह भाग्यशाली भाषा-भगिनियों के प्रति सक्रिय समादर प्रगट कर और उनके साहित्य से रसायन-प्राशन कर अपनी भारतीयता की व्यापक भावना का भलीभांति पोषण करें, जिसके बल पर हम अणुयुद्ध की बिभीषिका से भय-पीड़ित संसार में चिरशांति प्रस्थापित करने में योग दे सकें। इस दृष्टि से 'मराठा का भक्तिसाहित्य' का सम्यक् मूल्य आंकना चाहिए। मैं प्रा० देशपांडेजी को इसका प्रणयन करने पर हार्दिक बधाई देता हूँ और मंगल कामना प्रगट करता हूँ कि उनके द्वारा इस प्रकार का राष्ट्रीय साहित्य भविष्य में निर्माण हो। अन्त में वैदिक प्रार्थना के साथ मैं सम्मति पूरी करता हूँ।

संगच्छध्वम् , संवदध्वम् , संवोमनांसि जानताम् । (ऋ० १० मंडल)

मुखबन्ध

संत और भक्त :—मराठी साहित्य में संत, भक्त, साधु और सज्जन पर्यायवाची शब्द हैं। वहाँ संत शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत होता है पर हिंदी साहित्य में निर्गुणी एवम् ज्ञानमार्गी साधु को ही संत कहने की रूढ़ि चल पड़ी है।[1] संत कबीर कहते हैं—

संतन जात न पूछो निर्गुनिय

तथा—

जानसि नहिं कस कथसि अयाना।
हम निरगुन तुम सरगुन जाना॥

ऊपर के वचनों से जान पड़ता है कि कबीर आदि ने निर्गुणियों के लिये संत शब्द को ग्राह्य समझकर उसे स्वीकार भी कर लिया था। गोस्वामी तुलसीदासजी संत को दुर्जन के विपरीत एक सत्पुरुष या सज्जन का समानार्थक समझते थे, तभी तो वे रामचरितमानस के प्रारम्भ में कहते हैं—**बंदउँ संत असज्जन चरना।** गोस्वामीजी के कहने के अनुसार संत शब्द व्यापक अभिप्राय का सूचक बन जाता है किन्तु हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के अन्तर्गत निर्गुण और सगुण धारा नाम की दो भिन्न प्रवृत्तियों की कल्पना की गई है और पहली धारा के समर्थकों को संत कहा गया है। इसी भाव को स्व० डॉ० पीतांबर बड़थ्वाल और लब्धप्रतिष्ठ संत-साहित्यकार पंडित परशुराम चतुर्वेदी ने भी दृढ़मूल कर दिया। चतुर्वेदीजी अपने 'संत काव्य' की भूमिका में लिखते हैं—'संतों ने अपना काव्य कौशल प्रदर्शित करने के उद्‌देश्य से नहीं लिखा था और न रचना द्वारा उनका प्रधान लक्ष्य कभी सगुणोपासक भक्तों की भाँति अपने इष्टदेव का गुणगान करना ही था। इसलिए आपके उक्त ग्रन्थ में और 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा' नामक विशाल ग्रन्थ में हिंदी

---

१. हिंदी और मराठी के संत-साहित्यों में तुलना करने की दृष्टि से यह उल्लेख नहीं किया गया, अपितु भेद बताकर जानकारी सुलभ कराने का ही नम्र अभिप्राय है।

काव्याकाश के सूर्य-चन्द्र महाकवि सूरदास और तुलसीदास का नामनिर्देश भी नहीं मिलता। परन्तु मराठी साहित्य में विष्णु के अवतार राम के उपासक गोस्वामी तुलसीदास और ब्रह्म के प्रतीक राम का नामस्मरण करनेवाले निर्गुणी कबीर भी संत हैं। इस विषय में महाराष्ट्र के संतों का मत जानना उचित है। वारकरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रेष्ठतम एवं आद्य संत ज्ञानेश्वरजी कहते हैं—'पूर्वजन्म में बड़ा सुकृत करने के कारण आज मेरी सन्तों से भेंट हुई। मुझे ये पंढरिराय के भक्त पीयूष से भी अधिक मधुर लगते हैं। ये साधु भानुबिंब जैसे ही निर्मल और निर्लिप्त हैं।' इसी प्रकार उन्होंने अपने ज्ञानेश्वरी नामक ग्रन्थ और फुटकर अभंगों में संत, साधु व भक्त शब्दों को पर्यायवाची मानकर उनकी व्याख्याएँ की हैं। महाराष्ट्र के दूसरे श्रेष्ठतर संत नामदेवजी कहते हैं—'सद्भाव से संतचरणों में निष्ठा रखते ही अनायास देव का दर्शन होता है। देव साधुओं की सहायता करता है। ऐसे हरिभक्तों की सेवा करना ही मेरा व्रत और तीर्थाटन है।' आप अन्यत्र कहते हैं—'संत धन को मृत्तिका के समान मानकर शांत तथा समाधानी वृत्ति से रहता है। साधु मानापमान से परे होता है। संत निंदा स्तुति को समान मानता है। साधु कृपालु, दयालु, कोमल, ब्रह्मसाक्षात्कारी एवं सत्त्वगुणी होता है और षड्रिपुओं पर उसका पूरा अधिकार होता है।' तीसरे आदर्श गृहस्थाश्रमी संत एकनाथ महाराज कहते हैं—'संत के पास द्वैतभाव नहीं रहता। साधु की दृष्टि में राजा और रंक समान होते हैं। उनके लिए कैवल्य धाम सहज प्राप्य है। संत मेघ जैसे उदार होते हैं। भक्त और परमात्मा का सम्बन्ध हेमालंकारवत् होता है। परोपकार ही उनका (साधु का) स्वार्थ है। उनकी उक्ति और कृति में मेल होता है।' महाराष्ट्र के संत-शिरमौर तुकारामजी कहते हैं—'जो दुखी, पीड़ित एवं निराश्रित लोगों को अपनाता है वही साधु है। ऐसे सज्जनों का चित्त भीतर-बाहर एक और मक्खन-सा मृदु होता है। संतों का जीवन केवल लोक-कल्याण ही के लिए है। वे ही भक्त हैं जो अपने शरीर के विषय में बिल्कुल उदासीन हो गये हैं और जिनका सब कुछ नारायणमय हो गया है। जो जग के आघातों को सहता है वही संत है।' इसी प्रकार समर्थ रामदासजी साधु, संत, भक्त, सज्जन और सिद्ध शब्दों को समानार्थी मानते हैं। वे अपने दासबोध में लिखते हैं—'सज्जन परमार्थ के अधिष्ठान या आधार हैं। उनके द्वारा लोगों पर गूढ़ ज्ञान प्रकट होता है। संत मायातीत अनंत का मार्ग बतलाते हैं। भक्त वही है जो देव से विभक्त (अलग) नहीं है। संतों के लक्षणों का कहना ही क्या है! तो भी आत्मज्ञानियों एवं साधुओं के कुछ लक्षण यहाँ बतलाता हूँ। सिद्ध या साधु

साक्षात् ईश्वर के स्वरूप होते हैं। जिसका मन ईश्वर में लग जाय वही साधु है। मुख्य बात तो मन की स्थिति है। मन में ही निवृत्ति होनी चाहिये। निर्गुण में वृत्ति का लगा रहना ही साधु की कसौटी है। साधु अपनी बुद्धि से निर्गुण का निर्णय कर लेता है। ब्रह्म-स्वरूप के संयोग से साधु स्वयं भी वही स्वरूप हो जाता है।'

सारांश यह कि उपर्युक्त पाँच श्रेष्ठ संतों के कथनानुसार संत, साधु, भक्त, सज्जन और सिद्ध समान अर्थवाची शब्द हैं। जो व्यक्ति आस्तिक, सदाचारी, परोपकारी, निःस्वार्थी और भगवद्भक्ति में रत है वह संत है, चाहे वह सगुणोपासक हो या निर्गुणोपासक। संत का साधना-भेद से कोई लगाव नहीं होता। महाराष्ट्र के सन्त भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानते थे तथा दोनों की समान श्रद्धा से उपासना भी करते थे। सगुण और निर्गुण में भेद या विरोध का अनुभव करना तो दूर रहा, उनमें उन्हें सामंजस्य की अनुभूति होती थी। एक ही उपासक मुमुक्षु और साधक अवस्थाओं में परमेश्वर के सगुण रूप की उपासना करता है और सिद्धावस्था में नाम-स्मरण या योग द्वारा निर्गुण ब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करता है। महाराष्ट्र के संत निर्गुण को सगुण के आगे की सीढ़ी मानते थे। भक्ति दोनों में सामान्य है। उनको जोड़नेवाली कड़ी है। महाराष्ट्र के संत आत्मसाक्षात्कारी होते हुए भी लोकसंग्रह की दृष्टि से (भगवद्गीता के अनुसार) सगुण के उपासक थे। इस विशिष्टता का पूरा विवेचन हम आगे करेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि महाराष्ट्र में भक्ति की निर्गुण और सगुण ऐसी दो भिन्न धाराएँ प्रवाहित न हो सकीं। इसलिए वहाँ सन्त और भक्त में कोई भेद देखने में नहीं आया। इसके अतिरिक्त वारकरियों को संत कहने की प्रथा भी महाराष्ट्र में चल पड़ी थी। पर संत शब्द की व्यापकता सदा अविकल रही। फलतः वहाँ संतकाव्य और भक्तिकाव्य में कोई अन्तर नहीं माना जाता। इसीलिये अपने हिंदी-भाषा-भाषी पाठकों की सुविधा का ध्यान रखते हुए हमने इस ग्रन्थ का नाम 'मराठी का भक्ति-साहित्य' रखा है जिससे जिज्ञासु पाठक बिना हिचकिचाहट के उसकी जानकारी भलीभाँति प्राप्त कर सकें।

भक्ति-काव्य की व्याख्या :—जो काव्य भक्ति से ओतप्रोत होता है उसे भक्ति-काव्य कहते हैं। भक्ति की सरल व्याख्या है—ईश्वरे अनुरक्तिः भक्तिः। अर्थात् ईश्वर के प्रति प्रेम होना भक्ति है। किन्तु ईश्वर के स्वरूप के विषय में ऐकमत्य होना असम्भव है। कोई उपासक या विचारक ईश्वर को लोकमंगलकारी अवतारों के स्थूल रूपों में देखते हैं तो कोई चिंतक ब्रह्म के सूक्ष्म रूप में उसका अनुभव करते हैं। पर आराध्य के प्रति

दोनों की ही उत्कट भक्ति होती है। अतः दोनों अपनी ओर से अपने हरि का यशोगान ही करते हैं। हिंदी संत-साहित्य के उद्भट विद्वान् कवि सुन्दरदास जी कहते हैं—

नख-शिख शुद्ध कवित्त पढ़त अति नीको लग्गै।
अंगहीन जो पढ़ै सुनत कविजन उठि भग्गै॥
अक्षर घटि बढ़ि होइ षुडावत नर ज्यौं चल्लै।
मात घटै बढ़ि कोइ मनौ मतवारौ हल्लै॥
औढेर कौंण से तुक अमिल, अर्थहीन अन्धो यथा।
कहि सुन्दर हरिजस जीव है हरिजस बिन मृत कहि तथा॥

इस प्रकार संत सुंदरदास के मत के अनुसार हरियश ही काव्य का प्राण है। उसके बिना कविता शवतुल्य है। ठीक यही मत महाराष्ट्र के सब सन्तों का है। ज्ञानी एवं योगी संत ज्ञानेश्वरजी ज्ञानेश्वरी में कहते हैं—

वाचे बरवे कवित्व। कवित्वीं रसिकत्व॥
रसिकत्वीं परतत्व। स्पर्श जैसा॥

वाग्व्यवहार में कवित्व उत्तम है। कवित्व में रसीलापन होना आवश्यक है और उस रसिकता में भी परतत्व (परमार्थतत्त्व) का विवेचन होना परम श्रेष्ठ एवं नितांत आवश्यक है। आप अन्यत्र कहते हैं—

जेय साहित्य आणि शांति। हे रेखा दिसे बोलती॥
जैसी लावण्यगुण कुलवती। आणि पतिव्रता॥

जैसे किसी साध्वी में पातिव्रत के साथ ही साथ सुंदरता के बाह्य गुण रहते हैं उसी प्रकार इन पंक्तियों में शांतरस और साहित्य के ललित गुण दिखाई देते हैं। संत ज्ञानेश्वर केवल काव्य-सुंदरता को वेश्या की सुंदरता जैसी हीन मानते थे। उनके मत में शांतरस काव्य की आत्मा है। जैसे पातिव्रत के विना पतिव्रता की कल्पना नहीं की जा सकती वैसे शांतरस के बिना काव्य हो ही नहीं सकता। परतत्व या परमार्थ का विवेचन करने में ही शांतरस की निष्पत्ति होती है। आपने अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना ज्ञानेश्वरी को वाग्यज्ञ एवं धर्मकीर्तन कहा है। सचमुच परतत्त्व (परमार्थ), वाग्यज्ञ और धर्मकीर्तन बड़ी व्यापक संज्ञाएँ हैं। मेरी अल्प मति के अनुसार परतत्त्व-विवेचन में परमेश्वर के अव्यक्त और व्यक्त स्वरूपों का दिग्दर्शन, उनके प्रति प्रकट किए गए अनेक

उद्‌गार, विचार, आत्मनिवेदन, नामस्मरण की साधना, सात्विक एवं नीतियुक्त जीवन की प्रशंसा और उसके प्रचार के लिये उपदेश इत्यादि का समावेश होता है। भगवान् के जगदुद्धारक अवतारों का सरस वर्णन कर उनके प्रति साधारण जन में भक्ति की भावनाएँ जागृत करना भी परमार्थ-विवेचन में आता है। इसी सिद्धांत के अनुसार संत ज्ञानेश्वर ने भाष्यग्रंथों या फुटकर अभंगों की अमर रचना की। आपका ही अनुकरण अन्य महाराष्ट्रीय संत कवियों ने किया। आपके परममित्र संत नामदेव ने स्पष्ट कहा है कि 'जिस बीज को संत ज्ञानेश्वर ने बोया था उसके हो पौधों को हमने तन-मन से सींचा।' संत नामदेव अपनी बानी में स्पष्ट कहते हैं—

रे जिह्वा करउ सतखंड। जामि न उचरसि गोविंद॥
रँगीले जिह्वा हरिके नाई। सुरंग रँगीले हरिहारि धिआई॥

संत एकनाथ ने तो जोर देकर कहा—'परमेश्वर के सगुण चरित्रों का अत्यधिक आदरपूर्वक वर्णन करना चाहिए और भक्ति-ज्ञान-विरहित कुछ भी नहीं लिखना चाहिए।' संत-सिरमौर तुकारामजी अपनी अति स्पष्ट अभंगवाणी में कहते हैं—

वर्णावी ते थोरी एका विट्ठलाची। कीर्ती मानवाची सांगो नये॥

अर्थात् भगवान् विट्ठल की श्रेष्ठता की ही प्रशंसा करनी चाहिए। किसी अन्य मानव की कीर्ति का गान न करना चाहिए। दूसरे स्थल में आप उस कवि की भर्त्सना करते हैं जो केवल मनोरंजन के लिए काव्य की सृष्टि करता है। समर्थ रामदासजी की भी यही राय थी। आप 'दासबोध' में लिखते हैं—'कविता ऐसी होनी चाहिए जिससे ईश्वर की भक्ति बढ़े और विरक्ति हो। भक्तिहीन कविता को केवल ढोंग समझना चाहिए। जिसमें अनेक प्रकार के साधन, पुरश्चरण, तप और तीर्थाटन के विवरण हों और अनेक प्रकार की शंकाओं का समाधान हो, जिससे मन में अनुताप उत्पन्न हो, लौकिक विषयों से ग्लानि हो, देहबुद्धि नष्ट हो, भगवद्भक्ति विकसित हो और भगवत्साक्षात्कार हो वही कविता है।' उदाहरणस्वरूप महाराष्ट्र के प्रमुख संतों के कुछ काव्यविषयक उद्‌गार हमने ऊपर उद्धृत किए। दूसरे शब्दों में हम निःशंक कह सकते हैं कि संतों द्वारा रचा हुआ काव्य ही भक्तिकाव्य है। काव्य कवि की अत्युत्कट एवं प्रबल भावनाओं का स्वाभाविक आविष्कार होता है। संत एवं भक्त की प्रबल भावना भक्तिमय ही होती है अतः 'जैसी खान वैसी मिट्टी' न्याय के अनुसार भक्तिकाव्य का स्वरूप रचयिता की भावना के ठीक अनुरूप ही होता है। संत कवि पहले संत होते हैं

पश्चात् कवि। प्रत्युत संतपन या भक्ति ही उनकी काव्यप्रतिभा का स्रोत है। अतः आस्तिकता, ईश्वर के प्रति प्रेम और आध्यात्मिकता भक्तिकाव्य की आत्मा है। आस्तिकता की महिमा गाना और उसे बढ़ावा देना उनकी काव्यसृष्टि का प्रमुख उद्देश्य होता है। इसलिए उनके प्रबंध या फुटकर काव्यों में परमेश्वर का यशोगान भरा रहता है। यही सिद्धांत महाराष्ट्र के भक्तिकाव्य पर ठीक घटता है।

भक्तिसाहित्य नाम क्यों ?:—हम मराठी के प्राचीन (सन् ११८८ से १८१८ तक के) साहित्य को भक्तिसाहित्य कहते हैं। उक्त नामकरण की कारण-परंपरा निम्नलिखित है। संसार में नामकरण के संबंध में **'प्राधान्येन व्यपदेशः भवति'** (प्रधानता एवं प्रचुरता को ध्यान में रखकर नामकरण किया जाता है) यह सिद्धांत सर्वमान्य है और यही व्यवहृत होता है। साहित्य इसका अपवाद कैसे हो सकता है ? अतः जिस कालखंड के भीतर जिस विशिष्ट ढंग की रचनाओं की बहुलता होती है उसका नामकरण उन रचनाओं के स्वरूप के अनुसार होना स्वाभाविक और उचित है।

(१) मराठी भाषा का प्राचीन साहित्य नाथपंथ, महानुभाव पंथ, वारकरी संप्रदाय, श्रीदत्त संप्रदाय, रामदासी संप्रदाय, आनंद संप्रदाय इत्यादि अध्यात्मवादी एवं भक्ति-संप्रदायों के संस्थापक, प्रचारक, समर्थक और अनुयायी कवियों की रचनाओं से पुष्ट हुआ है अतः उपर्युक्त कवियों की कृतियाँ अध्यात्म-विवेचन, भक्ति की महिमा और हरि के यशोगान से ओतप्रोत हैं।

(२) इन कवियों का अन्य कवियों के काव्यों पर अमिट प्रभाव भी पड़ा था। प्राचीन कवियों में पंडित एवं कलाकवि नामक एक प्रभावकारी मंडल है जिसमें मुक्तेश्वर, वामन पंडित, सामराज, रघुनाथ पंडित, आनंदतनय, नागेश, विट्ठल और महाकवि मोरोपंत प्रमुख हैं। यदि इन कला-कवियों की प्रबन्ध-रचनाओं पर हम सरसरी दृष्टि डालते हैं तो हमें तुरन्त विदित होता है कि उनकी विचारधाराओं एवं काव्यविषयों पर संत कवियों का अमिट और स्पष्ट प्रभाव है। इन कलाकवियों एवं पंडित कवियों का साध्य हरियश का गान करना ही था। केवल साधन या शैली में भेद था। पहले के संत कवि साक्षात्कारी भक्त थे। अतः उनकी रचनाएँ आत्मानुभूति से भरी हुई हैं परन्तु पंडित कवि मुमुक्षु या साधक थे अतः उनके प्रबन्धकाव्यों या फुटकर रचनाओं में आत्मप्रतीति की अपेक्षा आराध्य देव का गुणानुवाद ही अधिक है। सन्त कवियों की प्रायः सब रचनाएँ आत्मनिष्ठ या विषयीनिष्ठ हैं तो पंडित कवियों की कृतियाँ विषयनिष्ठ हैं। इन्होंने संतों की अपेक्षा काव्य के बाह्यांगों को अधिक सुन्दर और आकर्षक बनाया।

संतों ने देशभाषा (मराठी) में आध्यात्मिक ज्ञान एवं भक्ति का सरस विवेचन किया तो पंडित कवियों ने कलापूर्ण महाकाव्यों की सृष्टि कर लोकरंजन के साथ ही साथ भक्ति का भी व्यापक प्रचार किया। मराठी पंडित कवियों के प्रबन्धकाव्यों के आख्यान प्रायः रामायण, महाभारत और भागवत से लिये गये थे अतः श्री विष्णु के लोकमंगलकारी अवतारों के यशोगान से उनकी कृतियाँ ओतप्रोत हैं। संतों के काव्यों में शांत और भक्तिरस मात्र का ही निर्वाह है किन्तु इन कलाकवियों ने भक्तिरस को प्रमुख पद पर आसीन रखते हुए शृंगार, वीर, करुण, हास्य इत्यादि रसों की भी सफल निष्पत्ति करके मराठी काव्य की रसमयता अत्यधिक बढ़ायी। संक्षेप में इन कवियों की कलाकृतियों में भक्ति की धारा ही स्पष्टता से दिखायी देती है अतः भक्ति-साहित्य में उनकी गणना करना किमपि अनुचित नहीं है।

(३) प्राचीन मराठी साहित्य में पदों की सरस और नादमधुर रचना करनेवालों का एक छोटा-सा मंडल है जिसमें संत एकनाथ, दासोपंत, मध्वमुनि, अमृतराय, शिवदीन केसरी, देवनाथ और दयालनाथ इत्यादि कवियों का समावेश होता है। इन्होंने नये-नये छंदों में आकर्षक, चमत्कृतियुक्त शब्दरचना से अलंकृत और अतीव रसभीने पदों की सफल रचनाएँ कीं जो जन-साधारण में अतिप्रिय हुईं। इन पदों के विषय हरियश, भक्ति और नीत्युपदेश ही हैं। इनका प्रमुख रस भक्ति ही है अतः इस काव्य-प्रकार का भी अन्तर्भाव भक्ति-साहित्य में करना उचित है।

(४) प्राचीन मराठी साहित्य में चरित्र-ग्रन्थों की सफल रचना मिलती है। ये चरित्र-ग्रंथ गद्य और पद्य दोनों रूपों में मिलते हैं। इनका विस्तृत विवेचन आगे दिया गया है। चरित्रों के नायक प्रायः देव, पंथ-संस्थापक, सद्गुरु और संत हैं। अतः इनमें भी हरियश और भक्ति की धारा प्रबलता से बहती है। इसलिए इनका भी समावेश भक्ति-साहित्य में होता है।

(५) अठारहवीं शताब्दी के अंत में दक्षिण भारत की तंजोवर नगरी में महाराज शिवाजी के वंशज राजाओं ने लगभग तीस पैंतीस पौराणिक नाटकों की रचना कराकर उनको अपने दरबार में रंगमंच पर सफलता से अभिनीत कराया था। इससे स्पष्ट होता है कि मराठी का रंगमंच १८० वर्षों से पूर्व प्रारंभ हुआ। नाटकों के कथानक पुराणों से लिये गये थे जिससे सिद्ध होता है कि उक्त दृश्यकाव्यों द्वारा लोकरंजन के साथ भक्ति और नीति का सदुपदेश देना भी उनका उद्देश्य था। अतः इसकी भी गणना भक्ति-साहित्य में करना तर्क के विरुद्ध नहीं है।

(६) अपवाद के लिए शाहिरीकाव्य (मराठी का मौलिक वीरकाव्य—पवाड़ा, तथा शृङ्गारकाव्य—लावणी) और बखरों के रूप में लिखा हुआ गद्य-साहित्य रह जाते हैं। इनको भक्ति-साहित्य में समाविष्ट करना अनुचित है। परंतु उपर्युक्त शाहिरी और बखर साहित्य की रचनाएँ भक्ति-साहित्य की कृतियों की तुलना में अत्यल्प हैं। जब हम मराठी के प्राचीन साहित्य (सन् ११८८ से १८१८) का विहंगावलोकन करते हैं तब हमें तत्काल मालूम हो जाता है कि शाहिरी और बखर साहित्य साधारण नियम के अपवादस्वरूप हैं और सिद्धांत का अपवाद होता ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि मराठी के प्राचीन साहित्य का साधारण लक्षण भक्तियुक्त रचना है। भक्ति की धारा पद्यात्मक कृतियों में जैसी प्रवाहित है वैसी ही महानुभावों के गद्यग्रंथों में भी बहती है। साहित्य में पद्य और गद्य रचनाओं का समावेश होता है। अतः प्राचीन मराठी वाङ्मय को भक्ति-साहित्य कहना ही समीचीन है।

किसी साहित्य के अंतरंग का दर्शन कराने के पहले उसकी रूपरेखा खींचना उपयुक्त है। इसलिए हम मराठी साहित्य की मोटी जानकारी यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

मराठी भक्ति-साहित्य तीन कालखंडों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम खंड सन् ११८८ से १३५० तक, द्वितीय खंड सन् १३५० से १६५० तक और तृतीय खंड सन् १६५० से १८१८ तक। इन कालखंडों में मराठी साहित्य का कैसे विकास होता गया, स्थूल रूप में हम यहाँ कथन करते हैं।

प्रथम खंड (११८८-१३५०):—साधारणतया सब आधुनिक भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति और विकास ग्यारहवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक पूरा हो गया। उक्त कालखंड में भारत के भिन्न प्रादेशिक जनसमूहों में अपनी-अपनी देश-भाषा के प्रति तीव्रता से अपनेपन की भावना उत्पन्न हुई और वे समूह अपनी देश-भाषा का पौधा जी-जान से सींचने लगे। ठीक यही स्थिति महाराष्ट्र प्रदेश में भी थी। आद्य कवि मुकुंदराज द्वारा आद्य ग्रंथ विवेकसिंधु सन् ११८८ में रचा गया। श्री मुकुंदराज विनययुक्त आत्मविश्वास से कहते हैं—

भाषा हो का मराठी। परि उपनिषदाचीच शहाटी॥

अर्थात् इस विवेकसिंधु ग्रन्थ की भाषा तो मराठी है पर शैली उपनिषदों जैसी गम्भीर और तर्कयुक्त है। यह ग्रन्थ आत्मज्ञान का विवेचन करनेवाला है। तत्पश्चात् महानुभाव पंथ ने मराठी को अपने पंथ की धर्मभाषा बनाकर उसको उन्नत किया और संस्कृत महाकाव्यों का सफल अनुकरण करके मराठी की प्रबंध-

काव्य-धारा पुष्ट की। इस पन्थ के विद्वान् लेखकों ने अपने पन्थ का तत्त्वज्ञान गद्यग्रंथों में विवेचित कर मराठी की गद्यधारा का श्रीगणेश किया। सन् १२९० में सन्त ज्ञानेश्वर ने भगवद्गीता जैसे सर्वमान्य संस्कृत ग्रन्थ पर मराठी में भावार्थदीपिका अथवा ज्ञानेश्वरी नामक काव्यमय टीका रचकर संस्कृत भाषा के दुराग्रही समर्थकों को बता दिया कि मराठी भाषा में भी वैसी ही प्रौढ़ता, कोमलता, सरसता, लचीलापन और अर्थ वहन करने की क्षमता है। महानुभावों के प्रबन्धकाव्य और ज्ञानेश्वरी द्वारा नवोदित मराठी भाषा का इतना तेजोमय परिष्कार हुआ कि उसके विरोधी चकाचौंध में पड़ गए। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने वारकरी या भागवत सम्प्रदाय के प्रचार के लिए सरस अभंगों की रचना की जिससे उसकी लोकप्रियता तत्काल बढ़ी और अभंगकाव्य ने लोकसाहित्य का व्यापक रूप धारण किया। वारकरी पन्थ में सब वर्णों एवं जातियों के सन्त सम्मिलित थे। इनमें ज्ञानेश्वर, नामदेव, निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्ताबाई, जनाबाई, सेनान्हाई, गोरा कुम्हार, सांवता माली, नरहरी सोनार, चोखामेला धेड़, बांकी धेड़िन, इत्यादि प्रमुख सन्त कवि और कवयित्रियाँ थीं। इन्होंने फुटकर अभंगों में आध्यात्मिक एवं भक्ति-रसभीनी रचना कर जन-समाज को अपनी ओर आकर्षित किया। जहाँ महानुभाव पन्थ के साहित्यिकों की टीकाएँ और रचनाएँ अल्पसंख्यक विद्वानों के लिए थीं वहाँ वारकरी संप्रदाय के संत कवियों की टीकाएँ और अभंग-रचनाएँ बहुसंख्यक व्यक्तियों के लिए हुईं। वारकरी संप्रदाय के संत कवियों ने अपने जातीय व्यवसाय से संबंध रखने-वाले समुचित रूपक, उपमाएँ, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत इत्यादि अलंकारों की योजना कर अपना स्फुट काव्य बहुत लोकप्रिय बनाया। इन अभंगों में ब्रह्मानुभूति, रहस्यवाद, निर्गुण-सगुण, मधुराभक्ति इत्यादि सब धाराओं का सामंजस्य है जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। इसके अतिरिक्त कई संतों ने अपनी टूटी-फूटी हिंदी भाषा में अभंग और पदों की रचना कर अपनी लोकमंगल-भावना का अच्छा परिचय दिया। संक्षेप में इस काल-खंड में महानुभाव-पंथ के व्युत्पन्न तथा प्रतिभाशाली कवियों ने मराठी शारदा पर कौशलयुक्त अलंकारों का साज चढ़ाया तो वारकरी संप्रदाय के संत कवियों ने भक्तिरस का आकंठ पान कराकर उसे अमर बनाया।

द्वितीय कालखंड (१३५० से १६५०):—इस काल-विभाग के प्रमुख कवि हैं संत एकनाथ, दासोपंत, शिवकल्याण, कृष्णदास मुद्गल, फादर स्टीफन्स, मुक्तेश्वर और संत तुकाराम। यह वारकरी संप्रदाय और उसके साहित्य के उत्कर्ष का काल है। इस संप्रदाय के चार प्रमुख संतों में संत ज्ञानेश्वर और संत नामदेव का पहले खंड में आविर्भाव हुआ

तथा संत एकनाथ और संत तुकाराम का इस खंड में हुआ। सचमुच संत एकनाथ युगप्रवर्तक कवि थे। आपने भक्तिकाव्य की धारा को कालानुकूल मोड़ देकर मराठी साहित्य का महा उपकार किया जिसका विवरण आगे दिया गया है। आपने भक्ति में (ज्ञानेश्वर के बाद) विद्वत्ता और विदग्धता का योग किया और भक्तिकाव्य को अत्यधिक समृद्ध करके उसे मनोरंजक और लोकसुलभ बनाया। प्रथम खंड में भक्ति-साहित्य अधिकतर विषयीनिष्ठ अर्थात् आत्मनिष्ठ था। उक्त विषयीनिष्ठता का पूरा उत्कर्ष संत तुकाराम के भक्तिरसभीने अभंगों में दिखाई देता है। पर संत एकनाथ ने श्रीमद्भागवत पर विस्तृत एवं सरस भाष्य लिखकर विषयनिष्ठ और व्यासंगप्रधान ग्रन्थरचना का श्रीगणेश किया जिसका अनुकरण दासोपंत और अन्य कवियों ने किया। संत ज्ञानेश्वर का बालयोगी और अल्पायु होने के कारण और संत नामदेव का विरक्त गृहस्थाश्रमी होने के कारण गृहस्थी या लौकिक जीवन से बहुत कम संबंध रहा। किन्तु संत एकनाथ का आदर्श गृहस्थाश्रमी होने के कारण और संत तुकाराम का प्रारंभ में जी-जान से गृहस्थी सँभालने के कारण लौकिक जीवन से अधिक निकट संबंध रहा। अतः ये दोनों (संत एकनाथ व संत तुकाराम) पहले दोनों की अपेक्षा लोक-व्यवहार और आचार में अधिक निपुण थे। इसलिए संत एकनाथ ने आध्यात्मिक मानवतावाद का अपने आचार द्वारा प्रचार कर वारकरी संप्रदाय को अति लोकप्रिय बनाया। इस कार्य में संत तुकाराम ने भी खूब हाथ बटाया। अतः द्वितीय कालखंड के संतकाव्य में अधिक वास्तविकता है। जहाँ प्रथम खंड में भावना और कल्पना की प्रमुखता रही वहाँ इस खंड में विचार और आचार का प्राधान्य रहा। सचमुच संत तुकाराम की अभंग-रचना, अभंग-काव्य-मंदिर का चमकीला स्वर्णशिखर है। यद्यपि उसकी फुटकर रचना में संत ज्ञानेश्वर का पद-लालित्य, संत नामदेव की भाव-कोमलता और संत एकनाथ की गंभीरता नहीं दिखाई देती तथापि लोकोद्धार की तड़पन से वह इतनी ओतप्रोत है कि उसकी रसभीनता पाठक या श्रोता के हृदय को तत्क्षण रसविभोर कर देती है। आत्मानुभव से उत्स्फूर्त उद्‌गारों की तेजस्विता से और भावनानुकूल शब्दरचना से संत तुकाराम के अभंग भरे हुए हैं।

संत एकनाथ ने अध्यात्मप्रधान एवं भक्तिपरक रुक्मिणी स्वयंवर नामक प्रबंधकाव्य में शांतरस के साथ ही साथ शृङ्गार, वीर, करुण और हास्य इत्यादि रसों का सफल निर्वाह किया, जिसका सफल अनुकरण उनके नाती कवीश्वर मुक्तेश्वर ने अपने भारत महाकाव्य में किया। वैसे ही भावार्थरामायण की विशाल एवम् अध्यात्मप्रधान रचना कर संत एकनाथ ने मराठी कवियों की दृष्टि इस आर्षकाव्य की ओर मोड़ दी और

रामकाव्य का श्रीगणेश किया। भविष्य में मराठी साहित्य रामायण एवं महाभारतपरक रचनाओं से खूब समृद्ध हुआ जिसका विवरण आप आगे पढ़ेंगे। इस कालखंड में एकनाथ, दासोपंत और शिवकल्याणी जैसे भाष्यकारों ने भावार्थ की अपेक्षा यथार्थ पर अधिक जोर देकर अपनी पैनी एवं व्युत्पन्न मति का अच्छा परिचय दिया।

इस कालखंड में श्री दत्त संप्रदाय की स्थापना हुई और उसके कई कवियों ने मराठी की काव्यसपंदा समृद्ध की। श्री दत्त संप्रदाय श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का कट्टर समर्थक था अतः उदार एवं मानवतावादी वारकरी संप्रदाय के समान वह लोकप्रिय नहीं बन सका जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उसके साहित्य का प्रचारक्षेत्र बहुत संकीर्ण रहा। अब महानुभाव पंथ पंजाब में फैला पर महाराष्ट्र से उसका प्रभाव जाता रहा। तो भी इस पंथ के कई विद्वान् ग्रंथकारों ने अपनी मौलिक कृतियों से मराठी साहित्य संपन्न किया।

ईसाई और मुसलमान कवि :—फादर स्टीफन्स ने ख्रिस्तपुराण की रसभीनी रचना कर एक मौलिक कृति का साज मराठी कविता देवी पर चढ़ाया। मराठी के आख्यान-काव्यों में ख्रिस्तपुराण भी अपना स्थान रखता है। इसी प्रकार शेख महम्मद, मुतोजी वजीर उल्मुक और हुसेन अंबर नामक मुसलमान कवियों ने वारकरी संप्रदाय में सम्मिलित होकर सरस अभंग, पद और भाष्य-ग्रंथों की सृष्टि की। मुतोजी वजीर ने 'संगीत-मकरंद' नामक मौलिक किताब लिखी। यह मराठी का संगीत विधा पर पहला पद्यग्रन्थ है। लगभग दस-बीस मुसलमान कवि वारकरी बनकर काव्यरचना में मग्न थे जिससे उक्त संप्रदाय की लोकप्रियता स्पष्ट होती है।

सन् १३२५ में महाराष्ट्र में मुसलमानों का निरंकुश शासन प्रस्थापित हो गया और उर्दू-फारसी शासन की भाषाएँ बनीं। उनका जहाँ-तहाँ बोलबाला था। इसका विपरीत प्रभाव मराठी पर हुआ। उर्दू-फारसी के कई शब्द मराठी में घुस आए। व्यावहारिक भाषा में उनकी अधिकता रही जिससे मराठी के गद्य-साहित्य में विकृति दृग्गोचर होती है पर काव्य की भाषा प्रायः पहले जैसी ही शुद्ध रही।

तृतीय कालखंड (१६५० से १८१८):—इस खंड के प्रमुख कवि समर्थ रामदास, वामन पंडित, सामराज, आनंदतनय, रघुनाथ पंडित, मोरोपंत, निलोबाराय, श्रीधर, महिपति, मध्वमुनि, अमृतराय, देवनाथ और दयालनाथ हैं। श्रीसमर्थ रामदास ने 'दासबोध' ग्रंथ में आध्यात्मिक विचारों एवं व्यावहारिक नीति का प्रभावशाली तथा लोकसुलभ विवेचन कर लोकमंगलकारी साहित्य का आदर्श उपस्थित किया। आपने

नया दास-संप्रदाय स्थापित कर धर्मोद्धार का देशव्यापक आंदोलन चलाया। आपने तथा आपके शिष्यों ने प्रचुर रचना कर मराठी साहित्य की खूब वृद्धि की। उद्भट विद्वान् कवि वामन पंडित आपके समकालीन थे। इन्होंने भगवद्गीता पर यथार्थ-दीपिका नामक उत्कृष्ट टीका रचकर पंडितों की टीका शैली का उत्कर्ष किया। आप बहुमुखी प्रतिभा के कवि थे। श्लोकों की रचना में आप किसी को सानी नहीं रखते थे। आप सरस अनुवादक और निपुण आख्यान-कवि थे। आपने कृष्णभक्तिपरक कई फुटकर काव्यों में मधुराभक्ति की धारा पुष्ट की जिसका निवेदन आगे किया गया है। वैसे ही श्रीरघुनाथ पंडित ने 'नलदमयंती-स्वयंवर' नामक प्रबंधकाव्य में प्रबंधकाव्य-कौशल का उत्कर्ष किया। कई प्रबंधकाव्यों की सरस रचना होना इस खंड की विशिष्टता है। सन् १६७४ में श्रीशिवाजी महाराज ने स्वराज्य की स्थापना कर मराठी भाषा की शुद्धि और वृद्धि के लिए एक शासकीय समिति स्थापित की थी, जिसके सभापति रघुनाथ पंडित थे। दुर्भाग्य से श्रीशिवाजी अल्पायु ठहरे और उक्त समिति उल्लेखनीय कार्य न कर सकी, तो भी स्वतंत्रता की अनुकूल परिस्थिति में मराठी साहित्य की रचना को नया प्रोत्साहन मिला। कई पंडित कवियों को सूबेदार और सरदारों का आश्रय प्राप्त हुआ और संस्कृत के महाकाव्यों की शैली के अनुसार मराठी में कलायुक्त प्रबंध-काव्य रचे गये। संत तुकाराम के पश्चात् उनके शिष्य संत निलोबाराय ने अभंगकाव्य-धारा को खूब पुष्ट किया। वैसे ही संत महिपति ने संतों के सुरस चरित्रों का प्रणयन कर भक्तिधारा का विस्तार किया। महाकवि मोरोपंत पराड़कर ने आर्यावृत्त में 'भारत' की बृहत् रचना कर भारतकाव्य रचना का अत्यधिक उत्कर्ष किया। इसी प्रकार आपने रामायण की १०८ रूपों में चमत्कृतियुक्त रचना कर अपनी प्रतिभा एवं परिश्रम का अनूठा परिचय दिया जो संसार के साहित्य में अपना सानी नहीं रखता। इस खंड में मध्वमुनि, अमृतराय, शिवदीन केसरी देवनाथ, दयालनाथ जैसे सफल पदरचयिता भी हुए। इनके पद नादमधुर और भक्तिरसभीने हैं जिन्हें कीर्तन में सुनते ही श्रोता आनंदविभोर हो जाते हैं। आनंद संप्रदाय नामक एक नया भक्ति-संप्रदाय स्थापित हुआ। इसकी कोई नई प्रणाली नहीं थी। पर इसने तीन व्युत्पन्न और पहुँचे हुए कवियों की देन मराठी को दी। उनमें श्रीकृष्णदयार्णव ने भागवत के दशम स्कंध पर 'हरिवरदा' नामक ४२००० ओवियों की उत्कृष्ट टीका रची। दूसरे कवि श्रीधर स्वामी ने रामायण, महाभारत और भागवत ग्रन्थों के आख्यानों पर मराठी में आबाल सुबोध और अतीव सरल आख्यान-काव्यग्रन्थों का प्रणयन कर मराठी का पुराण साहित्य खूब समृद्ध किया। संत महिपति

ने संतों की सरस और विस्तृत जीवनियाँ लिखीं और भक्तिधारा को जनसाधारण में पहुँचाया। श्रीधर ने सुरस एवं प्रभावशाली चरित्र लिखकर देवों का यशोगान किया तो महिपति ने संतों का यशोगान किया। भक्तिकाव्य के अतिरिक्त इस काल विभाग में बखरों के रूप में लौकिक गद्य-साहित्य का भी खूब विकास हुआ। वैसे ही वीररसयुक्त पवाड़े और शृङ्गार-रस-भीनी लावणी काव्य ने भी अपना विशिष्ट प्रभाव जन-मन पर जमाया। कई पौराणिक नाटकों की रचना भी इस समय हुई। तृतीय कालखंड में साहित्य के विविध रूपों का उत्कर्ष तो हुआ पर साहित्य-सर्जना का मुख्य अभिप्राय और जीवन विषयक दृष्टिकोण वही रहा। इस प्रकार सन् ११८८ में प्रवाहित हुई भक्तिकाव्य-धारा उत्तरोत्तर प्रबल होती गई।

भक्तिपंथों की समावेशक मान्यताएँ एवं विशिष्टताएँ

१. विधायिका भक्तिः—मराठी के भक्ति-साहित्य का अंतरंग जानने के लिये संत कवियों ने जिस व्यापक तत्त्व प्रणाली से प्रेरित एवं प्रभावित होकर काव्य सृष्टि की उस प्रणाली का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। महाराष्ट्र में नाथपंथ (जो वारकरी पंथ में विलीन हुआ), महानुभावपंथ, वारकरी या भागवत संप्रदाय, दत्त संप्रदाय और रामदास संप्रदाय इन पाँचों ने जनमानस पर थोड़ा-बहुत प्रभाव डाला और साहित्य की समृद्धि की। इन पंथों के तत्त्वज्ञान का पृथक् पृथक् एवं विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में है। यहाँ उनमें जो साधारण और समन्वयकारी मान्यताएँ हैं उनका ही उल्लेख किया गया है। यह सूर्यप्रकाश जैसा स्वयं सिद्ध है कि इनमें सर्वाधिक लोकमान्यता वारकरी पंथ का ही रही है और उसने कतिपय दृष्टियों से अन्य पंथों को प्रभावित भी किया। अतः उसका प्रधानता से व बार-बार निर्देश मिलना स्वाभाविक है। पहली बात ध्यान में यह रखनी चाहिए कि महाराष्ट्र में कई अन्य-भाषाभाषिक प्रदेशों के समान भक्ति जीवन के विधायक तत्त्व के तौर पर स्वीकार की गई थी न कि पलायन वृत्ति के तौर पर। ऐतिहासिक तथ्यों से सिद्ध किया गया कि मुसलमानों के आक्रमण से कई शताब्दी पूर्व महाराष्ट्र में भक्तिपंथ (जिसका केंद्र पंढरपुर रहा) दृढ़मूल हो गया था। श्रीमुकुंदराज ने अपने विवेकसिंधु और परमामृत ग्रंथ में, जिनमें भक्तिमार्ग का समर्थन है, मुसलमानों के महाराष्ट्र में आने के लगभग सवा सौ वर्ष पहले भक्तिपंथ का दृढ़मूल होना लिखा था। इसी प्रकार महानुभावपंथ की कई भक्तिप्रधान रचनाएँ और संत ज्ञानेश्वर की साहित्य-सृष्टि जो वारकरी संप्रदाय की अत्यंत पूजनीय एवं प्रामाणिक रचनाएँ हैं, उपर्युल्लिखित विधर्मियों के प्रवेश के पहले ही निर्मित हो चुकी थीं। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध

नहीं है कि महाराष्ट्र में जनसाधारण पीड़ित एवं त्रस्त थे, भले ही राज्यशासन स्वधर्मीय रहा हो। कहने का अभिप्राय यह है कि वास्तविक जीवन की विभीषिका से भयाक्रांत होकर पलायनवाद को स्वीकार करने के लिए लोगों ने भक्ति का सहारा नहीं लिया था प्रत्युत जीवन को अधिक समृद्ध और सफल करने के हेतु ही भक्तितत्त्व को ग्रहण किया था। भक्ति प्रतिक्रियावादी (Reactionary) होने की अपेक्षा विधायिका (Cunstructive) थी जो मानव को अपना चरमसाध्य, ईश्वर का साक्षात्कार या आत्मज्ञान प्राप्त कराने में प्रबलतम साधन मानी गई थी। संत ज्ञानेश्वर ज्ञानेश्वरी में दृढ़ता से कहते हैं—

ज्ञानी म्हणती स्वसंविति। शैव म्हणती शक्ति।
आम्ही परम भक्ति। आपुलीम्हाणो।

अर्थात् ज्ञानी जिसे आत्मज्ञान कहते हैं, शैव जिसे शक्ति के नाम से पुकारते हैं, उसे ही मैं परम भक्ति कहता हूँ। इसी तरह महानुभाव पंथ ने भी ज्ञानमार्ग की अपेक्षा प्रेम (भक्तिमार्ग) पर ही अधिक बल दिया। सब संतों ने ज्ञानेश्वर का ही अनुकरण कर भक्ति की अधिक महिमा गाई। कई ग्रंथों में विशेषतया ज्ञानेश्वरी (अध्याय ९ से १२), नाथभागवत, श्रीरामदासजी के दासबोध और संतों के अभंगों में भक्तितत्त्व का विशद निरूपण मिलता है। संसार में किसी भी तत्त्व या वस्तु का दुरुपयोग किया जा सकता है। अतः यदि विषम भविष्य में किसी ने भक्ति का सहारा लेकर जीवन से पराङ्मुखता का उपदेश किया हो तो उसके लिए दोषार्ह भक्तितत्त्व नहीं, वे पलायनवादी उपदेशक ही स्वयं हैं।

२. अद्वैत में भक्ति :—सगुण होते हुए भी महाराष्ट्र में सब भक्तिपंथ (महानुभाव पंथ के अतिरिक्त) अद्वैतवादी थे। आद्य शंकराचार्य ने भक्ति के लिए अनुकूल संमति दी थी पर अंतिम अनुभव या साक्षात्कार में भक्ति की अपेक्षा नहीं की थी, प्रत्युत उनकी राय थी कि भक्ति की क्रिया आत्म-साक्षात्कार में रह ही नहीं सकती। संत ज्ञानेश्वर ने अंतिम अवस्था (अद्वैतानुभव) में भी भक्ति रह सकती है ऐसा मत आत्मानुभव के बल पर स्थापित किया। आपका मत है कि अद्वैत में भक्ति है, यह सत्य अनुभव करने का है, न कि वर्णन करने का। आप ज्ञानेश्वरी के सातवें अध्याय में कहते हैं—'जब गुरु की कृपा से उषःकाल हो जाता है, ज्ञानसूर्य की किरणें आकर पड़ने लगती हैं तब दृष्टि के सामने भेदभाव-रहित एकत्व की संपत्ति प्रकट होती है। ऐसी अवस्था में भक्त जिस दिशा में देखता है उस दिशा में उसे केवल मैं (ईश्वर) ही दिखाई पड़ता हूँ। मेरे सिवा उसके लिए कहीं और कुछ भी नहीं होता। जिस प्रकार

जल में डूबे हुए घड़े के अंदर व बाहर सब जगह पानी ही पानी रहता है उसी प्रकार वह मुझमें निमग्न रहता है। परंतु यह अवस्था ऐसी नहीं कि जिसका शब्दों के द्वारा वर्णन किया जा सके। इसी प्रकार 'अमृतानुभव' में भी आपने अद्वैत भक्ति का कई दृष्टान्तों में वर्णन किया। जैसे एक ही चट्टान में गुफा, मंदिर, मूर्ति व भक्तों के आकार खुदवाये जाते हैं वैसे ही अभेदभक्ति का व्यवहार होता है। जैसे आकाश और अवकाश, चीनी और मिठास, रत्न और कान्ति, अग्नि और ज्वाला अभिन्न हैं वैसे विश्व और विश्वात्मक देव को अभिन्न अनुभव कर भक्ति करना अभेद भक्ति का स्पष्ट लक्षण है।' संत एकनाथ ने अभेद भक्तितत्त्व का प्रबल उत्कर्ष किया। वे कहते हैं—'अद्वैतानुभव के बिना खरी भक्ति संभव ही नहीं है। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त के प्रकार हैं पर जो अभेद भाव से ईश्वर की उपासना करते हैं वे ही श्रेष्ठ भक्त हैं। जिनका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, जो सब भूतों (जीवों) में भगवान् को देखते हैं, जिनके मन से द्वन्द्व की भावना मिट जाती है वे ही अद्वैतानन्द के पात्र बनते हैं।' समर्थ रामदास जी 'दासबोध' में लिखते हैं—'स्वयं अपने आपको भक्त कहना और उससे (ईश्वर से) विभक्त रहकर उसकी भक्ति करना एक बहुत ही विलक्षण बात है। भक्त वही है जो विभक्त न हो और विभक्त वही है जो भक्त न हो। इस बात का विचार किए बिना कभी समाधान नहीं हो सकता। ईश्वर तथा भक्त दोनों में अनन्य भाव है। इस वचन का ठीक अभिप्राय केवल अनुभवी लोग ही जानते हैं।' संक्षेप में उत्कट भक्ति और अद्वैत परस्पर पोषक हैं न कि विरोधक।

३. प्रतिमा-पूजा में सामंजस्य एवम् उदारता :—महाराष्ट्र में विशिष्ट प्रतिमा-पूजा की अपेक्षा देवतत्त्व पर अधिक बल था। वारकरी सम्प्रदाय का आराध्य विट्ठल भगवान् कृष्णचन्द्र का अवतार माना गया है। महानुभाव पन्थ यद्यपि कृष्णपन्थ है तो भी दत्तात्रय उसका आराध्य ईश्वर है। दत्तात्रय में ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों का समन्वय है पर महानुभाव उसको कृष्ण के रूप में ही देखते हैं और एकमुख मानते हैं। उधर वारकरी सम्प्रदाय ने विट्ठल का उपासक होते हुए भी अनूठी उदारता का आदर्श प्रस्थापित किया। वारकरी सम्प्रदाय के अनुयायी किसी भी देवता की पूजा निःसकोच मन से कर सकते हैं। उन्हें इस विषय में सम्प्रदाय का कोई कड़ा आदेश नहीं है। अतः संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि प्रमुख सन्तों ने अन्य देवों के स्तुतिपरक कई अभंग, स्तोत्र और पद लिखे। ये सन्त राम और कृष्ण में अभेद का अनुभव करते थे। सन्त एकनाथ ने तो दत्तात्रय व कुल-स्वामिनी दुर्गा देवी की तन मन धन से पूजा की। इसी प्रकार उपर्युक्त संतों ने महेश, गणेश आदि देवों की खूब महिमा गाई।

दत्त संप्रदाय का आराध्य देव तो दत्त ही रहा पर इस सम्प्रदाय के श्रेष्ठ कवि दासोपन्त तथा जनार्दन स्वामी ने कृष्णभक्ति का खूब परिचय दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने भगवद्गीता और भागवत जैसे ग्रंथों के भाष्य भी लिखे और लिखवाये। रामदास संप्रदाय के संस्थापक समर्थ रामदास जी ने रामभक्त होते हुए भी श्री कृष्णचन्द्र तथा विट्ठल पर सरस रचनाएँ की। इसके अलावा आपने भवानी की स्थापना भी दो-तीन गढ़ों में कराई थी। इस प्रकार उक्त भक्तिपंथों ने प्रतिमापूजा में सामंजस्य एवं उदारता का अच्छा परिचय दिया जिससे प्रतिमापूजा का व्यापक प्रचार हुआ।

४. सगुण और निर्गुण में समन्वय :—वारकरी संप्रदाय ने ब्रह्म को अनादि, नित्य, ज्ञानमय, आनंदमय, अव्यक्त, निर्गुण और सर्वव्यापक माना है और ईश्वर को उसका साकार, सगुण किन्तु गौण रूप माना है। जीवों के उद्धार के लिए ईश्वर अवतार धारण करता है, ऐसा इस संप्रदाय का अटल विश्वास है। श्री दत्त और दास सम्प्रदाय की भी यही धारणा है पर महानुभाव सम्प्रदाय का इस विषय में कुछ मतभेद है। महानुभाव पंथ ईश्वर को अनादि, नित्य, अव्यक्त, आनन्दमय, निर्गुण और सर्वव्यापक मानता है किन्तु ब्रह्म को गौण स्थान देता है। महानुभावों का भी दृढ़ विश्वास है कि जीवों के उद्धार के लिए परमेश्वर दृश्यावतार धारण करता है अर्थात् परमेश्वर के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में इनका विश्वास है। संक्षेप में दोनों का निर्गुण और सगुण में समान विश्वास है। इसलिए मराठी के पहले ग्रन्थ 'विवेकसिन्धु' में मुकुन्दराज ने कहा है-

तूं निरगुन निराकारू। निःसंगु निर्विकारू॥
तुझे या स्वरूपाचा पारू। नेणती सर्व ॥

अर्थात् तू निर्गुण, निराकार और निःसंग है अतः तेरे स्वरूप की यथार्थ जानकारी कौन रखता है ? आगे चलकर वे ही प्रपंच में मग्न हुए जनों को उपदेश देते हैं—

चित्त अवलंब ने वीण।
जरी न राहे स्थिरपण॥
तरी सगुण स्वरूप॥
चिंतावे॥ २-९३॥

तेथे हृदयाच्या शेजारी।
षोडशोपचार पूजाकरी॥
उपासावा श्री हरी॥
अनन्य भावे॥ २-९४॥

अर्थात् यदि निर्गुण और निराकार का ध्यान करने में आपका चित्त असमर्थ है तो सगुण स्वरूप का ध्यान कीजिये। हृदय के अनन्य भाव से, श्री हरि की षोडशोपचार पूजा करने से भगवान् का साक्षात्कार आप सहज ही कर सकते हैं। आगे आपने सगुण से निर्गुण (Known से Unknown) की ओर जाने का राजयोग (भक्ति-योग) विशद किया। किन्तु केवल सगुण पूजा करने से सन्तुष्ट न रहने की आप अपने 'परमामृत' नामक दूसरे ग्रन्थ में चेतावनी देते हैं। आप स्पष्ट कहते हैं—

जपतप अनुष्ठानें।
आणि नाना परींची साधनें ॥
मोक्ष न पाविजे आत्मज्ञानें ॥
वांचोनियां सर्वथा ॥ (२-९)

अर्थात् आत्मज्ञान के बिना मोक्षप्राप्ति हो नहीं सकती चाहे आप कितने ही जप, तप और अनुष्ठान कीजिए। मोक्षप्राप्ति का प्रमुख साधन आत्मज्ञान है, उपर्युक्त साधन तो गौण और सहायक हैं। इस प्रकार आद्यकवि मुकुन्दराज ने सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति में सामंजस्य और संतुलन प्रस्थापित कर सन्त ज्ञानेश्वरादि मनीषियों का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

संत ज्ञानेश्वर की राय भी इसी प्रकार की थी। आप एक अभंग में कहते हैं—'हे गोविंद ! मेरी समझ में नहीं आता कि मैं तुझे सगुण कहूँ या निर्गुण। तुझे स्थूल कहूँ या सूक्ष्म। तू तो इन दोनों में व्याप्त है। तुझे दृश्य कहूँ या अदृश्य ? तू तो दृश्य और अदृश्य दोनों है।' ज्ञानेश्वरी में आप भगवान् कृष्ण से कहलाते हैं—'मुझ में और ब्रह्म में अन्तर नहीं है। भक्तों के लिए मुझ जैसे विदेह को देह धारण करना पड़ता है तथा हे अर्जुन, भक्तों के लिए सगुण बनना मेरे मन की ही इच्छा है।' संत ज्ञानेश्वर साधना के प्रकार के विषय में लिखते हैं—

परी उपास्ति ते योग्यते आधीन असे।

परमार्थ की साधना में साधक की योग्यता के अनुसार साधना (भक्ति) का प्रकार अलग अलग होता है। आप दृष्टान्त देते हैं—'देखो, पक्षी तो उड़कर चट फल के पास पहुँच जाता है पर क्या मनुष्य भी उसी प्रकार उड़कर फल तक पहुँच सकता है ? वह तो धीरे-धीरे एक-एक डाल के सहारे फल प्राप्त कर सकता है।' सन्त ज्ञानेश्वर 'साधनानाम् अनेकता' के समर्थक थे। इसीलिए वारकरी सम्प्रदाय में साधना के विषय में पूरी स्वतंत्रता

और सहिष्णुता रही। सन्त ज्ञानेश्वर ने स्वयं ब्रह्मनिष्ठ योगी होते हुए भी निर्गुण उपासना और हठयोग पर अत्यधिक जोर न देकर उनकी कठिनाइयों से लोगों को सचेत किया और सगुण भक्ति का सुलभ मार्ग बताया। आप अभंग में स्पष्ट कहते हैं—

मुक्ति पावावया। करिजे हरि भक्ति ॥
तरिच विरक्ति प्रगटेल।
तेव्हा आत्मज्ञान अनुभव होय।
अविद्यत्व जाय जीवरूप ॥

अर्थात् हरिभक्ति या सगुणोपासना आत्मज्ञान का साधन है। हरिभक्ति से विरक्ति प्रकट होती है और विरक्ति के बल पर आत्मज्ञान का अनुभव सुलभ होता है। आत्मज्ञान होते ही जीव अविद्या से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। आप ज्ञानेश्वरी में कहते हैं कि सहज योग ही भक्ति है—

नेणतीचि हे व्यथा।
जे का भक्ति पंथा वोटंगले ॥ (१२-७५)
आंत सुख वाढे। तेथे सहजचि योगु घडे ॥
नाभ्यासितां ॥ (६-२५३)

अर्थात् जो भक्तिपन्थ का सहारा लेते हैं उन्हें अन्य मार्गों की अपेक्षा बहुत कम कष्ट उठाने पड़ते हैं। जैसे-जैसे अन्तःकरण में भक्ति का सुख बढ़ता है वैसे वैसे भक्तिपन्थ सहज साध्य योग बनता जाता है। उसके लिए विशेष अभ्यास करने की फिर आवश्यकता नहीं रहती। निर्गुण पन्थ के सहजियों के समान सगुण पन्थ में भी सहज भक्त इस तरह होते हैं। इतना होते हुए भी आपने सगुण उपासकों को निर्गुण के प्रति समादर का व्यवहार करने का स्पष्ट उपदेश ही नहीं दिया प्रत्युत उस निर्गुण का साक्षात्कार करने को कहा। आप कहते हैं—

सांडी सांडी। सगुणाची भ्रांती ॥
तूं च निर्गुण। आहासी तत्वमसी ॥

अर्थात तू सगुण की भ्रांति से मुक्त हो। वास्तव में तू ही निर्गुण है। तू ही वह (ब्रह्म) है। इस प्रकार ज्ञानेश्वर ने सगुण और निर्गुण में सुरम्य समन्वय प्रस्थापित किया, उनमें तथाकथित विरोध का परिहार किया और तर्कों द्वारा सिद्ध कर दिया कि सगुण भक्ति से निर्गुण उपासना सुलभ होती है। ज्ञानेश्वर की ही तत्त्व-प्रणाली अन्य

सब वारकरी संतों ने ज्यों की त्यों ग्रहण की थी। इस विषय में समर्थ रामदास के विचार जानने की आवश्यकता है। आप 'दासबोध' में कहते हैं—

सगुणी भजावें निश्चित। निश्चया लागी ॥
सगुणाचेनि आधारे। निर्गुण पाविजे निर्धारे ॥

अर्थात् परमार्थ के विषय में अपने मन में निश्चय उत्पन्न करने के लिये सगुण ईश्वर की भक्ति अवश्य करनी चाहिये। केवल सगुण के आधार से ही निर्गुण की प्राप्ति होती है। समर्थ रामदास भी इस प्रकार सगुण भक्ति से निर्गुण भक्ति की ओर जाने का व्यावहारिक उपदेश जन-साधारण को देते हैं। आप आगे कहते हैं—

देवपद आहे निर्गुण। देवपदीं अनन्यपण ॥
हाचि अर्थ पहितां पूर्ण। समाधान बाणे ॥

देवपद निर्गुण है और उसी देवपद में अनन्य भाव रखना चाहिये। निर्गुण का साक्षात्कार करने से ही अन्तिम समाधान होता है। समर्थ रामदास ने स्वयं सगुण भक्ति के द्वारा प्रभु राम का साक्षात्कार किया था और यही सुलभ साधन वे सब के लिए बताते थे। आपने प्रभु रामचन्द्र और महाबली हनुमान की सैकड़ों मूर्तियाँ स्थापित कर सगुण भक्ति का खूब प्रचार किया पर आपका अन्तिम समाधान निर्गुण के साक्षात्कार में ही निहित था। संत ज्ञानेश्वर सिद्धात्मा थे। उन्हें साधना करने का कष्ट उठाना नहीं पड़ा किन्तु समर्थ रामदास ने साधना के मार्ग में कुछ उठा नहीं रखा। सन्त ज्ञानेश्वर ने लोकसंग्रह के लिए सगुण भक्ति की पर समर्थ रामदास ने सगुण भक्ति के द्वारा आत्मोद्धार किया और वही साधना जन-साधारण को बताई। संक्षेप में जैसे निपुण अध्यापक विद्यार्थियों को ज्ञात से अज्ञात की ओर प्रवृत्त करता है वैसे महाराष्ट्र के संतों ने किया। उनका चरम लक्ष्य निर्गुण ही रहा। इसीलिए महाराष्ट्र में सगुण भक्ति या पूजा में निरतिशय आसक्ति, आडंबर और विलास इत्यादि का प्रवेश नहीं हो सका। सरलता, सादगी और शुद्धता उसकी (सगुण भक्ति की) आत्मा बनी रही।

५. श्रीकृष्ण का उपदेश:—महाराष्ट्र के भक्तिपन्थों की विशिष्टता यह थी कि उनका आधार या स्रोत श्री कृष्णचन्द्र का उपदेश ही रहा न कि उनका लोकविलक्षण चरित्र। वहाँ सब पन्थ 'न देवचरितं चरेत्'—सिद्धान्त के अनुयायी रहे। उपदेशों पर भार देने से पन्थ तत्त्वनिष्ठ होता है, न कि व्यक्तिनिष्ठ भक्तिपरक। ऐसी स्थिति में तत्त्वनिरूपण भावुक या भावविवश चरितकथन और श्रवण की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय होता है। अतः प्राचीन मराठी में श्री भगवद्गीता के लगभग ५० व्याख्या-ग्रन्थ

और अनुवाद हुए। इसी तरह श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध पर १५-२० भाष्य-ग्रन्थों का सरस और सफल प्रणयन हुआ। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण का वीर अर्जुन को दिया उपदेश है तो भागवत के एकादश स्कन्ध में उद्धव को दिया हुआ उपदेश है। पहला प्रवृत्तिप्रधान उपदेश है तो दूसरा निवृत्तिप्रधान। इस प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्ति की धाराओं का संगम मराठी के प्राचीन साहित्य में जहाँ-तहाँ दृग्गोचर होता है। यहाँ गीताविषयक रचनाओं पर एक विहंगम दृष्टि डालना अनुचित नहीं होगा। उपलब्ध जानकारी के आधार पर हम कह सकते हैं कि संतश्रेष्ठ ज्ञानेश्वर ने ही गीता पर सन् १२९० में पहली टीका रची जो 'ज्ञानेश्वरी' नाम से विख्यात है। इसमें ज्ञान भक्ति-प्रधान कर्मयोग का सरस विवेचन है जो कि वारकरी-सम्प्रदाय का पूजनीय ग्रंथ है। महानुभाव-पन्थ में भगवद्गीता के प्रति प्रगाढ़ आदर है। अतः लगभग १५-२० गीता-टीकाएँ उक्त पन्थ के विद्वान् लेखकों ने रचीं, जिनमें पंडित विश्वनाथ बालपूरकर-विरचित 'ज्ञानप्रबोध' (सन् १३३१) और पंडित नृसिंह कृत 'संकेतगीता' (सन् १३३४) प्रसिद्ध हैं। सन्त एकनाथ ने 'गीतासार' नामक रचना की। इसके पश्चात् श्री दासोपन्त देशपांडे (दत्तसम्प्रदाय) ने गीतार्णव और गीतार्थबोधचन्द्रिका नामक भाष्यग्रन्थों की सृष्टि की। गीतार्णव की ओविसंख्या १२५००० है। यह गीता की विशालतम टीका है। इनके ही समकालीन श्री रंगनाथ मोगरेकर ने ११००० ओवियों की गीता-टीका रची। सन् १६५० के लगभग हुसेन अंबर नामक मुसलमान वारकरी ने 'अंबर हुसेनी' गीता-टीका रची। इसी समय मिंगारकरबुवा महानुभाव ने 'गीतार्थबोधिनी' लिखी। महाकवि मुक्तेश्वर ने गीता का ओविबद्ध सरस अनुवाद किया। संत-सिरमौर तुकाराम ने गीता का अभंगों में अनुवाद किया। पंडितश्रेष्ठ वामन कवि ने 'यथार्थदीपिका' नामक २२००० ओवियों का विद्वत्ताप्रचुर भाष्यग्रंथ लिखा। वैसे ही आपने गीता का सरस श्लोकों में अनुवाद किया। महाकवि मोरोपन्त ने गीता का आर्याबद्ध सरस अनुवाद किया। पुराणकार श्रीधर ने भी भगवद्गीता का ओवी छंद में सरल व सरस अनुवाद किया। इसी तरह भागवत पर भी टीकाएँ लिखी गईं जिनमें निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं। महानुभाव पंथ के कवीश्वर भास्कर भट्ट बोरीकर ने सन् १३०८ में एकादश स्कंध पर 'उद्धवगीता' नामक रसभीनी टीका रची जो अपने काव्यगुणों के लिए विख्यात है। वारकरी सम्प्रदाय के संतश्रेष्ठ एकनाथ ने सन् १५७५ में वाराणसी में एकादश स्कंध पर 'भागवत' नामक विशाल एवं शांतरसभीना भाष्यग्रन्थ रचा जो वारकरी सम्प्रदाय की पूजनीय प्रस्थानत्रयी में एक माना जाता है। इसकी ओवी-संख्या २०००० है। इसकी

टक्कर का दूसरा भाष्य एकादशस्कंध पर उपलब्ध नहीं है। कृष्णदयार्णव ने दशम स्कंध पर ४२००० ओवियों की सरस रचना की जिसमें अनेक टीकाओं का सार पढ़ने को मिलता है। श्री शिवराम कवि ने एकादश स्कंध पर भाष्य रचा। महाकवि मोरोपंत ने मंत्र-भागवत की रचना कर मराठी का भागवतविषयक साहित्य समृद्ध किया। आपने समग्र भागवत पर रचना की जो केवल आस्वाद्य है।

६. **भक्तिमय गृहस्थाश्रम:**—महानुभाव पंथ को छोड़कर सब पंथों ने गृहस्थाश्रम में भक्ति को मुख्य स्थान देकर गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा बना रखी। महानुभाव पंथ ने संन्यासपरक भक्ति पर अत्यधिक जोर दिया जिससे उसकी लोकप्रियता जाती रही। संत ज्ञानेश्वर स्वयं सिद्ध संन्यासी थे पर उन्होंने प्रपञ्च करते हुए परमार्थ की साधना करने का सरल, सुलभ उपदेश दिया। आप ज्ञानेश्वरी में कहते हैं—

गृहस्थाश्रमु न सोडता। कर्मलेखा नोलांडिता॥

गृहस्थाश्रम का त्याग न करते हुये और अपने वर्णोचित कर्म करते हुए भक्ति के बल पर जन्म की सफलता संपादित की जा सकती है। आप आगे कहते हैं—

जयाचे ऐहिक धड नाहीं। तयाचें परत्र पुससी काई॥

अर्थात् जिसमें प्रपञ्च सफल करने की क्षमता नहीं उसके लिए परमार्थ की बात करना व्यर्थ है। संत एकनाथ ने तो अपने आदर्श उदाहरण द्वारा प्रपंच को परमार्थमय करने का उपदेश दिया। आप कहते हैं—

प्रपञ्च परमार्थ एक रूप होत। आहे ज्याचा हेत रामनामीं॥
परमार्थे साधे सहज संसार। येथे येरझार नाहीं जना॥
सहज संसारे घडे परमार्थ। लौकिक विपरीत अपवाद॥
एका जनार्दनी नाहीं तया भीड। लौकिकाची चाड कोण पुसे॥

अर्थात् जो रामनाम में विश्वास करता है उसका प्रपञ्च तथा परमार्थ एकरूप होता है। परमार्थ करते हुए सहज में संसार (प्रपंच) सिद्ध होता है। संसार में रहते हुए सहज में परमार्थ भी संपादित किया जा सकता है, बशर्ते मुँह में रामनाम रहे। ऐसी स्थिति में पुनः जन्म लेने की आपदा टल सकती है अर्थात् मोक्षप्राप्ति हो सकती है। इसीलिए प्रायः सब वारकरी संत गृहस्थ रहे। इसको ही कहते हैं निःसंग प्रपंच अर्थात् परमेश्वरार्पण बुद्धि से प्रपंच करना। संत एकनाथ इसे सहज संसार कहते हैं जैसा कि संत-साहित्य में सहज समाधि है। इस विषय में समर्थ रामदास के विचार भी मननीय हैं। आप भी आजन्म ब्रह्मचारी रहे पर आपने दीर्घकाल तक भ्रमण, अध्ययन और विचारमंथन कर मानव

के जीवन का मर्म समझ लिया था। अनुभवहीन युवावस्था में आपने गृहस्थाश्रम की कड़ी आलोचना की और साफ कहा कि परमार्थ और प्रपंच में अहि-नकुलवत् वैर है। पर भविष्य में पक्व विचार और अनुभव के आधार पर आपने 'दासबोध' में कहा—

आधी प्रपञ्च करावा नेटका। मग परमार्थ घ्यावा विवेका॥

पहले भली-भाँति दक्षता से प्रपंच करना चाहिये तत्पश्चात् विवेक प्राप्त करके प्रपंच त्याग कर परमार्थ में लग जाना चाहिये। दूसरे स्थल में आप स्पष्ट उपदेश करते हैं—

प्रपञ्च सुखे करावा। परी कांही परमार्थ वाढवावा॥
सुखे संसार करावा। परलोक ही साधावा॥
काल सार्थक करावा। जन्म धन्य होतसे॥

अर्थात् सुख में प्रपञ्च तो करना ही चाहिए पर साथ ही साथ परमार्थ भी संपादित करते रहना चाहिये। इस तरह बर्ताव करने से काल सार्थक और जन्म धन्य हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जन्म-साफल्य के लिए प्रपंच त्यागने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में संयमयुक्त, कर्त्तव्यपरायण और भक्तिनिष्ठ प्रपंच मोक्ष की साधना में सहायक है, बाधक नहीं।

७. **लोकसंग्रह**:—सब भक्तिपंथों में व्यक्तिनिष्ठ साधना के साथ ही साथ लोकसंग्रह पर भी बल दिखाई देता है। गीता के **'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि'** वचन पर संत ज्ञानेश्वर ने बड़ा मार्मिक विवेचन किया। वे कहते हैं—देखो, जो लोग ब्रह्म-सारूप्य को प्राप्त कर धन्य हुए हैं और जो पूर्णरूप से निष्काम हो गए हैं वे ही दूसरे लोगों को भी उचित मार्ग पर लगाते हैं और इस प्रकार उस ज्ञानोत्तर काल में भी उन्हें कर्म करना पड़ता है। आगे आप कहते हैं—

म्हणोनि समर्थ जो एथे। आथिला सर्वज्ञते॥
तेणे विशेषे कर्माते त्यजावेना।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि जिन सामर्थ्यवान् पुरुषों ने इस संसार में पूर्ण रूप से सर्वज्ञता प्राप्त कर ली है उन्हें भी कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। पुनः आप कहते हैं—

मार्गाधारे वर्तावे। विश्व हे मोहरे लावावे॥
अलौकिक नोहावे लोकांप्रति।

सिद्ध पुरुष को विहित मार्ग से आचरण कर सबको अच्छे रास्ते पर लगाना चाहिए। और जन-साधारण पर यह प्रकट नहीं होने देना चाहिए कि हम समाज से अलग या अलौकिक हैं। आप अति स्पष्टता से सचेत करते हैं कि 'संसार की प्रथा ही यह है कि

बड़े लोग जो कुछ करते हैं, लोक में उसी का नाम धर्म पड़ जाता है और साधारण जन उसी का अनुकरण करते हैं। इसलिये जो संत कहलाते हों उन्हें तो स्वकर्म का अनुष्ठान कदापि न छोड़ना चाहिए।' इस प्रकार संत ज्ञानेश्वर की यह राय थी कि आत्मज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् या ईश्वर का साक्षात्कार होने के बाद आत्मज्ञानी या संत को लोकसंग्रह की दृष्टि से कर्म करना चाहिए। अन्य संतों ने इस तत्त्व का समर्थन ही नहीं किया प्रत्युत उसके अनुसार आचरण कर जन साधारण के लिए कर्मयोगी का आदर्श उपस्थित किया। दास संप्रदाय के संस्थापक समर्थ रामदास तो आजन्म कर्म करते ही रहे। स्वयं सिद्ध है कि लोक संग्रह के लिए ही आपने अपने संप्रदाय का संघटन किया था। लोकसंग्रह का उदात्त ध्येय होने के कारण ही महाराष्ट्र के भक्ति पंथों में व्यक्तिगत विलक्षणता और समाज-विमुखता नहीं घुसने पाई। सर्वजन-स्वीकृत नीति मर्यादाओं के किनारों में भक्ति-गंगा बहती रही। आत्मज्ञानी संतों की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ रहस्यपूर्ण रहीं जिसका विवेचन आगे मिलेगा ही। कहीं-कहीं उनकी वाणी में अटपटापन भी रहा पर भक्तिपंथ सरल और सदाचार से मर्यादित ही रहा। इस प्रकार आत्मोद्धार या आत्म साक्षात्कार के साथ ही साथ लोकोद्धार करना भी भक्तिपंथों का ध्येय हो गया और इसीलिये भक्ति का व्यापक प्रसार हुआ।

८. **भक्तियोग में मानवता एवं समता**—संतों ने भक्ति की उदार एवं मानवता-निष्ठ व्याख्या की जिससे पहले के व्यक्तिनिष्ठ भक्तिवादी आग-बबूला हो गये। संत ज्ञानेश्वर कहते हैं—

जें जें भेटे भूत। तें तें मानिजे भगवंत॥
हा भक्तियोग निश्चित। जाण माझा॥

अर्थात् तू जिस-जिस प्राणी से भेंट करता है उसे भगवान् मानता जा। प्रत्येक जीव में भगवान् का साक्षात्कार करना खरा भक्तियोग है। यही मेरी दृढ़ धारणा है। देखिए, भक्ति की व्याप्ति कितनी बढ़ी। यह है भक्ति का मानवतावादी या भूतदयावादी दृष्टिकोण। यह व्याख्या स्वीकार करते ही भक्ति में एक अलौकिक चैतन्य पैदा होता है, एक अनूठी शक्ति निर्मित होती है जो संसार में सुख, शांति, समता, न्याय एवं नीति की प्रस्थापना करने में सहायक होती है। इसे कहते हैं समाजोद्धारक भक्ति। संत नामदेव ने अधिक स्पष्ट कहा है—

सर्वां भूतीं समदृष्टि।
हेचि भक्ति गोड मोठी॥

अर्थात् सब प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखना ही श्रेष्ठ एवं मधुर भक्ति है। संत एकनाथ ने और एक कड़ी जोड़ दी। वे कहते हैं—

> भक्ति म्हणजे सर्वां भूतीं भगवद्‌भाव।
> भगवद्भावो सर्वां भूतीं। हेचि ज्ञान हेचि भक्ति।
> विवेक विरक्ति। याचि नांव॥
> जन तेचि जनार्दन। एका जनार्दनी भजन।
> जन नोहे अवघा हा जनार्दन।
> अवलोकितां जन दिसे जनार्दन।
> साकर दिसे परि गोडी न दिसे, तीकाय वेगली असे।
> तैसा आहे जनीं जनार्दन।

अर्थात् सब प्राणियों के प्रति भगवद्भाव रखना भक्ति है। सब भूतों के प्रति भगवद्भाव रखना ज्ञान और भक्ति है। इसे ही विवेक और वैराग्य कहते हैं। जन ही जनार्दन (परमेश्वर) है अतः उसकी सेवा ही भक्ति है। यह सारा जन जनार्दनमय है। जैसे चीनी दिखाई देती है पर उसकी मिठास दिखाई नहीं देती। पर क्या मिठास चीनी से भिन्न है? ठीक उसी तरह जनार्दन और जन में अभिन्नता है। यह है संतों की सक्रिय या विधायिका अद्वैत भक्ति जिसका आविर्भाव उनके जीवन में हुआ था। संतों के मुकुटमणि तुकाराम अधिक स्पष्टता से कहते हैं—

> भूतीं देवम्हणोनि भेटतो या जना। नाही रे भावना नर नारी॥ १॥
> जाणे भाव पांडुरंग अंतरीचा। म लगे द्यावा साचा परिहार॥ २॥
> दयेसाठी केला उपाधिपसारा। जडजीवा ताराया नाव कथा॥ ३॥

अर्थात् जनों से भेंट करते समय मुझे ऐसा लगता है कि मैं भगवान् के दर्शन कर रहा हूँ। 'यह नर है, वह नारी है' यह भावना मुझे स्पर्श भी नहीं करती। मेरे हृदय का भाव भगवान् ही जानता है। इसके लिए मैं अन्य प्रमाण नहीं देना चाहता। जड़ जीवों के प्रति मेरी जाग्रत दया होने के कारण उनका भवसागर से उद्धार करने के लिए मैंने हरिकथारूपी नाव बनाई है। आप दूसरी जगह कहते हैं—

भूतांची दया हें भांडवल सन्ता

सन्तों की पूँजी भूतों के प्रति दया है। इस प्रकार इनकी भक्ति भूतदया थी। अब समर्थ रामदास जी की सम्मति पढ़िए—

पृथ्वीमधें जितुकी शरीरें। तितुकी भगवन्ताची घरें
जगद्दान्तरी अनुसन्धान। बरें पाहणे हेचिं ध्यान।
ध्यान अणि तें ज्ञान एकरूप ॥

अर्थात् पृथ्वी पर जितने शरीर हैं वे सब उसी भगवान् के घर हैं। संसार के लोगों के अन्तःकरण में छिपे हुए भगवान् का भलीभांति अनुसन्धान करना और उसे देखना ही ध्यान है। ध्यान तथा ज्ञान दोनों एक ही वस्तुएँ हैं। आप कहते हैं कि सत्पुरुष की इच्छा सबको सुखी करने की ही होती है **(अवघेचि सुखी असावे। ऐसी वासना)**। समर्थ ने भी देव के ध्यान की व्यापक व्याख्या कर वारकरी सन्तों की भूतदया या मानवतावादी भक्ति का एक तरह से समर्थन किया। श्री रामदासजी के उपदेश में जो संकीर्णता और कट्टरता दृग्गोचर होती है उसका विवरण ग्रंथ में है।

मानवतावादी दृष्टि में समता का समावेश अनायास हो जाता है क्योंकि समता को स्वीकार किये बिना मानवता का व्यवहार हो नहीं सकता। समता के दो अंग हैं। पहला है व्यावहारिक और दूसरा आध्यात्मिक या मानसिक। वैदिक या हिंदू समाज वर्ण और जातियों की विषमतापूर्ण नींव पर खड़ा है। इस प्रत्यक्ष विषमता पर महानुभाव पंथ ने प्रहार तो किया किन्तु क्रांतिकारी सामाजिक सुधारों की ओर अधिकांश हिंदू समाज को आकर्षित करने में वह असफल रहा। वारकरी पन्थ ने सौम्य सुधार करने की शैली अपनाई। उसने भक्ति के क्षेत्र में ही समता प्रस्थापित करने पर जोर दिया और इस स्वीकृत ध्येयमें वह शत-प्रतिशत सफल होकर रहा। उसने डंके की चोटपर कहा कि 'भक्ति के क्षेत्र में वर्ण व जाति के ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है। भक्त की श्रेष्ठता उसके सदाचार पर निर्भर होती है न कि उसकी जाति पर।' वारकरी पन्थ में गुरु के लिए जाति या वर्ण का कोई बन्धन नहीं था। जो आत्मज्ञानी सन्त है, वह नीच जाति में ही क्यों न उत्पन्न हो, ऊँची जातियों का गुरु बन सकता था। पारमार्थिक एवं तात्त्विक दृष्टि से वार-करी पन्थ का उक्त सिद्धान्त निर्दोष था। यहाँ श्रेष्ठता केवल सदाचार पर निर्भर थी। श्रेष्ठता गुणों पर आधारित थी न कि जाति पर। इससे जनसाधारणमें नैतिक शुद्धता का आचरण करने की वृत्ति बढ़ी जिससे समूचे हिंदू समाज का नैतिक स्तर ऊँचा हुआ। लोगों पर यह प्रकट हुआ कि जाति-बन्धन को लांघकर आध्यात्मिक उन्नति करना प्रत्येक स्त्री-पुरुष के अधीन है। इस प्रकार 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' के पारम्परिक सिद्धान्त को वारकरी पन्थ ने अपने मृदु आचरण से खटाई में डालकर आध्यात्मिक श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए सबका समानता से आवाहन किया। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि सन्तिन बहिणा बाई और

रा मेश्वर भट्ट जैसे ब्राह्मणों ने जाति के कुनबी संत तुकाराम को गुरु के रूप में स्वयं स्वीकार किया। भक्ति के साथ ही साथ धर्म-जागृति और समाज-सुधार करने के कारण वारकरी सम्प्रदाय की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि वह महाराष्ट्र का प्रतिनिधि संप्रदाय बन गया। इस पन्थ ने समाज की संस्थिति के लिए आवश्यक जीवनमूल्यों की रक्षा कर उनकी संवर्धना करने का उत्साहवर्धक उपदेश दिया। उक्त अध्यात्मनिष्ठ मानवता के आचार का अपेक्षित प्रभाव महाराष्ट्र में दृग्गोचर हुआ और समूचे हिन्दू समाज में नव चैतन्य का बिजली जैसा संचार हुआ।

समन्वयात्मक सार :—ऊपर निर्दिष्ट विशेषताओं के अतिरिक्त भक्तिपन्थों के आचार-विचारों में ये समानताएँ हैं :—

(१) सद्गुरु की परमावश्यकता।

(२) नाम-स्मरण का आग्रह।

(३) देव, भक्त और नाम के त्रिवेणी संगम रूप कीर्तन को समाजोद्धारक साधन मानना।

(४) शुद्ध आचरण की परमावश्यकता।

(५) बाह्याडंबर की व्यर्थता।

सन्त नामदेव और सन्त तुकाराम ने तो भक्ति को मुक्ति से अधिक श्रेष्ठ ठहराकर भक्ति के लिए ही भक्ति करने का उपदेश दिया तथा ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना की— 'भगवन्! अपनी सगुण भक्ति करने के लिए ही हमें पुनर्जन्म दे।'

महाराष्ट्र के पाँच प्रतिनिधि सन्तों के परमार्थ-मार्गों का संक्षेप में यही वर्णन हो सकता है। संत ज्ञानेश्वर का परमार्थ-मार्ग अधिकतर बुद्धिनिष्ठ था। इसे बुद्धिनिष्ठ साक्षात्कार का पन्थ कहते हैं। सन्त नामदेव और सन्त तुकाराम का परमार्थ मार्ग पूर्णतया भावनिष्ठ था जिसे भावनिष्ठ साक्षात्कार कहा जाता है। सन्त एकनाथ ने बुद्धि और भाव में सन्तुलन स्थापित कर प्रपञ्च और परमार्थ का स्वर्ण समन्वय किया जिसे समन्वय-युक्त साक्षात्कार कहते हैं। समर्थ रामदासजी ने कर्म पर अधिक बल दिया अतः उनके मार्ग को कर्मप्रधान साक्षात्कार कहते हैं। ऊँचे भक्त होने के कारण ये पाँचों सन्तरत्न भक्ति के सूत्र में पिरोये गये थे।

१. अंतरंग-दर्शन :—मराठी के भक्तिकाव्य का अध्ययन करने पर सहज ही मालूम हो जाता है कि इसकी रचना का प्रधान हेतु स्वान्तःसुख के साथ ही साथ परोपकार भी था। उसमें लोकमंगल पर ही अधिक बल दृग्गोचर होता है। यहाँ स्वान्तःसुख के

विषय में अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि संसार के सभी संतों ने आत्मानुभूति या स्वरूप साक्षात्कार के अलौकिक आनंद का रसभीना एवं रहस्यमय वर्णन प्रचुरता से किया है। ऐसे आत्मानुभवनिष्ठ काव्य की रचना महाराष्ट्र के संतों ने भी की जिसके विषय में हम आगे लिखेंगे ही, पर उनमें लोकमंगल या परोपकार की जागृत भावना कैसी थी, यहाँ संक्षेप में निवेदन किया जाता है। आद्यकवि मुकुंदराज अपने 'विवेकसिंधु' के प्रारम्भ में लिखते हैं—

तुझेयानि स्वरूपानुभवे। मियां का निवांतु नसावे॥
परि परोपकारार्थ बोलावे। हे तुझीच इच्छा॥

अर्थात् हे परमेश्वर! तेरे स्वरूप का अनुभव करने के पश्चात् यद्यपि मुझे मौन रहना चाहिए पर तेरी इच्छा से अब मैं परोपकारार्थ ग्रंथरचना करता हूँ। संत ज्ञानेश्वर अपनी अनूठी टीका ज्ञानेश्वरी में कहते हैं—'हे श्रोतागण! आप लोग केवल एकाग्र मन से मेरा प्रवचन सुनें। मेरा बिलकुल स्पष्ट प्रतिज्ञा-वचन है कि बस इतने से ही आप लोगों को सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति हो जायगी। मेरी वक्तृता से आप लोगों की सोई हुई कृपालुता जाग उठी है। मुझ जैसे दुर्बल ने देशी भाषा में गीतार्थ लाने का जो यह साहस किया है उसमें हेतु केवल यही है कि मैं इस ढिठाई से ही आप जैसे लोगों का प्रेमपात्र बनूँ।' अन्त में ज्ञानेश्वर कहते हैं—'सज्जनो! आपके आचार-विचार के अनुसार ही मैंने व्याख्या की है। मेरी ये बातें अटपटी नहीं हैं। अब मैं और क्या कहूँ? इस ग्रन्थ-रचना से मेरा जन्म सफल हो गया।' इसी प्रकार संत नामदेव भी अपना संकल्प इस प्रकार उद्घोषित करते हैं—

नाचूं कीर्तनाचे रंगी। ज्ञानदीप लावूं जगीं॥

कीर्तन में भक्ति का उपदेश करते हुए आनंदविभोर होकर मैं नाचूँगा और इस प्रकार भक्ति के ज्ञान का दिया जलाऊँगा ताकि पापरूपी अन्धकार नष्ट हो जाय। आप दूसरे अभंग में आत्मविश्वास प्रकट करते हैं—

अवघा संसार करीन सुखाचा। जरी झाला दुःखाचा दुर्धर हा॥
संत समागमे नाचेन रंगणी। तेणे जाईल निघोनी त्रिविध ताप॥

मैं दुःख से भरा हुआ यह सब संसार सुखमय करूँगा। मैं संतों के साथ कीर्तन में अपने उपदेशयुक्त अभंगों का गान करते समय नाचूँगा। उक्त उद्गार से स्पष्ट होता है कि लोगों को भक्ति एवं नीति का उपदेश करने के लिए ही संत नामदेव ने अपने अभंगों की रचना की थी। संत एकनाथ ने एक दीर्घ अभंग में अपने जन्म एवं

साहित्यिक सर्जना का उद्देश्य इस प्रकार स्पष्ट कहा—'जब धर्म की अवनति और अधर्म का उत्कर्ष होता है तब हम जैसे संतों को अवतार लेना पड़ता है। हरि-भक्ति का उपदेश देकर जड़-जीवों का उद्धार करने के लिए ही हम जन्म लेते हैं और साहित्य की सृष्टि करते हैं। वेदों के अनुसार सब कर्म करने एवं ब्रह्मज्ञान संपादित करने का मार्ग दिग्दर्शित करना ही हमारा काम है। लोगों द्वारा हरि-भजन और नाम-स्मरण करा कर हम पाखंड और आडंबरयुक्त भोगमय कर्मठता को समाप्त करते हैं।' संतों के मुकुटमणि तुकारामजी तड़पन के साथ कहते हैं—**बुडते हे जन न पाहवे डोला**। (पाप और भोग में डूबते हुए जनों को हम देख नहीं सकते अतः उनके उद्धार के लिए हम उपदेश देते हैं)। अन्यत्र एक दीर्घ अभंग में अपने जन्म एवं अभंग-रचना का हेतु आप स्पष्ट कहते है—'वैकुंठ में रहनेवाले हम संत इसलिए जन्म लेते हैं कि लोगों को ऋषिप्रणीत धर्म-मार्ग बतावें। हम सज्जनों का मार्ग प्रशस्त करने के लिए और भोग-विलास के अरण्य में भूले-भटके लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए काया, वाचा, मनसा प्रयत्नशील रहते हैं। हम इस संसार में भक्ति का जयघोष करने के लिए ही आते हैं।' आगे आप कहते हैं—

धर्म रक्षावया साठी। करणे आटीं आम्हासी॥
वाचा बोलूं वेदनीति। करूं संतीं केलें तें॥
धर्माचें पाळण। करणें पाखंड खंडण॥
हेचि आम्हा करणे काम। बीज वाढवावें नाम॥

अर्थात् धर्म की रक्षा करने के लिए ही हमें इतने कष्ट उठाने पड़ते हैं। जिस नीति का बोध वेदों ने दिया और जिसके अनुसार संतों ने बर्ताव किया उसी संत-मार्ग का उपदेश हम देते हैं। धर्म की रक्षा करना और पाखंड का खंडन करना हमारा मुख्य ध्येय है। इसी प्रकार हम नामस्मरण का उपदेश देकर भक्ति का पौधा बढ़ाते हैं। संत रामदासजी अपने शिष्यों को आदेश देते हैं—

'आपणासी जें जें ठावे तें तें इतरांसी शिकवावें।
शहाणे करून सोडावे सर्वजन।

अर्थात् जो ज्ञान अपने पास है उसका जनता में प्रचार कर जन-साधारण को सुयोग्य बनाना चाहिए। समर्थ अपने 'दासबोध' ग्रंथ के आरंभ में लिखते हैं—'श्रोता पूछते हैं कि इस ग्रंथ में क्या-क्या बताया गया है और इसे सुनने से क्या लाभ होता है? इसका उत्तर यह है कि इसमें नवधा भक्ति और प्रायः अध्यात्म का निरूपण किया गया है।

इस ग्रंथ का सारांश यह है कि भक्ति की सहायता से मनुष्य अवश्य ही ईश्वर को प्राप्त करता है। अब उसे श्रवण करने का फल सुनिये। इसको श्रवण करते ही तुरंत आचरण बदल जाता है और संशय का समूल नाश हो जाता है। आलसी कर्मण्य हो जाते हैं और पापी पश्चात्ताप करने लगते हैं। संसार के बंधन में पड़े हुए लोग मोक्ष की कामना करने लगते हैं और भक्ति-मार्ग पर चलकर अभक्त भी मोक्ष प्राप्त करते हैं।' उदाहरण-स्वरूप मुख्य संत कवियों के उद्गार ऊपर उद्धृत किये गए। कहने का तात्पर्य यह है कि लोक-मंगल या परोपकार के सदा जागृत भाव ने मराठी भक्ति साहित्य के विषय, विवेचन वा वर्णनशैली, काव्य के रूप और भाषाशैली इत्यादि काव्यांगों पर उद्देश्यानुकूल समुचित प्रभाव डाला जिसका विवेचन ग्रंथ में है।

२. आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति:—स्वानुभूति की अभिव्यक्ति संत-काव्य का व्यवच्छेदक लक्षण है। आत्मानुभूति में आत्म-साक्षात्कार, प्रातिभ श्रवणादर्श (अनहद), स्वरूप-साक्षात्कार आदि का समावेश होता है। मराठी के सन्त कवियों ने परमेश्वर के सगुण-निर्गुण दोनों रूपों का स्वानुभूतियुक्त वर्णन किया है। स्वानुभूतिप्रधान अध्यात्म-शास्त्र में सार्वत्रिकता, दिक्कालातीतता, सातत्य, स्वप्रतीति, अनिर्वचनीयत्व, अबाधित्व और आनन्दमयता अनुभव की कसौटियाँ मानी गई हैं। आध्यात्मिक अनुभव देश, काल, धर्म, जाति इत्यादि से निरपेक्ष होता है। सदा सब देशों में आत्मसाक्षात्कारी महानुभावों के अनुभव प्रायः एक से होते हैं। उपनिषत्कालीन मनीषी, यूरोप में प्लॉटिनस्, एकहार्ट, आगस्टाईन, सेंट टेरेसा, महाराष्ट्र के सन्त ज्ञानेश्वर, सन्त नामदेव इत्यादि उत्तर भारत के सन्त कबीर और अन्य सन्त, संतिन मीराबाई तथा मन्सूर जैसे सूफी सन्त सबके स्वानुभव समान ही प्रतीत होते हैं।

संत ज्ञानेश्वर अपने परमार्थविषयक निर्गुण साक्षात्कार का वर्णन करते समय कहते हैं—'जैसे मैंने रक्त, शुक्ल, नील, पीत, कृष्ण वर्णों का अनिर्वचनीय आलोक देखा वैसे ही शून्य का साक्षात्कार भी किया। जिसका प्रकाश सूर्य-चन्द्र के प्रकाश से भी अत्यधिक प्रखर था उसका मैंने अनुभव किया। अणु रूप से विशाल संसार की उत्पत्ति मैंने देखी। नाद एवं ज्योतियुक्त आत्मा का मैंने साक्षात्कार किया। उदय-अस्त से रहित एवं त्रिगुणातीत अवस्था का मैंने अनुभव किया। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं ही अपना शीशा बनकर अपने को ही देख रहा हूँ। सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं—

अनुभवी तो जाणे। संत तिये खुणे संतोषले॥

अर्थात् जो अनुभवी है वही इस स्थिति से परिचित हो सकता है। इतना मात्र

सत्य है कि मैंने जो लक्षण कहे उनसे स्वानुभवी सन्त सन्तुष्ट हुए। आप दूसरे स्थल में कहते हैं कि 'परब्रह्म का साक्षात्कार करते समय अनहद-नाद सुनकर मैं त्रिभुवन में तन्मय हो गया। मैंने अपने सम्पूर्ण आत्मस्वरूप का साक्षात्कार किया। मेरा 'मैं' व 'तू' का भेद-भाव नष्ट हो गया और 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्यों द्वारा सूचित अद्वैतानुभूति का मैंने साक्षात्कार किया। निर्गुणानन्द का बखान और मैं कैसे करूँ।'

गूंगे का अमृतस्वाद और त्रिपुटीनाश :—सगुण साक्षात्कार की अभिव्यक्ति करते समय आप कहते हैं—'देवों के देव का मैंने दर्शन किया। रुक्मिणी के वर अर्थात विट्ठल का मैंने स्वरूप-साक्षात्कार किया। जिसके भाल पर कोटिचन्द्र प्रकाशमान थे, जो कमलनयन अपने हँसमुख स्वरूप का मुझे दर्शन सुख दे रहा था, वह धीरे धीरे स्फुरित होने लगा और हाथों से मुझे बुलाने लगा। तुरन्त ही वह पाण्डुरंग मुझसे स्निग्धता-पूर्ण बातचीत करने लगा। परमेश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार करने से मुझे अनिर्वच-नीय आनन्द हुआ। ध्येय, ध्याता व ध्यान में अभिन्नता होकर रही। जो व्यक्ति आत्मज्ञान से विमुख है वह इस अद्भुत आनन्द का स्वाद क्या जाने? मुझ जैसे को तो इसका वर्णन करना गूंगे द्वारा अमृत के वर्णन के समान कठिन प्रतीत होता है।' आप कहते हैं—

मुकियाचे परी आनंदु भीतरी।
अमृत जिह्वारी गोड लागे॥

इसी प्रकार संत नामदेव कहते हैं 'मैंने परब्रह्म का साक्षात्कार किया। उस समय मेरी 'सोहं' अवस्था थी और मैं 'अनहद' ध्वनि सुन रहा था। उस स्थिति का यथार्थ वर्णन करना मेरी वाणी के परे है। जैसा स्पष्ट वर्णन बन पड़ा वैसा मैंने किया।' आपने सगुण के दर्शन के अनुभव का बखान कई अभंगों में अति सरसता से किया—'मैंने अपनी आँखों से विट्ठल का दर्शन किया। विट्ठल ने मेरे सिर पर हाथ रखकर कोमल स्वर में कहा—'हे नामदेव! मैं तुझे अपने प्रति प्रेम करने का वरदान देता हूँ क्योंकि तेरा अहंभाव नष्ट हो गया है।' इस तरह मुझे भक्तिसुख प्राप्त हुआ। मैंने विट्ठल से कहा—'ऐ भगवन्! मैं आपके दर्शन से तृप्त हो गया और अब पावन बन गया हूँ।' विट्ठल के चरणकमलों से अपना चित्त हटाना मुझे अशक्य-सा हो गया है। मैं पुनः निवेदन कर बैठा—हे भगवन्! आपके सगुण रूप को नजर न लग जाय क्योंकि इस रूप में आपने मुझे दर्शन दिया। योगी लोगों को भी आपका दर्शन दुर्लभ है पर आपने इस ईंट पर खड़े होकर मेरी दर्शनाभिलाषा का पूरा समाधान किया।' आगे आप कहते हैं—

गूल गोड न लगे म्हणावा। तैसा देव न लगे वानावा॥
सेवी तोचि चवी जाणे। येरा सांगता लाजिरवाणे॥

जैसे गुड की मिठास वर्णन के परे है, वह केवल आस्वाद्य है वैसे ही देव का बखान करना भी है। जो इसका साक्षात्कार करता है वही उसका स्वाद जानता है अतः गैरों से उसका कहना लज्जाप्रद है। संत एकनाथ 'अहं ब्रह्मास्मि' अवस्था का स्वानुभव कथन करते हैं—

मी तो स्वये परब्रह्म। मीचि स्वये आत्माराम॥
मी तो असे निरूपाधि। मज नाही आधिव्याधि॥
मी तो एकट एकला। द्वैत भाव मावलला॥
मजविण नाही कोणी। एका शरण जनार्दनी॥

अर्थात् मैं स्वयं परब्रह्म हूँ। मैं स्वयं आत्माराम हूँ। मैं दैहिक व्याधि मात्र से परे हूँ। मेरा द्वैतभाव नष्ट हो गया और मैं अद्वैतावस्था की अनुभूति कर रहा हूँ। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि यह संसार मुझ से ही ओतप्रोत है। पुनः आप कहते हैं—'मेरे सत्त्व, रज और तम नष्ट हो गये। मुझे सब दिशाओं में—अपने शरीर में भी, प्रखर प्रकाश ही दिखाई देता है। द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि की त्रिपुटी का नामोनिशाँ भी नहीं रहा। मैं घन-गर्जना सुन रहा हूँ। इस उन्मनी दशा का वर्णन मैं कैसे कर सकता हूँ जब कि अन्तर्नाद (अनहद) सुनने में मैं तल्लीन हो गया हूँ।' जैसे आपने आत्मदर्शन का कई अभंगों में वर्णन किया वैसे ही सगुण साक्षात्कार का भी सरस वर्णन कई अभंगों में किया। अब संतश्रेष्ठ तुकारामजी की आत्मानुभूति पढ़िए—'जो अनहद सुनता है वह बाह्योपाधि के परे होता है। उसकी अन्तरात्मा ब्रह्मरस से ओतप्रोत होती है। ब्रह्मानुभूति का अनुभव सुनते ही सब आश्चर्यविभोर हो जाते हैं। सचमुच उस अत्यद्भुत दशा का वर्णन कौन कर सकता है?' अन्य स्थल में आप कहते हैं—'दिन-रात का लोप हो गया और मैं अखंड प्रदीप्त ज्योति का दर्शन कर रहा हूँ। मैं निजरूपानुभव में अनहद श्रवण कर रहा हूँ। मैं कई अलौकिक रंगों का आलोक देख रहा हूँ। मैं शून्य से संसार की सृष्टि होते हुए देख रहा हूँ।' सगुण साक्षात्कार का जितना आह्लाददायक और सुंदर वर्णन संत तुकाराम ने किया उतना अन्य किसी संत कवि ने नहीं किया। इस वर्णन से ओतप्रोत आपके कई अभंग हैं। उदाहरण के लिये एक अभंग उद्धृत किया जाता है—

माझे माथा तुझा हात। तुझे पायीं माझें चित्त॥
ऐसी पडियेली गांठी। शरीर संबंधाची मिठी॥
तुका म्हणे सेवा। माझी कृपा तुझी देवा॥

अर्थात् हे विट्ठल भगवान ! मेरे सिर पर तेरा हाथ और मेरा चित्त तेरे चरणों में है। हम दोनों में ऐसा मधुर संबंध प्रस्थापित हो गया है। विट्ठल ! मेरी आपके चरणों में सेवा है और आपकी मुझ पर कृपा है।' समर्थ रामदासजी ने भी 'प्रभुदर्शन' नामक काव्य में **'प्रभू देखिला दास संतुष्ट झाला'** (प्रभु का दर्शन कर दास (मैं) कृतार्थ हुआ हूँ) ऐसा स्पष्ट शब्दों में कहकर प्रभु का वर्णन किया। इसी तरह आपने आत्मप्रतीति का कथन कर वारकरी संतों के आत्मानुभव का समर्थन किया। समर्थ रामदासजी 'निर्गुण-ध्यान' और 'स्वरूपानुसंधान' नामक अपनी रचनाओं में कहते हैं—'चर्मचक्षु की दृष्टि नष्ट हो जाती है और ज्ञानदृष्टि का उदय होता है। चक्षु अर्धोन्मीलित रहते हैं और साक्षात्कार होना प्रारंभ होता है। रक्त, श्वेत वर्ण के शून्याकार दिखाई देते हैं। जैसे कर्पूर जलकर नष्ट हो जाता है और उसका कुछ भी शेष नहीं रहता वैसे ही देहाध्यास नष्ट हो जाता है, अनहद ध्वनि सुनाई देती है और अनिर्वचनीय आत्मानंद का अनुभव होता है।' उपर्युलिखित उद्गारों से स्पष्ट होता है कि संत अपनी स्वानुभूति की अस्फुट अभिव्यक्ति ही कर सकते हैं न कि यथार्थ, पर उनके ब्रह्मानुभवों में सादृश्य अवश्य दिखाई देता है, जैसा कि हमने पहले कहा। सन्त अपने अनुभवों को प्रकट करने के लिए अन्वर्थक शब्दों का प्रयोग करना चाहते हैं पर स्वानुभूति का स्वरूप ही इतना अतर्क्य और गूढ है कि उसके वर्णन करने का शब्दों में सामर्थ्य नहीं है। इसीलिए सन्तवाणी को रहस्यवाणी कहते हैं।

उलटबासियाँ:—अपने गूढ भावों को व्यक्त करने के लिए सन्त कभी-कभी अनाकलनीय, दुर्बोध और प्राकृतिक नियमों के सर्वथा विपरीत प्रतीकों की रचना कर पाठकों को दिङ्मूढ़ कर देते हैं। इसे उलटबासी कहते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर की बहन संतिन मुक्ताबाई की उलटबासी उदाहरणस्वरूप यहाँ उद्धृत करता हूँ—

'मुंगी उडाली आकाशीं। तिने गिलिलें सूर्यासीं ॥'
थोर नवलाव जाला। बांझे पुत्र प्रसवला ॥
बिंचू पातालासी जाय। शेष माथा वंदी पाय ॥
माशी व्याली घार झाली। देखो न मुक्ता बाई हांसली ॥

अर्थात् चींटी ने आकाश में उड़कर सूर्य को खा लिया। बड़ा अचरज हुआ कि बांझ ने पुत्र को जन्म दिया। बिच्छू पाताल में गया और शेषनाग ने उसके चरणों पर अपना सिर झुका दिया। मक्खी ने चील को जन्म दिया। इन सब अद्भुत घटनाओं को देखकर मुक्ताबाई हँस पड़ी। इसी प्रकार योगी चांगदेव भी कहते हैं—

आकाश कवलिले मुंगीने बाईं। तेथे एक नवल वितले पाहीं॥
नवल झाले नवल झालें। विश्व व्यापिले मुर्कुटाने॥
वटेश्वरी चांगा सूक्ष्म स्थूल। जाति ना कुल बाइयांनो॥

'देखिये, बड़ा अचरज हुआ कि चींटी ने आकाश को लपेट लिया। अचरज हुआ, अचरज हुआ कि क्षुद्र मच्छर ने सारा विश्व व्याप्त कर लिया। बहनो! मैं बटेश्वर चांगदेव सूक्ष्म और स्थूल दोनों रूपों में रहता हूँ और जाति या कुल के बन्धन के परे हूँ।' संतिन जनाबाई की कई उलटवासियाँ हैं। इस प्रकार की विपरीत प्रतीकों से युक्त रचनाए सन्त साहित्य में यत्र-तत्र मिलती हैं।

३. मधुराभक्ति का रूप:—महाराष्ट्र में भक्तिपंथों का अधिष्ठान श्रीकृष्ण का उपदेश (न कि चरित) होने के कारण वहाँ मधुराभक्ति का स्वतंत्र पंथ स्थापित होकर पनप न सका। पति-पत्नी के संबंध में जो उत्कट मधुरता होती है वही प्रेमाभक्ति देव और भक्त में होती है। ऐसी धारणा होने के कारण मधुराभक्ति का स्वतंत्र पंथ चल पड़ा। इस पंथ के अनुसार देव प्रेम का स्वाद चखने के लिये ही अवतार लेता है न कि साधुओं की रक्षा और दुष्टों का सर्वनाश करने के लिए। संतों और पंडितों की रचनाओं में मधुरा भक्ति का जो रूप दिखाई देता है उसका वर्णन करना हम उचित समझते हैं। संत ज्ञानदेव ने देव और भक्त में पति-पत्नी जैसा प्रेम-सम्बन्ध मान लिया था। आपने दाम्पत्य भाव के प्रतीक का उपयोग चार-पाँच बार किया है। आप ज्ञानेश्वरी में कहते हैं—**अर्जुना तो भक्त·····तो वल्लभा मी कांत** (हे अर्जुन, जिस प्रकार पति को पत्नी प्राणों से भी बढ़कर प्रिय होती है उसी प्रकार वह भक्त भी मुझको प्राणों से बढ़कर प्रिय होता है)। यह प्रेमकथा वास्तव में शब्दों में नहीं कही जा सकती। यह थोड़ा सा वर्णन तो केवल श्रद्धा के बल पर किया गया है और इसीलिए यह पति-पत्नी के प्रेम की उपमा मुँह से निकल गई है। इसके अतिरिक्त संत ज्ञानेश्वर ने चार-पाँच अभंगों में स्वानुभूत विरहावस्था का वर्णन किया है। वे कहते हैं—'घनगर्जना हो रही है, वायु बह रही है और मेरी विरहावस्था असहनीय हो रही है। अतः भवतारक कान्हा (कृष्ण) से मेरी भेंट तुरन्त कराइये। चाँदनी, चांफा और चंदन की सुगंध के कारण मेरी विरहाग्नि और अधिक भड़क रही है। देवकी के पुत्र के सिवाय किसी अन्य के प्रति मेरी प्रीति नहीं है। चंदन की चोली से मेरी कोमल देह धधक रही है अतः कान्हा से मेरा मिलाप तुरंत कराइए। वास्तव में सुमनों की शय्या मुझे आग जैसी जला रही है। अतः इसे शीघ्र से शीघ्र बुझाइए। कोयल के मधुर गान से मेरा

आंतरिक दुःख शांत होने की अपेक्षा अधिक दाहक हो रहा है। मेरी ऐसी विचित्र अवस्था हो गई है कि शीशे में मुझे अपनी छाया दिखाई नहीं देती। ओह! रुक्मिणी देवी के पति विट्ठल ने मुझे इस तरह क्या से क्या कर दिया है!' दूसरे अभंग में विरहिणी के रूपक द्वारा वे अपनी बेचैनी प्रकट करते हैं। जिसका पति परदेश में है वह विरहिन कहती है— 'मुझे रात्रि दिन जैसी हो गयी है और नींद हराम हो गई है। मेरे पति के परदेश में होने के कारण उसकी स्मृति मुझे सदा जला रही है। ऐ रुक्मिणी के पति श्री विट्ठल! मुझे त्वरित दर्शन दीजिये।' संत ज्ञानेश्वर श्रीकृष्ण की रुक्मिणी के पति के रूप में प्रार्थना करते हैं, न कि राधा के प्रियकर के रूप में। आपने राधा का उल्लेख भी नहीं किया। अपनी अनुभूति की तीव्रता प्रकट करने के लिए वे अपने को स्वकीया, सती और साध्वी मानते हैं। अपने को परकीया मानने में गोपी भाव की निर्मिति होती है जिसमें शृंगार का स्वाभाविक निर्वाह होता है और जिसे प्रायः मधुरा भक्ति की संज्ञा दी जाती है। अतः हमें ऐसा लगता है कि दाम्पत्यभाव के प्रतीकों की योजना कर संत ज्ञानेश्वर ने संयमित मधुरा भक्ति की विशुद्ध धारा बहाई। आपने कहीं भी मधुराभक्ति या गोपीभाव का उल्लेख नहीं किया, यह बात सत्य है। आपका ही अनुकरण अन्य संतों ने अपने-अपने भाव के अनुसार किया। अतः उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं मधुराभक्ति की धारा स्पष्ट रूप में दिखाई देती है।

संत नामदेव के 'ग्वालिन' और 'विरहिनी' नामक लगभग चालीस अभंग उपलब्ध हैं जिनमें पदे-पदे पति से मिलने के लिए तीव्र उत्कंठा और विकलता भरी मिलती है। सन्त नामदेव के हिंदी पदों में मधुरा भक्ति की धारा प्रबलता से बहती है। अपने आराध्य प्रभु राम की बावली वधू बनकर उसे रिझाने के लिए नामदेव शृंगार करना चाहते हैं। पढ़िये—

राग भैरव

मैं बउरी मेरा रामु भतारू।
रचि रचि ताकउ करउ सिंगारू॥

नामदेव अपने प्रियवर राम से मिलने के लिये इतने धृष्ट एवं आतुर बन गये कि उनको लोकनिंदा का भी भय नहीं है। वे तो उनसे डंके की चोट पर मिलना चाहते हैं। क्या यह तीव्र भाव वृन्दावन की गोपियों के समान नहीं जान पड़ता? भविष्य में संत कबीर ने भी इसी भाव को प्रकट किया। वे कहते हैं—

भलै नींदौ भलै नींदौ लोग।
तन मन राम पिआरे जोग॥

और—

मैं बउरी मेरे राम भरतार।
ता कारण रचि करौं स्यंगार॥

इस प्रकार सन्त नामदेव के हिंदी पदों में कान्ताभाव स्पष्ट है। पर यह कान्ताभाव मर्यादापुरुषोत्तम 'श्री रामचन्द्र के प्रति है। अर्थात् यहाँ स्वकीया, सती और साध्वी की प्रीति का उद्घाटन है न कि परकीया का। कहते हैं कि परकीया में प्रीति की व्याकुलता अधिक तीव्रता से प्रस्फुरित होती है। सन्त नामदेव के निम्नलिखित उद्गार में इस भाव का संकेत है—

जैसे विखैहेत पर नारी।
ऐसे नामे प्रीति मुरारी॥

अर्थात् जैसे विषयी, परनारी से मिलने के लिए तड़पता है वैसे मुरारी मेरे (नामदेव के) मिलन के लिए बेचैन है। सन्त नामदेव के कई हिंदी पदों में यद्यपि राम से मिलने के लिए तालाबेली (मिलन-उत्कंठा) का उल्लेख है, तो भी कहना पड़ता है कि उसमें संय है और शृङ्गार रस का अपेक्षित निर्वाह नहीं है।

संत एकनाथ के श्रीकृष्णभक्तिपरक लगभग ३०० अभंग और पद हैं। उनमें रास-क्रीड़ा, राधाविलास, ग्वालिन और विरहिणी के अभंग हैं। पर उनमें अध्यात्म का इतना पुट है कि मधुरा भक्ति का कोमल दर्शन उनमें हो नहीं सकता। आपने 'भागवत' में गोपीभक्ति का खूब वर्णन किया पर आप कहते हैं–**'रासक्रीडा गोपिकां प्रति कोण म्हणेल कामासक्ति।'** (कौन कह सकता है कि कामासक्त होकर गोपियाँ रासक्रीड़ा करती थीं?)। श्रीकृष्ण के सहवास में कामदेव तुरन्त निष्काम हो गया। उसके बाण भोथले हो गये। रासक्रीड़ा का अर्थ है गोपियों का ध्यानयोग।

संत तुकाराम ने भी रासक्रीडा और विरहिणी के वर्णनपरक १५-२० अभंग रचे। आपने श्रीकृष्ण के साथ रममाण होनेवाली गोपिकाओं का वर्णन बड़े संयमपूर्वक किया तो भी परस्पर के काम का समाधान हुआ ऐसा आप कहते हैं। आप अपने को गोपी समझकर कहते हैं—

कान्हया रे जगजेठी। देईं भेटी एक वेळ॥ १॥
कायमोकलिलें वनीं। सावजांनी वेढिले॥ २॥

येथवरी होता संग। अंगे अंग लपविले॥
तुकाह्मणे पाहिले भागे। एवढ्या वेगे अंतरला॥

अर्थात् ऐ कान्हा! तू मुझे एक बार मिल जा। कहते हैं कि तू जग में बड़ा सामर्थ्यशाली है। क्या इस मुक्त वन में तुझे अन्य प्रेयसियों ने घेर लिया है। मैं अब तक तेरे सहवास में थी। मैंने अपने को खूब सँभाला पर अब जब मेरी उत्कण्ठा बढ़ी तब तू एकाएक गायब हो गया। अन्य दो-तीन अभंगों में आपने अपना गोपीभाव स्पष्ट किया है। आपके विरहिणी-भाव के अभंग बहुत मुँहफट हैं। आप कहते हैं—

'वालो जनमज म्हणोत शिंदली। परि हा वनमाली न विसंबे॥'

अर्थात् लोगों ने मुझे कुलटा भी कहा तो भी मैं उसकी चिंता नहीं करती और कान्हा से अपना विच्छेद नहीं करना चाहती। अन्य अभंग में आप कहते हैं—'मेरे विवाहित (पहले के) पति से मुझे विषय-सुख प्राप्त नहीं हुआ अतः मैं अन्य प्रियतम की ओर दौड़ती हूँ।' तीसरे अभंग में आप कहते हैं—'मैं अकेली वन में गोविंद के साथ विहार करने गई।' कहने का तात्पर्य यह कि संत तुकाराम ने गोपीभाव या राधाभाव को अधिक स्पष्टता से मुखरित किया पर आपकी इस प्रकार की रचना अत्यल्प है और उसमें शृङ्गार का निर्वाह नहीं के बराबर है। आपके शिष्यश्रेष्ठ संत निलोबाराय ने भी सौम्य शृङ्गार से युक्त विरहिणी और ग्वालिन के अभंग रचे हैं।

संत कवयित्रियों की मधुरा भक्ति:—महानुभाव पन्थ की सन्तिन और मराठी भाषा की आद्य कवयित्री महदम्बा की रचनाओं में उसका चक्रधर जी (जो कृष्ण के अवतार माने गये थे) के प्रति स्निग्ध खिंचाव प्रतीत होता है। वह सदा उनकी सेवा में रहने के लिए बेचैन रहती थी। उसे उनका विरह असहनीय था। श्री चक्रधर जी के निर्वाण के पश्चात् उसकी वही श्रद्धा नागदेवाचार्य के प्रति रही। संतिन जनाबाई जो आजन्म अविवाहिता रही, राधाकृष्ण की क्रीड़ा का इस तरह वर्णन करती है। कदाचित् यह राधा का पहली बार उल्लेख है—

राधा आणि मुरारी। क्रीडा कुंजवनी करी।
राधा डुल्लत डुल्लत। आली निजभुवनांत॥
शुभनाचे शेजेवरी। राधा आणि तो मुरारी॥
आवडीने विडे देत। दासी जनी उभी सेथ॥

अर्थात् कृष्ण और राधा कुंजवन में क्रीड़ा कर रहे थे। उसके बाद वे अपने भवन में गये। सुमनों की शय्या पर दोनों विराजमान हो गये। वे एक दूसरे को प्रेम से पान देने लगे

और मैं दासी जनाबाई यह देखती रही। कवयित्री ने यह केवल राधाकृष्ण की क्रीड़ा का ही वर्णन नहीं किया। वह अपने को भी राधा मानने लगी। वह कहती है—

जनी म्हणे देवा मी झाले येसवा। निघाले केशवा घर तुझे॥

अर्थात् जनी कहती है कि हे देव केशव! मैं वेश्या जैसी बन गई हूँ और लोकलज्जा को छोड़कर आपके घर में आ बसी हूँ। क्या इसमें राधाभक्ति स्पष्टता से नहीं दिखाई देती? पर इस प्रकार की रचना बहुत थोड़ी है।

संतिन कान्होपात्रा:—यह महाराष्ट्र की मीराबाई है। इसके अभंगों में विट्ठल के प्रति शुद्ध प्रेम की भावना प्रबल है। शृङ्गार की झलक कहीं भी नहीं दिखाई देती।

संतिन बहिणाबाई:—यह संत तुकाराम की शिष्या थी। इसके अभंगों में शृङ्गार का बिलकुल निर्वाह नहीं है। यह हिंदी अभंग में कहती है—

जमुना के तट धेनु चरावत गावत है गोवालनी।
गीत प्रबंध हास्य विनोद नाचत है श्रीहरी॥ १॥
मैं येरी देखत नंदलाल कांसे पीतवसन है झलाल।
कानों में कुंडल देती डाल सिरपर मोर पिसा चंदलाल॥ २॥

उपर्युक्त अभंग में श्रीकृष्ण और ग्वालिनों का सरल वर्णन है। इसके मराठी अभंग भक्ति रस से ओतप्रोत हैं।

संतिन प्रेमाबाई:—इसने कृष्ण के विषय में कई मधुर पदों की रचना की पर उनमें मधुराभक्ति की धारा दिखाई नहीं देती।

वेणाबाई और बयाबाई:—ये समर्थ रामदासजी की शिष्याएँ थीं। वेणाबाई युवावस्था में ही विधवा हो गई। उसे श्री समर्थ और श्रीराम के बिना सब संसार शून्यवत् प्रतीत होता था।

पंडित कवियों की मधुराभक्ति:—महाकवि वामन पंडित ने (१) रासक्रीड़ा (२) राधाविलास (३) राधाभुजंग (४) भामाविलास और (५) कात्यायनीव्रत नामक शृङ्गाररसपूर्ण आख्यानों की सरस रचना की। आपने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का ऐसा अमर्यादित वर्णन किया जो सुसंस्कृत मानस के पाठकों से पढ़ते नहीं बनता। आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि व्यभिचारी लोगों को कृष्णभक्ति की ओर आकर्षित करने के लिए मैंने उत्कट शृङ्गार का वर्णन किया। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उक्त रचनाएँ अच्छी हैं। यह मधुराभक्ति का भड़कीला और मादक चित्रण है जो प्राचीन मराठी काव्य में अपना सानी नहीं रखता। श्रीधर कवि ने अपने 'हरिविजय' नामक प्रसिद्ध पुराण में

राधाविलास का खूब वर्णन किया पर वह उपर्युक्त वर्णन से शृङ्गार में बहुत फीका है। इसमें भक्तिरस का अच्छा निर्वाह है। महाकवि मोरोपंत के कई फुटकर आख्यानों में श्रीकृष्ण की कथाएँ वर्णित हैं पर उनमें जो शृङ्गार है वह बहुत ही संयत है। संक्षेप में महाराष्ट्र में मधुराभक्ति की धारा क्षीण ही रही है और महाराष्ट्र की मनोभूमि इसके लिए अनुकूल नहीं है।

कृष्णकाव्यधारा और रामकाव्यधारा:—महानुभाव पंथ कृष्णपंथ था अतः उसके महाकवियों ने (जिनमें भास्कर भट्ट बोरीकर और नरेन्द्र हैं) तेरहवीं शताब्दी में ही कृष्ण-काव्यधारा प्रबलता से प्रवाहित की। संत एकनाथ ने 'रुक्मिणी-स्वयंवर' की रचना कर उसे बढ़ाया और वामन पंडित ने अपनी काव्यप्रतिभा से उसे समृद्ध किया। सब संत कवियों और कवयित्रियों ने कृष्णविषयक अभंगों की रसभीनी रचनाएँ कीं। पहले कृष्णकाव्यधारा प्रवाहित हुई और पश्चात् रामकाव्यधारा। दोनों में कौशलयुक्त मौलिक प्रबंधकाव्य और फुटकर आख्यान या कथाकाव्यों की भरमार है। इसके अतिरिक्त महाभारत और रामायण दोनों आर्षकाव्यों पर कई गंभीर और सरस रचनाएँ हुईं जिनका उल्लेख यहाँ किया जाता है।

महाभारतपरक कृतियाँ:—(१) नामा पाठक कवि ने सन् १३७८ में जैमिनीय अश्वमेध नामक विशाल काव्य-ग्रंथ की रचना की। इसमें ९५ प्रकरण हैं। (२) विष्णु दास नामा ने सन् १५९५ में समग्र महाभारत की सफल रचना कर पहली बार पूरा महाभारत मराठी में प्रस्तुत किया। (३) महाकवि मुक्तेश्वर ने पाँच पर्वों की अति रसीली रचना की जो अपनी सानी नहीं रखती। (४) नेवाशे के निवासी गोपाल कवि ने समग्र भारत की सरल रचना की। (५) कोल्हापुर के मुरारी कवि ने भीष्मपर्व की रचना की जिसमें १६७६ ओवियाँ हैं। (६) रामदास संप्रदाय के माधव कवि ने महाभारत पर उत्कृष्ट रचना की। (७) श्रीधर ने 'पांडवप्रताप' नामक पुराण की सर्वलोकसुलभ रचना कर महाराष्ट्र के घर-घर में महाभारत पहुँचाया। (८) चंद्रात्मज रुद्र ने केवल उद्योगपर्व पर रचना की (९) कृष्णदास मुद्गल ने रामायण के साथ ही साथ महाभारत का प्रणयन किया ऐसी ही श्री पांगारकर की राय है। (१०) नरहरि मोरेश्वर ने चार पर्वों पर रचना की। (११) रामदास पंथ के कवि रामचंद्र बुवा ने समग्र महाभारत पर विशालतम रसभीनी रचना की जिसमें १५०००० से अधिक ओवियाँ हैं। (१२) पैठन के जिवा शिवा ने १२ पर्वों की रचना की। (१३) महाकवि मोरोपंत आर्याभारत की रचना कर समग्र महाभारत मराठी में सरसता से ले आए।

महाकवि मुक्तेश्वर और मोरोपंत महाभारत-काव्याकाश के चंद्र-सूर्य हैं। (१४) अनंत-तनय ने उद्योगपर्व पर अच्छी रचना की। इसी प्रकार अन्य चार-पाँच कवियों की ग्रंथ-रचनाएँ उपलब्ध हैं।

मराठी भारतों की विशेषताएँ:—(१) कथानक का ढाँचा मूल महाभारत से लिया गया है पर पुनर्रचना करते समय अपने मौलिक रचना-कौशल से ही वह सजाया गया। (२) पात्रों के स्वभाव चित्रण में उज्ज्वलता एवम् उदात्तता की चमक भर दी गई। (३) समकालीन धार्मिक एवं सामाजिक विचारधाराओं के अनुसार उन पात्रों द्वारा अनुकूल वार्तालाप कराया गया। (४) मूल भारत में प्रधानता से शांत रस का निर्वाह है पर मराठी भारतों में भक्तिरस को ही प्रधान स्थान प्राप्त है। (५) मूल भारत की भाषा सरल एवम् अनलंकृत है पर मराठी भारतों की भाषा सरल होते हुए अलंकारों से युक्त है। ये अलंकार भी भावनाओं का यथार्थ दिग्दर्शन करते हैं। (६) ये अनुवादकाव्य नहीं हैं क्योंकि कथानक, पंक्तियों की संख्या, रस, अलंकार, स्वभाव चित्रण इत्यादि में मौलिक भेद है अतः मराठी के भारत मौलिक और उत्कृष्ट प्रबंधकाव्य हैं।

मराठी में रामायण के रूप:—ग्रहगणों में जैसा सूर्य, नक्षत्रों में जैसा चंद्रमा, पुष्पों में जैसा कमल और वृक्षों में जैसा कल्पवृक्ष है वैसा ही काव्यों में रामायण है। संस्कृत मराठी की परदादी है। मराठी को परदादी का वंशगत जो काव्य-धन प्राप्त हुआ उसका उपयोग मराठी ने ठीक पूँजी जैसा किया अर्थात् उसकी व्युत्पन्नता, वैभव, विशालता, रमणीकता, उपदेशपरता और प्रभाव को कई कलापूर्ण रूपों द्वारा द्विगुणित किया। यहाँ मराठी रामायणों पर भी एक सरसरी दृष्टि डाल लेना अप्रासंगिक न होगा।

(१) गोस्वामी तुलसीदासजी कृत रामचरितमानस से प्रेरणा प्राप्त कर संत एकनाथजी ने संवत् १६५३ में भावार्थरामायण की रचना करने का श्रीगणेश किया और ढाई वर्षों में २७००० ओवियों के १७२ अध्याय लिखते-लिखते आपने समाधि ले ली। शेष ग्रन्थ आपके शिष्य गावबा ने पूरा किया। संत एकनाथ ही मराठी रामकाव्य के सम्राट् हैं। यह लोकमंगल साहित्य का आदर्श है। इसमें आध्यात्मिक रूपकों द्वारा सरल वर्णन किया गया है। इस महाकाव्य के कुल २९७ अध्याय और ४०००० ओवियाँ हैं।

(२) श्रीकृष्णदास मुद्गल ने सन् १६०५ में रामायण के युद्धकांड की सरस रचना की। यह काव्य वीररस से ओतप्रोत है। इसमें ७८ अध्याय और ८००० ओवियाँ हैं। इसका पठन प्रत्येक गढ़ पर होता था।

(३) महाकवि मुक्तेश्वर ने सन् १६२० में संक्षेपरामायण की रचना की।

(४) समर्थ रामदासजी ने 'लघुरामायण' और द्विकांडी (सुन्दर और युद्धकांड की) रामायण की रचना की।

(५) श्रीमती वेणाबाई ने सन् १६६५ में रामायण की मधुर रचना की। आपने सुन्दरकांड में सीता और हनुमान का संलाप अति हृद्य रूप में लिखा।

(६) श्रीधर स्वामी ने सन् १७०३ में रामविजय नामक विशाल एवं सर्वजन प्रिय पुराणग्रन्थ लिखा जो घर-घर में पढ़ा जाता है।

(७) तंजौर के कवि माधव ने सन् १७०७ में श्लोकबद्ध रामायण का प्रणयन कर दूसरी ओविबद्ध रामायण लिखी।

(८) तंजौर के दूसरे कवि आनंदतनय ने सन् १७०८ में श्लोकबद्ध रामायण रची जो कीर्तनकारों को बहुत प्रिय है।

(९) कवि निरंजन माधव ने १. चिद्बोध रामायण, २. रामकर्णामृत ३. मंत्र-रामायण और ४. निरोष्ठ्यराघवचरित्र ऐसे चार रामायण ग्रन्थों की रसभीनी रचना की।

(१०) समर्थ के शिष्य श्री गिरधर स्वामी ने १. अक्षररामायण, २. मंगलरामायण, ३. छंदोरामायण, ४. सुन्दररामायण, ५. संकेतरामायण और ६. करुणारामायण की रचना कर राम-साहित्य को समृद्ध किया।

(११) महाकवि संत तुलसीदासजी ने जैसे अनेक शैलियों में राम का यशोगान किया वैसे मोरोपंत ने विविधतापूर्ण एवं चमत्कृतियुक्त शैलियों में राम के जीवन को चित्रित कर १०८ काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन किया जिसका वर्णन ग्रन्थ में है।

जो विशेषताएँ मराठी भारतों की हैं वे ही मराठी रामायणों की भी हैं। संक्षेप में मराठी का प्राचीन साहित्य इस दृष्टि से संपन्न है। अब संत कवियों के साहित्य-शास्त्र-विषयक दृष्टिकोण की जानकारी प्राप्त कीजिए।

भक्तिकेन्द्री साहित्य-शास्त्र:— प्रत्येक[1] प्रतिभाशाली कवि स्वभावतः काव्यमर्मज्ञ और काव्य-विवेचक रहता है और प्रसंगानुसार वह अपने काव्य-विषयक मौलिक विचारों को प्रकट करता है। ऐसे प्रतिनिधि मराठी कवियों के काव्य-विषयक महत्त्वपूर्ण उद्‌गारों का सम्यक् मंथन करने पर जो साहित्य-शास्त्र के सिद्धांत उपलब्ध होते हैं उनके संकलित रूप को 'मराठी का साहित्य-शास्त्र' कहते हैं। संस्कृत के प्रौढ़ साहित्य शास्त्र के आधार पर मराठी के संत और पंडित कवियों ने जो अभिनव साहित्य-शास्त्र बनाया उसका सार निम्नलिखित है।

---

1. To judge of poets is only the faculty of poets, and not of all poets but the best'. Ben Jonson.

काव्य-प्रयोजन:—संत ज्ञानेश्वर से लेकर कविवर्य मोरोपंत तक प्रत्येक कवि ने परतत्त्व-निरूपण और हरियश का गान अपनी काव्यसृष्टि का प्रयोजन माना।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

इस श्लोक में मम्मट ने काव्य के कई प्रयोजन बताये जो प्रायः लौकिक हैं। इन प्रयोजनों का संत कवियों ने तिरस्कार कर ईश्वर-यशोगान द्वारा इहलोक और परलोक में शुद्ध आनंद का आस्वाद लेना अपनी काव्यसृष्टि का एकमेव प्रयोजन माना। कई पंडित एवं कला-कवियों ने संस्कृत के महाकाव्यों का अनुकरण कर मराठी में रसभीने प्रबंध-काव्यों की रचना की पर उन्होंने भी व्यास अथवा वाल्मीकि को ही अपना आदर्श स्वीकार किया था न कि माघ अथवा हर्ष को। उन्होंने माघ या हर्ष की केवल काव्यशैली का अनुकरण किया। राजा-महाराजाओं तथा जनसाधारण का मनोविनोद कर अपने लिए यश, मान, धन इत्यादि लौकिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति करना वे निंदनीय और गर्ह्य मानते थे। केवल भक्ति ही उनका परम ध्येय था।

काव्यहेतु:—संस्कृत साहित्यशास्त्र में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीन काव्य के हेतु या कारण माने गए हैं। मराठी कवियों का उक्त काव्य-कारणों से अच्छा परिचय था। संस्कृत-साहित्य-मर्मज्ञों की राय में व्युत्पत्ति और अभ्यास का संस्कार हुए बिना प्रतिभा काव्य-सर्जना में सफल नहीं हो सकती। पर मराठी संत कवियों की दृढ़ राय है कि ईश्वरानुग्रह ही आद्य व सर्वप्रमुख काव्य-कारण है। उनका स्वनुभूत मत है कि ईश्वरानुग्रह से ज्ञान-स्फूर्ति होती है और इसी कारण बुद्धि का सहज ही कवित्व में प्रवेश होता है। वे मानते हैं कि काव्यसृष्टि के लिए परिश्रम की आवश्यकता है परन्तु भक्तिविरहित व्युत्पत्ति को वे व्यर्थ कहते हैं। उनकी मान्यता है कि भक्ति ही काव्यनिर्मिति का मुख्य स्रोत है।

रीति की जगह में 'रेखा':—संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में भी केवल काव्यगुणों पर बल देनेवाला रीति संप्रदाय क्षीण हो चुका था। उसकी जगह रस ने ले ली थी। संस्कृत-साहित्य-शास्त्रज्ञ रस को ही काव्य की आत्मा मानने लगे थे। पर संस्कृत साहित्य-शास्त्र में रस का निर्वाह करनेवाली शैली को अभी तक अन्वर्थक नाम नहीं दिया गया था। संत ज्ञानेश्वर ने इसको सौन्दर्यसूचक 'रेखा' संज्ञा देकर मराठी के नवोदित साहित्य शास्त्र में अनूठा योग

दिया। आप कहते हैं—'जिस प्रकार साध्वी में लावण्य के साथ ही साथ पातिव्रत भी होता है उसी प्रकार रेखा में सौन्दर्य के साथ ही साथ शांत रस भी रहता है।' रेखा वह काव्य-शैली है जो बाह्य सौंदर्य एवं रस से ओतप्रोत होती है। अंग्रेजी में इसे Style कहते हैं। संत कवियों की राय में उपमा रूपकादि अलंकारों का उपयोग लोकरंजन की अपेक्षा ईश्वर-यशोगान में उत्कटता उत्पन्न करने के लिए अधिक श्रेयस्कर है। उन्होंने काव्य के बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा रस-निष्पत्ति पर अधिक बल दिया।

सात्त्विक भावों का विस्तृत विवेचन:—संत ज्ञानेश्वर तथा अन्य कवि भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होने की प्रक्रिया तथा रस की सामाजिक निष्ठता की पूरी जानकारी रखते थे। तो भी भावों में सात्त्विक भावों का ही आपने विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन किया। सब कवि रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे। मराठी के प्राचीन साहित्य-मर्मज्ञ रसवादी हैं।

भक्तिरस की नई स्थापना:—प्रसिद्ध अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती जी द्वारा भक्ति रस की नई एवं स्वतंत्र स्थापना होने से पहले मराठी संत कवियों ने भक्ति को स्वतंत्र रस के स्वरूप में स्वीकार किया था। अनेक कवियों ने काव्य में नौ रसों का उल्लेख किया। संत ज्ञानेश्वर ने शांतरस को रसराज ठहराया और भक्ति को भावों में समाविष्ट किया। महानुभाव पंथ के कवीश्वर भास्कर, दामोदर, विश्वनाथ व संत तुकाराम भी भक्ति रस के समर्थक थे। तो भी भक्ति को दसवाँ रस कह कर उसकी स्थापना करने का खरा श्रेय व्युत्पन्न कवि वामन पण्डित को ही देना पड़ता है। समर्थ रामदासजी ने तो यहाँ तक कहा कि जिस रचना में भक्तिरस का निर्वाह नहीं है वह काव्य कहलाने योग्य है ही नहीं।

मराठी के साहित्य-शास्त्र में भक्ति को जो अनन्यसाधारण महत्त्व प्राप्त हुआ उसका अधिक सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करना उचित है। प्राचीन मराठी की प्रायः सब रचनाओं में ईश्वर के गुणों या लीला का कुछ न कुछ वर्णन होने के कारण भिन्न रसों का निर्वाह होने पर भी उनका आलंबन विभाव परमेश्वर ही है अतः उन भिन्न रसों का निर्वाह भक्तिरस की भूमिका पर ही होना अनिवार्य है। महानुभाव-कवि दामोदर पंडित और वामन पंडित ने श्रीकृष्ण एवं श्रीराम के जो नवरसात्मक वर्णन किए उनसे यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। भक्ति का अर्थ है ईश्वरविषयक प्रेम। फिर यदि भक्ति

का निमिश्र वर्णन किया जाता है तो दसवें भक्तिरस की उत्पत्ति अनायास हो जाती है। कई विद्वानों की राय है कि भक्तिरस का समावेश श्रृङ्गाररस में होना चाहिए। पर वह यथार्थ नहीं है। साधारण लौकिक प्रेम से ईश्वरविषयक प्रेम भिन्न है अतः उसके लिए स्वतंत्र दसवें भक्तिरस की व्यवस्था करना स्वाभाविक है। परंतु यहाँ यह विशिष्ट बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि मराठी के साहित्य-शास्त्र में भक्तितत्त्व केवल रस के संबंध में ही चरितार्थ नहीं होता, प्रत्युत वह काव्यलक्षण, काव्य-विषय, काव्य प्रयोजन, काव्य कारण और सात्त्विक भाव सब में चरितार्थ होता है। इसलिए प्राचीन मराठी कवियों ने, जो काव्य भक्तिविषयक नहीं होता था उसको, काव्य नहीं कहा, बल्कि उसको त्याज्य बताया। जैसे भक्ति-भावना का विवेचन करना काव्य का प्रयोजन है वैसे काव्य-सृष्टि का कारण भी भक्ति ही है। भक्ति की धारा में सात्त्विक भावों की उमंगें उत्पन्न होती हैं ऐसी संत कवियों की दृढ़ धारणा थी। इस प्रकार प्राचीन मराठी के साहित्य-शास्त्र में भक्तितत्त्व सर्वव्यापक और सर्वस्पर्शी माना गया। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में जैसे भामह ने अलंकार को, वामन ने रीति को, आनंदवर्धन ने ध्वनि को, कुंतक ने वक्रोक्ति को, क्षेमेंद्र ने औचित्य को और विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा या मूल तत्त्व माना वैसे ही मराठी के संत कवियों ने अपनी काव्य मीमांसा में भक्ति को सर्वव्यापक काव्य-तत्त्व स्वीकार किया। क्या आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्यशास्त्र को मराठी की यह अभिनव मौलिक देन नहीं है ?

संतों की हिंदी में रचनाः—संत स्वभावतः भ्रमणशील हुआ करते थे और तीर्थयात्रा के निमित्त वे उत्तर तथा दक्षिण भारत में जाया करते थे। वहाँ के संतों के साथ सत्संग करने और जनसाधारण को उपदेश देने के अवसरों पर वे प्रादेशिक भाषा का व्यवहार करते थे। अल्प समय में अन्य भाषा की पूरी जानकारी प्राप्त करना उनके लिए असंभव था अतः अपनी टूटी-फूटी भाषा में ही वे अपने विचार लोगों के प्रति प्रकट करते थे। इस ग्रथ में संत एवं पंडित कवियों ने हिंदी भाषा में जो योग दिया उसमें से अल्पांश उदाहरण के रूप में मैंने उद्धृत किया। आशा है हमारे हिंदी पाठक इसका स्वागत करेंगे।

अंत में मैं प्रकाण्ड पंडित एवं लब्धप्रतिष्ठ देशभक्त लोकनायक मा० श्री० अणेजी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने अत्यन्त व्यग्र होते हुए भी इस ग्रंथ पर शुभसम्मति लिखकर इसका महत्त्व बढ़ाया, तथा डा० विनयकुमारजी शर्मा के प्रति भी आभार प्रदर्शित करता हूँ जिन्होंने कृपा कर 'हिन्दी को मराठी संतों की

देन' पुस्तक से हिन्दी पद उद्धृत करने की अनुमति प्रदान की। इसी प्रकार मैं चिरंजीवी श्री मोहनदास गुप्त एवं श्री विट्ठलदास गुप्त (उत्साही संचालक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज एवं चौखम्बा विद्याभवन) के प्रति विशेष आभार प्रदर्शित करता हूँ जिनके प्रोत्साहन के बिना इस ग्रंथ का प्रणयन और प्रकाशन मुझ जैसे व्यक्ति के लिए बहुत कठिन होता। अब श्री काशी-विश्वेश्वर के चरणकमलों में नत होकर मैं यह मुखबंध समाप्त करता हूँ।

२५-६-५९
वाराणसी

—भी० गो० देशपांडे

विषय-सूची

[पह]ला खंड

दूसरा खंड

तीसरा खंड

मराठी का भक्ति-साहित्य

पहला अध्याय

मराठी भाषा की उत्पत्ति और विकास

मराठी आर्य परिवार की भाषा है। हिन्दी भाषा के समान ही मराठी भाषा का उद्गम संस्कृत के नगाधिराज से है। गीर्वाणवाणी मराठी की परदादी है। यह सर्वमान्य ऐतिहासिक तथ्य है कि अनेक शताब्दियों तक संस्कृत भारतवर्ष की साहित्यिक भाषा रही। जैसे आर्यों ने उत्तर भारत से लेकर भारत के अन्य भागों में विस्तार किया वैसे उनकी संस्कृत भाषा पर प्रादेशिक भाषाओं का एवं बोलियों का प्रभाव होता गया। फलतः मध्यकाल में याने ईसापूर्व ५०० से ईसा सन् ५०० तक संस्कृत भाषा से कई प्रादेशिक भाषाएँ उत्पन्न हुईं, जैसे शूरसेन में बोली जानेवाली प्राकृत शौरसेनी, मगध में बोली जानेवाली प्राकृत मागधी, शूरसेन और मगध में प्रचलित प्राकृत अर्धमागधी या कोसली और महाराष्ट्र में बोली जानेवाली प्राकृत महाराष्ट्री कहलाई। इन प्राकृत भाषाओं में महाराष्ट्री अपनी कोमलता, सुन्दरता व अर्थ-सम्पन्नता इत्यादि गुणों से श्रेष्ठ कहलाई। संस्कृत के महाकवि दण्डी अपने काव्यादर्श में उसकी निम्नलिखित प्रशंसा करते हैं—

'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः। सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥' महाराष्ट्र में आश्रित भाषा को प्राकृत भाषाओं में श्रेष्ठ मानते हैं। उसमें सेतुबन्धादि काव्य है जो सूक्तिरत्नों के सागर हैं। एवं महाकवि दण्डी ने महाराष्ट्री को प्रकृष्ट प्राकृत भाषा कहा। वररुचि ने भी अपने प्राकृतप्रकाश नामक व्याकरण-ग्रन्थ में शौरसेनी का व्याकरण स्पष्ट करते समय उसके कुछ विशेष बताकर शेष महाराष्ट्रीवत् माने, शेष महाराष्ट्री के समान है सूत्र लिखा, जिससे महाराष्ट्री की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में केवल महाराष्ट्री का ही व्याकरण विवेचित किया जिससे स्पष्ट होता है कि उक्त व्याकरणकार प्राकृत का पर्यायवाची शब्द महाराष्ट्री मानते हैं। प्रकृष्ट महाराष्ट्री का अतिप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ नृपवर हाल विरचित गाथासप्तशती है। भाषाशास्त्रज्ञों ने उक्त गाथा का रचना काल विक्रम संवत् की दूसरी शती में निश्चित किया है। कहते हैं कि महाराष्ट्री में अनेक उत्कृष्ट ग्रंथों का प्रणयन हुआ

था परन्तु अभी तक उसके साहित्यसागर के चार रत्नों की ही उपलब्धि हुई है। वे हैं गाथा सप्तशती, गौडवहो, दशयुहवहो और कर्पूरमंजरी। अन्य प्राकृत भाषाओं के समान महाराष्ट्री में सन् ५०० के पश्चात् परिवर्तन हुआ और एक नई अपभ्रंश भाषा उत्पन्न हुई। महाराष्ट्री की इस अपभ्रंश भाषा में लिखित कोई ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं है। हो सकता है वह केवल बोली के स्वरूप में ही रही हो। इस महाराष्ट्री अपभ्रंश से आठवीं शती में मराठी की उत्पत्ति हुई। डॉ० शं० गो० तुलपुलेजी 'यादव कालीन मराठी' में लिखते हैं—'उच्चारप्रक्रिया, प्रत्ययप्रक्रिया और शब्दसिद्धि माने भाषा के इन तीन प्राणभूत अंगों को मराठी ने अपभ्रंश से ग्रहण किया और उनके साथ कुछ नवीन प्रकार रूढ़ करके भाषा की विकासप्रक्रिया अग्रसर की।' संक्षेप में संस्कृत→ प्राकृत (महाराष्ट्री)→ अपभ्रंश→ मराठी ऐसा मराठी की उत्पत्ति का क्रम है और इसकी उत्पत्ति का काल आठवीं शताब्दी है।

अब हम उसके विकास का मानचित्र संक्षेप में खींचेंगे। मराठी की प्रथम विकासावस्था आठवीं और नवीं शताब्दी मानी जाती है। इस काल के कई ताम्रपट और शिलालेख उपलब्ध हैं जिनमें मराठी के शब्द उत्कीर्ण मिलते हैं। परंतु यह सर्वमान्य दृक्प्रत्यय हैं कि मराठी का पहला वाक्य 'श्री चावुण्डराजे करवियलें' 'मैसूर के श्रवण बेलगोल नामक जैन तीर्थस्थान में श्री गोमटेश्वरजी की चालीस फीट ऊँची तथा भव्य मूर्ति के चरणों में उत्कीर्ण है, जो अभी भी देखा और पढ़ा जा सकता है। उक्त श्रवण बेलगोल का शिलालेख शके ९०५ (सन् ९८३) में उत्कीर्ण किया गया था। श्री चावुण्डराजा ने यह प्रस्तर मूर्ति बनवायी ऐसा उक्त मराठी वाक्य का अर्थ है। इसके पश्चात् शके १०४० में (सन् १११८) दूसरा वाक्य उत्कीर्ण किया गया। वह है 'श्री गंगराज सुत्ताले करिवियले।' इसका अर्थ है कि गंगराजा ने चहारदिवाल बनवायी। ऊपरोल्लेखित श्री गोमटेश्वरजी की मूर्ति की रक्षा करने के लिए गंगराजाने परकोटा बनवाया था। शके ११०७ (सन् ११८५) तक उत्कीर्ण हुए बारह शिलालेख मिले हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि धीरे-धीरे मराठी का विकास तथा प्रचार बढ़ रहा था और वह लिखित रूप धारण कर रही थी। चालुक्य वंश के सोमेश्वर राजा ने शके १०५१ (सन् ११२९) में अभिलषितार्थचिन्तामणि नामक ग्रंथ लिखा जिसमें मराठी शब्दों की बहुलता है और कई मराठी वाक्य मिलते हैं। सोमेश्वर जी कहते हैं कि महाराष्ट्र में पीसते समय कष्ट हलका करने के लिए महिलाएँ

ओवीएँ (गीत) गाती थीं। शके १०६६ का एक शिलालेख उपलब्ध है जिसमें मराठी की बीस पङ्क्तियाँ मिलती हैं। अन्ततो गत्वा शके १११० (सन् ११८८) में मराठी में पहला काव्यग्रन्थ रचा गया एवं गाथासप्तशती की महाराष्ट्री सन् ११८८ में मराठी बनी।

हिन्दी और मराठी की समानताएँ एवं भिन्नताएँ

देखा जाता है कि सहोदर व्यक्तियों में भी पूरा सादृश्य नहीं पाया जाता फिर परंपरा से संस्कृतोद्भव दो भाषा-भगिनियों में उसकी पूरी अपेक्षा करना व्यर्थ है। तोभी बंगाली और गुजराती भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी और मराठी में रूप-सादृश्य अत्यधिक है। हिन्दी और मराठी दोनों की लिपि देवनागरी है। वर्णमाला में प्रायः समानता है। परन्तु कुछ वर्णों के लिखित रूपों में भेद है। जैसेः—

हिन्दी	मराठी	हिन्दी	मराठी
अ	अ	ण	ण
ल	ल	झ	झ

दूसरी विभिन्नता है कि कुछ वर्णों का प्रयोग हिन्दी की अपेक्षा मराठी में अधिक होता है। वैदिक संस्कृत में ळ वर्ण का प्रयोग रूढ था परन्तु आगे चलकर साहित्यिक संस्कृत में उसका लोप हुआ परन्तु मराठी में उसके प्रारम्भ से अभी तक ळ का प्रयोग होता है, जैसे सरळ, कमळ, काळा, तोळा, भोळा इत्यादि। हिन्दी में ळ वर्ण ही नहीं है। मराठी में ण वर्ण का प्रयोग अधिक होता है क्योंकि महाराष्ट्री प्राकृत में ण का प्रयोग अधिक रहा। अतः जहाँ मराठी में पाणी, राणी, लिखे जाते हैं वहाँ हिन्दी में पानी, रानी लिखे जाते हैं। मराठी में ऋ का उच्चारण रु होता है किन्तु हिन्दी में रि होता है। मराठी में च, ज, झ, का शुद्ध तालव्य उच्चारण होता है। इसके अतिरिक्त मराठी में किसी भी वर्ण के नीचे बिंदी नहीं है। मराठी में संस्कृत के जैसे तीन लिंग (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग) हैं। उपर्युक्त प्रमुख भेद हैं अन्यथा बहुत समानताएँ हैं। अन्य भेद भी तुलनात्मक अभ्यास करने से बहुत आसानी से ग्रहण किये जा सकते हैं।

हिन्दीभाषाभाषी पाठकों की जानकारी के लिए प्राचीन मराठी के संत कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रमुख छन्दों का संक्षिप्त निरूपण यहाँ करता हूँ।

मराठी संतकाव्य के प्रमुख छंद

ओवी:—इसका शब्दार्थ है गुम्फित या ग्रथित। यह संस्कृत के अनुष्टुप् वृत्त का मराठी रूपान्तर है। एक ओवी में चार चरण होते हैं। शब्दयोजना अनुप्रासयुक्त होती है और तीनों चरणों के अन्त में यमक होता है पर चौथे चरण की स्थिति गाने की टेक के समान होती है। संत ज्ञानेश्वर ने इस छंद का परमोत्कर्ष किया। आपकी ओवी के तीन चरणों में दस या आठ वर्ण होते हैं और चौथे में पाँच या सात होते हैं परन्तु संत एकनाथ ने इसको बढ़ाया उन्होंने तीन चरणों में ग्यारह और चौथे में सात वर्ण रखे। ग्यारहवीं शती से पूर्व यह छंद प्रचलित रहा होगा। इसका सफल प्रयोग आद्यकवि मुकुन्दराज, संत ज्ञानेश्वर, कवीश्वर भास्कर भट्ट बोरीकर, दामोदर पंडित, संत एकनाथ, मुक्तेश्वर, वामन पंडित, दासोपंत, समर्थ रामदास, श्रीधर और महिपति इत्यादि प्रमुख कवियों ने किया।

अभङ्ग:—यह पूर्णतया मराठीभाषा का लोकछन्द है। संत ज्ञानेश्वर ने इसको पहले प्रयुक्त किया पर संत नामदेव ने इसे सरस एवं लोकप्रिय बनाया। अन्ततोगत्वा संतश्रेष्ठ तुकाराम ने इसका उत्कर्ष किया। इसकी लम्बाई की कोई सीमा नहीं होती अतः यह अभङ्ग (अटूट) कहलाता है। इसके चार चरणों का एक चौक होता है और दो से लेकर दो सौ चौक भी एक अभङ्ग में हो सकते हैं। यह करताल और मृदङ्ग पर गाने योग्य छंद है। इसके चरणों में अक्षर, मात्रा और गण का एक भी निश्चित नियम लागू नहीं होता। यह सर्वथा गेय है। अभङ्ग और ओवी में समानता इस दृष्टि से होती है कि दोनों के दूसरे और तीसरे चरण में यमक अलङ्कार की चमत्कृति रहती है। नाम-संकीर्तन में इसका गान अतिमधुर और लोकप्रिय होता है। मराठी के संतकाव्य का यह अत्यन्त प्रमुख छंद है।

कटाव:—गतिशील पद्यरचना का यह सुविधाजनक छंद है। इसको पद्यबंध कहते हैं। इसमें उद्धवद्विपदी के ध्रुवपद रहते हैं। चरणों की संख्या निश्चित नहीं रहती। चरणों में वर्णों की नियमितता नहीं रहती पर वे ताल-स्वर में अवश्य गाये जाते हैं। संस्कृत में इसे कटिबन्ध कहा जाता है। पदरचयिता अमृतराय ने इसे प्रयुक्त कर लोकप्रिय बनाया।

दिण्डी और साकी :—ये मराठी के मात्रिक छंद हैं। कीर्तन की प्रथा के साथ ये छंद प्रयुक्त किए गए। दिण्डी के प्रत्येक चरण में १६ और साकी के प्रत्येक चरण में २८ मात्रायें होती हैं।

भारूड या गारूड :—यह चमत्कृतिजन्य गद्य-काव्य होता है। जनता में बहुरूढ़ होने के कारण इसे भारूड़ कहते हैं। यह एक प्रकार का लोकगीत है। इसमें सामाजिक पाखण्डों के प्रति व्यंग किया जाता है। संत एकनाथ महाराज ने कई तीखे और अर्थपूर्ण भारूड़ लिख कर इसको लोकप्रिय बनाया। आपके भारूड़ में लोकरञ्जन के साथ उपदेश भी होता है।

आर्या :—यह संस्कृत के अनुष्टुप् का दूसरा मराठी रूपान्तर है। इसकी दो पंक्तियाँ होती हैं। यह मात्रावृत्त है। महाकवि मोरोपंत ने इसका सफल प्रयोग किया।

उपर्युक्त छन्दों के अतिरिक्त संस्कृत के सब गणवृत्त, पादाकुलक, बालानन्द इत्यादि अनेक छोटे-मोटे छन्दों का प्रयोग प्राचीन मराठी काव्य में किए गए पर मराठी संत-काव्य के उपरिलिखित विशिष्ट छंद हैं।

दूसरा अध्याय

महाराष्ट्र का नाथ-सम्प्रदाय की देन

मराठी का प्राचीन साहित्य पांच सम्प्रदायों की रचनाओं से भरा है। उनमें नाथ-सम्प्रदाय आद्य होने के कारण उसका चिरकालीन प्रभाव महाराष्ट्र के अन्य सम्प्रदायों पर हुआ। अतः नाथ-सम्प्रदाय के महाराष्ट्र में किए कार्य के सम्बन्ध में यहाँ विस्तारपूर्वक लिखा जा रहा है।

नाथ-सम्प्रदाय का महाराष्ट्र में प्रवेश और प्रचार

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हुआ कि श्री गोरखनाथ ने स्वयं नाथ सम्प्रदाय का सूत्रपात एवं प्रचार महाराष्ट्र में किया। सन्तश्रेष्ठ ज्ञानेश्वर (सन् १२७१ से १२९३) के परदादा श्री त्र्यम्बकपन्त को गोरखनाथ जी का अनुग्रह प्राप्त हुआ था। उसी प्रकार ज्ञानेश्वर जी के दादा श्री गोविंदपन्त को गहिनीनाथ जी से गुरूमंत्र मिला था। वैसे ही मराठी के आद्य कवि श्रीमुकुन्दराज (ई० स० ११२८ से १२००) अपने पहले 'विवेकसिंधु' नामक काव्यग्रंथ में लिखते हैं कि वे नाथपंथी थे और उनकी गुरूपरम्परा आदिनाथ→ हरनाथ→ रघुनाथ ऐसी थी। संत ज्ञानेश्वर जी ने अपनी गुरुपरम्परा का इस प्रकार निर्देश किया है—आदिनाथ→ मत्स्येन्द्रनाथ→ गोरखनाथ→ गाहिनीनाथ→ निवृत्तिनाथ। श्री मुकुन्दराज की गुरुपरम्परा नाथ-पंथ की प्रामाणिक गुरुपरम्परा से भिन्न है परन्तु दोनों का संस्थापक गुरु आदिनाथ ही है। मेरी दृष्टि से श्री मुकुन्दराज की गुरुपरम्परा शुद्ध महाराष्ट्रीय है। संभव है कि गोरखनाथ जी के महाराष्ट्र में नाथ सम्प्रदाय का प्रचार करने के पश्चात् यहाँ हरनाथ नामक सिद्ध ने नाथ-संप्रदाय की दीक्षा स्वीकार की और बाद कुछ मौलिक मतभेद होने के कारण अपनी दूसरी गुरुपरम्परा प्रारम्भ की हो, क्योंकि जहाँ नाथ पंथ में अष्टांगयोग माने हठयोग पर जोर है वहाँ आद्यकवि मुकुन्दराज ने अपने 'विवेकसिंधु' ग्रन्थ में राजयोग पर अधिक भार दिया। किन्तु उक्त दोनों आद्य तथा श्रेष्ठतम मराठी कवियों के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि सन् ११०० से पूर्व महाराष्ट्र में नाथ-पंथ प्रतिष्ठा पा चुका था। गोरखनाथ जी के नाम पर

मराठी में 'अमरनाथसंवाद' और 'गोरक्षगीता' नामक दो ग्रंथ लिखे हुए मिलते हैं। आचार्य डॉ० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी और डॉ० बड़थ्वाल के कथनानुसार गोरखनाथ जी ने संस्कृत और हिंदी में प्रचुर ग्रंथरचना की थी। परन्तु उक्त निर्देश से सिद्ध होता है कि गोरखनाथ मराठी के भी तज्ज्ञ थे। गोरखनाथ के मराठी ग्रन्थकार होने की बात विवादास्पद है। हो सकता है कि किसी नाथ पन्थ के अनुयायी ने ऊपर निर्दिष्ट दोनों ग्रंथों की रचना कर गुरुभक्ति के कारण अपने पंथ के प्रवर्तक गुरु के नाम से उसका ग्रन्थकर्तृत्व प्रकाशित किया हो। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि गोरखनाथ ने नाथपंथ का प्रचार सन् ११०० से पूर्व महाराष्ट्र में किया। अतः उक्त पन्थ के तत्वज्ञान, साधना तथा आचार का प्रभाव भावी मराठी साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार नाथपन्थ में परिवर्तन होना भी स्वाभाविक था क्योंकि कोई भी सुबुद्ध पन्थ पूर्णतया परिस्थितिनिरपेक्ष पनप या रह नहीं सकता। उदाहरणार्थ गोरखनाथ जी तक नाथपन्थ में हठयोग व संन्यास पर अधिक जोर था परन्तु उनके शिष्य गहिनीनाथ जी ने उसमें कृष्णभक्ति की धारा जोड़ दी। कृष्णभक्ति का स्वीकार और प्रचार करते ही महाराष्ट्र में नाथपंथ लोकप्रिय हुआ क्योंकि वहाँ पंढरपूर में जिसको दक्षिण काशी कहते हैं, विठ्ठल (जो कि विष्णु और कृष्ण का अवतार माना गया है) भक्ति का स्रोत जोर से बह रहा था। अतः आद्य मराठी कवि मुकुन्दराज ने जो कि नाथपन्थी कहलाता था, अपने 'विवेकसिंधु' में साधारण जनों के लिए सगुण भक्ति का प्रतिपादन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने राजयोग की नई व्याख्या की। मुकुंदराज की रचना के सम्बन्ध में हम आगे के प्रकरण में विस्तृत लिखेंगे। यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि मुकुंदराज ने अद्वैत का भी समर्थन किया। नाथ पन्थ ने भी द्वैताद्वैत का समन्वय सामञ्जस्य प्रस्थापित किया था। नाथ पन्थ ने अपना तत्वज्ञान प्रादेशिक लोकभाषाओं द्वारा प्रचारित किया था जिसका अनुसरण करके मुकुंदराज और उनके बाद सब कवियों ने मराठी में ही ग्रन्थरचना कर, मराठी को ही अपने पंथ की भाषा मानकर साधारण जनों तक धर्म का ज्ञान पहुँचाया। मुकुंदराज जी के पश्चात् महानुभाव पन्थ की स्थापना और प्रचार महाराष्ट्र में हुआ परन्तु महानुभाव पन्थ के प्रवर्तक महात्मा चक्रदेव ने मराठी को अपनी पंथ भाषा बनाकर उसकी श्रीवृद्धि ही नहीं की

बल्कि अपने विद्वान् शिष्यों को संस्कृत में ग्रंथ-रचना करने से रोका। महानुभाव पंथ के पश्चात् वारकरी सम्प्रदाय का जोर बढ़ा। वारकरी सम्प्रदाय के श्रेष्ठतम तत्वज्ञ कवि संत ज्ञानेश्वर ने मराठी में ही ग्रन्थरचना की। उनका ही अनुकरण संत नामदेव, संत एकनाथ और संत तुकाराम ने किया। वारकरी सम्प्रदाय के उत्कर्ष के साथ ही पंद्रहवीं शताब्दी में श्रीपादवल्लभ स्वामी ने दत्त सम्प्रदाय की स्थापना की परन्तु उनके प्रामाणिक साम्प्रदायिक ग्रन्थ 'श्री गुरु रेत्र' की रचना श्री गंगाधर सरस्वती ने मराठी में ही की। सत्रहवीं शताब्दी समर्थ रामदास स्वामी ने रामदासी सम्प्रदाय की स्थापना की। पर उनका पूज्य तथा प्रामाणिक ग्रंथ 'दासबोध' मराठी में ही है। संक्षेप में देशी भाषा में धार्मिक ग्रन्थों का प्रणयन करके आम जनता में धार्मिक ज्ञान का प्रचार करने की देन नाथ-पन्थ ने महाराष्ट्र को दी। इससे भी अधिक मूल्यवान और उदात्त देन यह है कि नाथ-पन्थ ने स्त्री-शूद्रादिकों के लिए, सबके लिए मुक्ति का द्वार खोल दिया। नाथ पन्थ के पूर्व वैदिक धर्म का पूरा अधिकार था। वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार स्त्री-पुरुष, स्पृश्यास्पृश्य, वर्ण और अन्त में जाति इत्यादि में वैषम्यपूर्ण भेद व्यवहृत होता था जिससे धार्मिक क्षेत्र बहुत संकीर्ण बना था और आध्यात्मिक समता कतई न थी, जिससे मोक्ष का द्वार बहुजनों के लिए बंद था। नाथ-पन्थ ने उक्त संकीर्णता नष्ट करके स्त्री और शूद्रों को मोक्षाधिकारी बनाया। और आध्यात्मिक तथा धार्मिक समता भारतवर्ष में पहली बार स्थापित की। उपर्युक्त आध्यात्मिक समता का महानुभाव एवं वारकरी पन्थ ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया। अब आध्यात्मिक समता का क्षेत्र अधिक विस्तृत बना जिसका आगे विस्तारपूर्वक विवेचन मिलेगा। नाथ पंथ प्रमुखता से योगसाधना का पंथ है। उसमें अष्टांगयोग या हठयोग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि) की कठोर साधना करनी पड़ती है। नाथ पंथ ने आदिनाथ अर्थात् शक्तियुक्त शिव को अंतिम सत्य माना है। वह स्वसंवेद्य व स्वयं प्रकाशमान है। नाथ-पंथ के अनुसार उसका अनुभव योग द्वारा किया जा सकता है। नाथ-पंथ अद्वैतवादी है अतः वह पिंड और ब्रह्म में एकरूपता मानता है। उसने मानवीय पिंड को ब्रह्म मानकर उसका पूरा विवेचन किया है। वह अंतस्थ शिव का साक्षात्कार करना मानवजीवन का परम साध्य मानता है। जीव और शिव की एकता को सामरसकरण (ब्रह्मानन्द) कहा गया है। पंथ में ब्रह्मप्राप्ति

का साधन योग बताया गया है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाडियों पर बड़े परिश्रम द्वारा अधिकार प्राप्त कर कुंडलिनी को जागृत किया जाता है। जागृत कुंडलिनी के आधार पर जीव और शिव की एकता स्थापित होती है अर्थात् ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है। उक्त योग की साधना बहुत कष्टदायक है। परन्तु ब्रह्मप्राप्ति का यह भी एक साधन है। वारकरी सम्प्रदाय के संतसिरमौर ज्ञानेश्वर जी ने इसका विवेचन अपनी भावार्थदीपिका (ज्ञानेश्वरी) के छठे अध्याय में किया है। वे कहते हैं—'आसन के ताप के कारण कुंडलिनी नाम की शक्ति जागृत होती है। जिस प्रकार नागिन का कुङ्कुम के समान लाल बच्चा कुण्डली बनाकर बैठता है, उसी प्रकार यह कुण्डलिनी नामक छोटी नाड़ी साढ़े तीन फेरे की कुण्डली मारकर और सिर नीचे करके नागिन की तरह सोई रहती है। विद्युत् के बने हुए कङ्कण या अग्नि की ज्वाला की रेखा या सोने के बढ़िया घोंटे हुए पाँसे की तरह यह कुण्डलिनी नाभिस्थान की छोटी सी जगह में अच्छी तरह बन्धनों से जकड़ी हुई पड़ी रहती है। पर जब उस पर वज्रासन का दबाव पड़ता है तब वह जाग उठती है। फिर जिस प्रकार कोई तारा टूट पड़ता है अथवा सूर्य का आसन छूट जाता है अथवा स्वयं तेज का बीज प्रस्फुटित होने पर उसमें से कोमल गाभ निकलता है उसी प्रकार यह कुण्डलिनी अपना घेरा छोड़ देती है और मानों अँगड़ाई लेती हुई नाभिकन्द पर खड़ी हो जाती है।......जिस समय कुण्डलिनी सत्रहवीं कला के अमृत का पान करती है उस समय ऐसा जान पड़ने लगता है कि सन्ध्या काल का रङ्ग लेकर यह शरीर बनाया गया है अथवा अन्तःस्थ चैतन्य की निर्मल प्रभा है अथवा वह स्वर्ण चम्पक की कली, या अमृत का पुतला है या कोमलता का ऐसा उपवन है कि जिसमें पूर्णरूप से वसंत ऋतु व्याप्त है अथवा चन्द्रबिम्ब शरद् ऋतु की आर्द्रता से पल्लवित हुआ है।...... उस समय स्वयं काल भी इस शरीर से डरने लगता है।.........जिस प्रकार बिजली एक बार आकाश में चमक कर अदृश्य हो जाती है, उसी प्रकार जान पड़ता है कि हृदयकमल तक सोने की सलाई के समान दिखाई पड़ने वाली अथवा प्रकाश के स्रोत की तरह बहती हुई वह कुण्डलिनी, हृदय प्रान्त की दूरी में अचानक समा जाती है और तुरंत ही शक्ति का शक्ति में लय हो जाता है। इस अवस्था में मन को जीतने, वायु को बंद करने या रोकने अथवा ध्यान लगाने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय मन में संकल्प-विकल्प भी नहीं

उठते। वास्तव में इस स्थिति को पंचमहाभूतों को पूर्ण रूप से नष्ट करने वाली समझना चाहिये' इत्यादि। इस प्रकार योगसाधना के द्वारा पिण्ड से पिण्ड को ग्रसना, नाथ सम्प्रदाय का रहस्य या मूल उपाय है जिसका संत ज्ञानेश्वरजी ने सैकड़ों ओवियों में विस्तारपूर्वक एवं अलंकारयुक्त वर्णन किया है। यहाँ उसका बहुत संक्षिप्त उल्लेख करने से ही हमारा उद्देश्य सध जाता है। संत ज्ञानेश्वर जी के अतिरिक्त निवृत्तिनाथ, मुक्ताबाई, विसोबा खेचर, सत्यामलनाथ, गैबीनाथ, गुप्तनाथ, उद्बोधनाथ, केशरीनाथ और शिवदीन केशरी इत्यादि नाथपन्थीय योगपरम्परा के वारकरी संतों ने भी यौगिक साधना के विषय में बहुत लिखा और कहा है।

नाथपंथ के दूसरे प्रचारक गुरु—गहिनीनाथ जी ने महाराष्ट्र की सामयिक परिस्थिति ध्यान में लेकर संत ज्ञानेश्वर जी के गुरु एवं ज्येष्ठ बंधु निवृत्तिनाथ को कृष्णभक्ति का मंत्र दिया। गोदावरी नदी के उद्गम के पास ब्रह्मगिरि पर गहिनीनाथ गुफा में निवास करते थे। वहाँ उन्होंने निवृत्तिनाथ को गुरु-मन्त्र दिया। निवृत्तिनाथ स्वयं कहते हैं—'आदिनाथ (शिव) और पार्वती रूपी बीज प्रकट हुआ। उसने मत्स्येन्द्रनाथ को सहज स्थिति प्रदान की। मत्स्येन्द्रनाथ ने वही मुद्रा गोरखनाथ को दी। गोरखनाथ ने गहिनीनाथ पर पूरी कृपा करके उसे वैराग्य का तथा शांति सुख का निधि अर्पित किया। मुझ पर (निवृत्तिनाथ पर) गहिनीनाथ ने कृपा की और कृष्णनाम का जप करने का मंत्र कहा।' इसके अतिरिक्त 'गोरक्षगीता' का कर्तृत्व गहिनीनाथ के प्रति जाता है जिसमें गोरखनाथ के उपदेशों का निचोड़ गहिनीनाथ ने अपने शिष्यों के लिए प्रस्तुत किया है। उक्त ग्रंथ के नाम से ही प्रतीत होता है कि गहिनीनाथ की निष्ठा श्रीकृष्ण के प्रति थी। संक्षेप में योग की साधना करते हुए गहिनीनाथ ने श्रीकृष्ण के नाम-स्मरण और जप का साधन साधारण लोगों के लिए स्वीकार किया था। नाथपंथ वास्तव में शिव पंथ है। परन्तु गहिनीनाथ ने हरि (विष्णु) का हर (शिव) के साथ मेल किया अर्थात् हरिहरैक्य स्थापित किया। उक्त हरिहरैक्य और नाम-स्मरण ही भावी वारकरी पंथ की नींव बना। कृष्णभक्ति ही भावी महानुभाव पंथ की आधारशिला बनी। सभी महानुभावपंथीय यह मानते हैं कि महात्मा चक्रधर (महानुभाव-पंथ के संस्थापक) के गुरु के, गोविन्द प्रभु के अथवा गुण्डम राहुल के गुरु नाथपंथीय चांगदेव राऊल थे। निःसंदेह गुरु गोविंद प्रभु ने अपने को प्राप्त गुरु-परम्परा का कुछ अंश अपने शिष्य महात्मा चक्रधर

को प्रदान किया होगा जिससे महानुभाव पंथ का सम्बन्ध नाथपंथ से जोड़ा जा सकता है। संत ज्ञानेश्वर जी भावार्थदीपिका के (ज्ञानेश्वरी) के अठारहवें अध्याय में नामस्मरण या नामजप के बारे में लिखते हैं—'अत्यन्त प्राचीन काल में क्षीरसागर के पास शंकर जी ने श्री पार्वती के कानों में जो रहस्य बतलाया था, वह रहस्य क्षीरसागर की लहरों से मगर के पेट में रहने वाले मत्स्येन्द्रनाथ को प्राप्त हुआ था।.........मत्स्येन्द्रनाथ ने अटल समाधि का ठीक तरह से भोग करने का विचार किया और इसीलिये उस रहस्य का संकेत उन्होंने श्री गोरक्षनाथ को बतला दिया। गोरक्षनाथ जी योगरूपी कमलिनी सरोवर और विषयों का नाश करनेवाले काल ही थे। मत्स्येन्द्रनाथ ने उन्हें अपना समस्त अधिकार देकर अपने पीठ पर अधिष्ठित कर लिया। इसके उपरांत गोरक्षनाथ ने उस अद्वैतानन्द का जो श्री शम्भु के समय से परम्परा से चला आ रहा था, श्री गहिनीनाथ को समूल उपदेश दिया। जब उन गहिनीनाथ ने यह देखा कि कलिकाल भूतमात्र को ग्रस रहा है, तब उन्होंने श्री निवृत्तिनाथ को आज्ञा दी कि आदिशंकर से लेकर शिष्यपरम्परा से रहस्यबोध कराने का जो यह सम्प्रदाय मुझ तक चला आया है, वह सम्प्रदाय तुम स्वीकृत करो और उन जीवों की रक्षा करने के लिए तुम दौड़े हुए जाओ जिन्हें कलिकाल निगल रहा है। निवृत्तिनाथ जी स्वभावतः अत्यन्त दयालु थे, जिस पर उन्हें गुरु की आज्ञा हुई थी। अतः जगत् को शांति प्रदान करने वाले श्री निवृत्तिनाथ वर्षाकाल के मेघ समान उठे। उस समय दुखितों पर करुणा करके गीतार्थ पिरोने के बहाने उन्होंने शांत रस की जो वर्षा की वही यह ग्रंथ है। उस समय मैं चातक की भाँति बहुत अनुरागपूर्वक उनके सामने खड़ा हो गया था और इसीलिए आज मैं यह निवेदन करने का यश प्राप्त कर सका हूँ।' उपर्युक्त अनुच्छेद में संत ज्ञानेश्वर ने अपनी गुरुपरम्परा कहते हुए यह भी निवेदन किया कि नामजपरूपी भक्ति आदिनाथ से अर्थात् शिव जी से चली आ रही है और शिव जी ने पार्वती जी को यही कानमंत्र दिया था। इससे वारकरी पंथ का नाथपंथसे सीधा सम्बन्ध जोड़ा गया। अन्ततो गत्वा संत ज्ञानेश्वर ने नाथपंथ को वारकरी पंथ में विलीन कर दिया। नाथ पंथ की महान् देन कृतज्ञ महाराष्ट्र कैसे भूल सकता है?

तीसरा अध्याय

आद्यकवि मुकुन्दराज

(ई० स० ११२७-१२००)

ज्ञात ऐतिहासिक तथ्य के अनुसार मुकुंदराज मराठी के आद्य कवि हैं। पर्याप्त विवाद के पश्चात् इनके जन्म तथा स्वर्गारोहण के वर्ष और निवासस्थान अभी अभी निश्चित किए गए हैं। श्री मुकुंदराज जी आम्बेजोगाई के राजा जयंतपाल के चचेरे भाई थे। आम्बेजोगाई वर्तमान बम्बई राज्य के मोमिनाबाद तालुके में एक देहात है। वहाँ जयंतपाल या जैत्रपाल राजा के समय के भग्नावशेष दिखाई देते हैं। वहाँ श्री मुकुंदराज जी की समाधि भी है। उक्त निपुत्रिक जैत्रपाल राजा ने अपने सारङ्गधर नामक भतीजे को राजा बनाने के उपरान्त उसे श्री मुकुंदराज जी द्वारा आध्यात्मिक उपदेश दिलाया। राजा सारङ्गधर को उपदेश देने के निमित्त मुकुंदराज जी ने शके १११२ (ई० स० ११९०) में 'विवेकसिंधु' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। विवेकसिंधु मराठी का पहला काव्यग्रंथ है। यह पूर्णतया परमार्थपरक है। इसकी शैली गुरु और शिष्य के संवाद की है। शिष्य परमार्थसम्बद्ध प्रश्न पूछता है और गुरु उनका अनेक दृष्टांत द्वारा तथा तर्क द्वारा समाधान करता है। उक्त ग्रन्थ मराठी के प्रसिद्ध ओवी छंद में रचा है। मुकुंदमुनि कहते हैं कि उन्होंने उक्त ग्रंथ में श्रीमदाद्य शङ्कराचार्य का मायावाद विवेचित किया है। वेदान्त जैसे गंभीर विषय का विवेचन परिचित दृष्टान्तों के द्वारा सुगम बन पड़ा है। भाषा सरल और प्रवाही है। यहाँ राजयोग का पूरा समर्थन मिलता है। प्रपञ्च में रहते हुए आध्यात्मिक साधना करना राजयोग है। जो प्रपञ्ची व्यक्ति आध्यात्मिक साधना में असमर्थ हैं उनके लिए सगुणोपासना की साधना कही गई है। साधारण जनों का चित्त आलंबन के सिवा स्थिर नहीं हो पाता अतः यहाँ सगुणोपासना की आवश्यकता बतायी गई है। एवम् 'विवेकसिंधु' परिणतप्रज्ञों और साधारणों के लिए समान रूप से उपयुक्त है। उक्त ग्रंथ में सद्गुरु का महत्व बार-बार कहा गया है। इसके अतिरिक्त जीव, ब्रह्म, माया, पञ्च महाभूत, सूक्ष्म

शरीर, उसके २५ सूक्ष्म तत्व, सगुण, निर्गुण, तत्त्वमसि इत्यादि का निरूपण व अन्ततो गत्वा सच्चिदानन्द की व्याख्या सुगम रीति से प्रतिपादित की है। इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध में सात और उत्तरार्ध में ग्यारह प्रकरण हैं। उत्तरार्ध में अधिकतर वेदान्त के सूक्ष्म, कारण, महाकारण इत्यादि गम्भीर विषयों का विस्तृत विवरण है। ग्यारहवें प्रकरण में मुकुंदराज जी ने अपनी गुरुपरम्परा कही है और गुरु की प्रशंसा की है। विवेकसिंधु के अठारह प्रकरण हैं और उनमें कुल १६७१ ओवियाँ हैं।

मुकुन्दराज जी का 'परमामृत' नामक दूसरा ग्रंथ भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में प्रायः उपर्युक्त आध्यात्मिक विषयों का विवेचन है परंतु शैली अधिक सरल, सुगम और संक्षिप्त है। सचमुच 'परमामृत' विवेकसिंधु का कनिष्ठ बंधु है। इसके प्रकरण तो हैं चौदह परंतु उनमें कुल ३०२ ओवियों हैं। पहले प्रकरण में गुरुवंदना और गुरु का महत्व वर्णन किया गया है। ग्रन्थकार के मतानुसार गुरु करना (अध्यात्ममार्ग में) अवश्यंभावी या कहिये अनिवार्य है। अन्य प्रकरणों में व्रत, यज्ञ, तप, ब्रह्म का स्वरूप, मन, बुद्धि, अहंकार, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अहं ब्रह्मास्मि, आत्मचिंतन इत्यादि वेदान्त विषयों का विवरण है। मुकुन्दराज जी अद्वैत का प्रतिपादन करते समय परब्रह्म के दोनों सगुण और निर्गुण स्वरूपों पर अपना दृढ़ विश्वास प्रगट करते हैं। इसमें उन्होंने भी साधारणजनों के लिए सगुणोपासना का उपदेश दिया है। गृहस्थों के लिए राजयोग की साधना का भी आप समर्थन करते हैं। संक्षेप में उक्त दोनों ग्रंथों में शांकर अद्वैत, योगानुभव (राजयोग) और सगुणोपासना का प्रतिपादन मिलता है। मराठी साहित्य के पहले दो ग्रंथों का अध्यात्मपरक होना स्वाभाविक ही है क्योंकि मराठी का पहला वाक्य श्री गोमटेश्वर के चरणों में उत्कीर्ण मिलता है अर्थात् मराठी भाषाभाषियों के लिए यह अभिमान का विषय है। क्योंकि मराठी भाषा ई० स० ११९० में इतनी प्रौढ और विकसित हो गयी थी कि उसके द्वारा वेदान्त जैसा गहन, गम्भीर और दुर्बोध विषय भी सर्वजनसुलभ और सरल बन सका। श्री मुकुन्दराज ने विवेकसिन्धु में अपनी गुरुपरम्परा कही है जिससे स्पष्ट होता है कि वे नाथ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे लिखते हैं—'आद्य गुरु श्री आदिनाथ थे। उनके शिष्य बने श्री हरिनाथ। श्री हरिनाथ के श्रेष्ठ शिष्य थे

श्री रघुनाथ। श्री रघुनाथ गुणसिंधु थे। और मुकुन्दराज के साक्षात् गुरु थे। श्री आदिनाथ जी भारतप्रसिद्ध नाथ सम्प्रदाय के संस्थापक गुरु थे। परन्तु नाथ-सम्प्रदाय की गुरुपरम्परा में श्री हरिनाथ व श्री रघुनाथ जी के नाम का निर्देश नहीं मिलता। अतः नाथ-सम्प्रदाय की अधिकृत या प्रामाणिक गुरुपरम्परा से श्री मुकुन्दराज जी की गुरुपरम्परा भिन्न है। संभव है कि आदिनाथ नाम के अन्य महापुरुष अथवा योगी हुए होंगे जिन्होंने भिन्न गुरुपरम्परा का प्रारम्भ किया होगा। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि मुकुन्दराज जी के उक्त दोनों ग्रंथों में नाथ-पंथ के योग का प्रभाव दृग्गोचर होता है। श्री मुकुंदराज जी के काल में महाराष्ट्र में नाथ-सम्प्रदाय पर्याप्त प्रतिष्ठा पा चुका था अतः उनका नाथसम्प्रदायी होना बिलकुल संभव है। कहते हैं कि उक्त ग्रंथों के अतिरिक्त मुकुंदराज ने 'पवनविजय' और 'पंचीकरण' ग्रंथों की रचना की थी परन्तु इनकी लेखनशैली पहले ग्रंथों की शैली से भिन्न होने के कारण अन्य मुकुन्दराज नामक कवि द्वारा उनका रचा जाना तर्कयुक्त प्रतीत होता है। आद्य कवि मुकुंदराज ने आध्यात्मिक एवं परमार्थविषयक काव्यग्रन्थ के प्रणयन की प्रणाली का यशस्कर श्रीगणेश किया। ओवी छंद में संवादशैली की नींव डाली।

पण्डित हेमाद्रि और बोपदेव

आद्यकवि मुकुन्दराज के पश्चात् बारहवीं शताब्दी में पंडित हेमाद्रि और बोपदेव बड़े ग्रंथकार हो गए। ये दोनों यादव वंश के शासन में उच्चाधिकारी थे। पंडित हेमाद्रि अपनी बहुमुखी प्रतिभा के लिए सुप्रसिद्ध हैं। वे प्रगाढ़ एवं प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए व्यवहार-कुशलशासक थे। महादेवराव और रामदेवराव यादवों के शासनकाल में उनका सर्वत्र प्रभाव था। उनको शासन की ओर से 'श्री करणाधिप' पदवी अर्पित की गई थी। वे श्रेष्ठ धर्मशास्त्री भी थे। वे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के कट्टर समर्थक थे और समूचे भारतवर्ष में व्रत-उपवास तथा नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठानों के लिये समान विधियों के प्रचलन पर जोर देते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने चतुर्वर्गचिंतामणि नामक बृहत् ग्रंथ का प्रणयन किया था। इस विशाल ग्रन्थ में हिंदुओं के व्रत, दान, तीर्थ, देवतापूजन, श्राद्धविधि, मुहूर्तनिर्णय, प्रायश्चित्त इत्यादि का पूरा विवेचन है। हिंदुओं में समान विधियों को प्रचलित करके वे

स्मृतिप्रणीत संस्कृति को दृढ़मूल करना चाहते थे। इस धार्मिक ग्रंथ के साथ उन्होंने व्यावहारिक विषय पर एक बड़ा उपयुक्त ग्रंथ लिखा जिसका नाम है लेखनकल्पतरु। इसमें पत्रलेखन-पद्धति का सुगम दिग्दर्शन है। इसकी शैली मिश्र (पद्य और गद्य युक्त) है। आपने पत्रलेखन की कई शैलियों का सोदाहरण विवेचन किया। उस काल में निःसंदेह उक्त ग्रंथ की निर्मिति अनूठी मानी गई होगी। हेमाद्रि समाजोपयोगी प्रतिभा के स्रोत थे। उन्होंने मराठी की शीघ्र लिपि मोडी का शोध करके उसको शासन द्वारा प्रयुक्त कराया। संक्षेप में पंडित हेमाद्रि ने धार्मिक और व्यावहारिक ग्रंथों की रचना करके मराठी का साहित्य समृद्ध किया। श्री बोपदेव उनके समकालीन, सहकारी, पंडित और भक्त थे। कहते हैं कि वे विदर्भ के निवासी थे। आपने प्रचुर और बहुविध ग्रंथों की रचना की। आपने व्याकरण, वैद्यशास्त्र, ज्योतिष, साहित्यशास्त्र और अध्यात्म पर उपयुक्त ग्रंथों का सफल प्रणयन करके अपनी बहुमुखी प्रतिभा का खूब परिचय दिया। आपने भागवत पर हरिलीला, मुक्ताफल, परमहंसप्रिया और मुकुट नामक चार भाष्यग्रंथों की सरस रचना की। आपने मराठी में भाष्य-ग्रंथ लेखन-प्रणाली का श्रीगणेश किया जो भविष्य में खूब फला और फूला। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों विद्वानों ने मराठी को प्रौढ़ बनाने में अच्छा हाथ बटाया।

चौथा अध्याय

महानुभाव-पंथ और उसका साहित्य

प्राचीन मराठी साहित्य की श्रीवृद्धि करने में महानुभाव-पंथ ने खूब हाथ बटाया। अतः उसका सूक्ष्म अध्ययन करना यहाँ अवश्यंभावी है। महानुभाव हिंदू धर्म का एक प्रमुख पंथ है। महाराष्ट्र के जन-साधारण में उपर्युक्त पंथ 'मानभाव' नाम से जाना जाता है। यह श्रीकृष्ण-भक्ति का पंथ है। आज भी पंजाब में तथा सीमाप्रांत में यह पंथ जयकृष्णी पंथ कहलाता है। यही पंथ 'महात्मा पंथ' 'अच्युत पंथ' 'भटमार्ग' 'परमार्ग' इत्यादि नामों से प्राचीन साहित्य में जाना जाता है। परन्तु सन्त एकनाथ जी के समय अर्थात् सोलहवीं शताब्दी से उक्त पंथ महाराष्ट्र समाज तथा साहित्य में मानभाव नाम से ही अधिक प्रचलित हुआ।

महात्मा चक्रधर (११९४-१२७४):—महानुभाव-पंथ के संस्थापक महात्मा चक्रधर महाराष्ट्रीय नहीं थे। वे गुजरात के रहनेवाले थे। ईसा की तेरहवीं शताब्दी में गुजरात के राजा त्रिमल्लदेव के प्रधान मंत्री विशालदेव के यह स्वनामधन्य, हरपालदेव पुत्र थे। भविष्य में यही हरपालदेव 'चक्रधर' नाम से विख्यात हुआ और उसने महानुभाव पंथ की स्थापना की। हरपालदेव मदन जैसा सुन्दर था। यथासमय उसका विवाह हुआ और वह दाम्पत्य-सुखोपभोग में मग्न रहने लगा। उसकी रति जैसी सुन्दर पत्नी का नाम था कमलाउसा। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सुन्दर युगल दृढ़ प्रेम से बद्ध था। हरपालदेव की श्रीकृष्ण के प्रति स्वाभाविक भक्ति थी। वह माता-पिता से भी बहुत प्रेम करता था। मित्रों के जाल में फँसकर वह जुआ खेलने में अपना समय और धन बरबाद करने लगा। एक दिन वह सब कुछ हार गया। जुआरियों ने उसे घर जाने से रोक दिया। परन्तु राजभवन से जल्दी पैसा ला देने का आश्वासन देने पर वह छोड़ दिया गया। राजभवन में आकर वह पत्नी से उसके सुवर्ण एवं रत्नों के अलङ्कार माँगने लगा। स्त्रियों का अपनी मायके की देन पर स्वाभाविक प्रेम रहता है। अतः कमला ने

अपने आभूषण देने से इन्कार कर दिया। अपनी प्रिय पत्नी के इस कठोर बर्ताव से हरपालदेव बहुत खिन्न हो गये। फलतः खाने-पीने की ओर वे उदासीन बने। नागपूर के समीप रामटेक नामक तीर्थक्षेत्र है। उसकी यात्रा के निमित्त उन्होंने प्रस्थान किया। एवम् हरपालदेव गृहत्याग कर महाराष्ट्र की ओर चल पड़े। कुछ मार्गातिक्रमण के बाद उन्होंने अपने साथियों को भी लौटा दिया और वे अकेले विदर्भ में प्रविष्ट हुए। यहाँ रितपूर के सिद्ध एवम् अवतारी पुरुष श्री गोविंदप्रभु का नाम सुनते ही वे उनके चरण-कमलों में जा पड़े। श्री गोविंद प्रभु ने अपनी शक्ति उन्हें प्रदत्त की और उनका नामान्तर किया। अब वे चक्रधर कहलाए। इसके पश्चात् चक्रधर ने समीपवर्ती सालबर्डी नामक पर्वत की गुफा में कई वर्षों तक कठोर तपश्चर्या की। संभवतः इसी तपस्या के काल में उन्होंने अपने तत्वज्ञान तथा कार्य को निश्चित स्वरूप दिया होगा। तत्पश्चात् वे अकेले भ्रमण करने लगे। भ्रमणावस्था में वे अपना मौलिक उपदेश स्थान-स्थान पर देते रहे। उनके उपदेशों की मौलिकता के कारण अनेक विद्वान् उनके प्रति आकर्षित हो गये। धीरे-धीरे महात्मा बुद्ध जैसा उनका शिष्य-परिवार बढ़ने लगा। एवम् अपने जीवन के अंतिम आठ वर्ष महात्मा चक्रधर महाराष्ट्र में भ्रमण करते रहे। शिष्यपरिवार की काफी वृद्धि होते ही आपने महानुभाव-पंथ की स्थापना की। महानुभाव-पंथ के वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध लोहा लेने से कई कट्टर वर्णाश्रमपंथीय उनके द्वेष्टा बने होंगे। किंवदन्ती है कि महात्मा चक्रधर जी की हत्या इन लोगों द्वारा की गई सन् १२७४ में, परन्तु महानुभाव सम्प्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है कि हत्या के पश्चात् चक्रधर जीवित होकर उत्तर की ओर चले गये।

महानुभावपंथ का तत्वज्ञान और आचार:—महात्मा चक्रधर के उपदेशों से अनायास स्थापित हुए महानुभाव-पंथ का तत्वज्ञान तथा आचार क्रांतिकारी था। उस समय समाज में नानाविध देवताओं की उपासना खूब बढ़ गई थी। महात्मा चक्रधर ने इसका विरोध किया। वे ईश्वर और देवताओं में भेद मानते थे। उनकी दृष्टि में ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है और देवता उसकी शक्तियाँ हैं। अतः ईश्वर की अपेक्षा देवताओं का स्थान गौण है। मानव देवताओं की उपासना से मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए उन्होंने केवल परब्रह्म परमेश्वर की उपासना पर ही जोर दिया। उन्होंने परमेश्वर के पाँच अवतार निश्चित

किए। वे हैं श्री कृष्ण, श्री दत्तात्रेय, गोविंदप्रभु के गुरु द्वारावतीकार चक्रपाणि, श्री गोविंद प्रभु और स्वयं चक्रधरजी। इन पंचकृष्णों की उपासना का ही उन्होंने उपदेश दिया। फलतः देवताओं के उपासक उनके विरोधी बने। चक्रधरजी ने स्त्रियों को संन्यास की दीक्षा देकर अपने पंथ में पुरुषों की बराबरी का स्थान उन्हें दिया। तत्कालीन वर्णाश्रमधर्मियों को यह सुधार भी खटकने लगा। महानुभावपंथ ने द्वैत का प्रचार किया। चक्रधरजी जीव और शिव के अद्वैत में विश्वास नहीं करते थे। यह पंथ पूरा द्वैतवादी है। अर्थात् शंकराचार्य द्वारा प्रचालित केवलाद्वैत का चक्रधर ने कड़ा विरोध किया। इस पंथ ने वेदों का अप्रामाण्य प्रतिपादन किया, क्योंकि वेद ऋषियों की रचना है, न कि परमेश्वर की उक्ति। इसके अतिरिक्त वेदों में बहुदेवोपासना का उपदेश है, जो कि उनके बुनियादी सिद्धान्त का विरोध करता है। अतः उन्होंने वेदों का विरोध किया। वेदों का विरोध याने वेदोक्त चातुर्वर्ण्य का विरोध। वेदोक्त यज्ञयाग में शूद्राति-शूद्र को ही नहीं, अपितु ब्राह्मणादि सभी वर्णों की स्त्रियों तक को दूर रखा है। अतः सामाजिक या धार्मिक समता प्रस्थापित करने के हेतु से इस पंथ में चातुर्वर्ण्य का कड़ा विरोध है। अपने शिष्यों को सभी के यहाँ का भिक्षान्न ग्रहण करने की और खाने की अनुमति देकर चक्रधर ने भोजन-संबंधी निषेध पर बड़ा प्रहार किया। स्त्री-पुरुषों की समानता प्रस्थापित करने बाद इस पंथ ने छूताछूत पर तीव्र आघात किया। स्वयं चक्रधरजी अस्पृश्यता को नहीं मानते थे। एक मातंग के हाथ का खाने में उन्हें कुछ भी झिझक नहीं मालूम पड़ी। स्वयं खाकर उन्होंने अपने अनुयायियों को अछूतों के हाथ से खिलाया, चक्रधरजी स्त्रियों के मासिक-धर्म की अस्पृश्यता भी नहीं मानते थे। चक्रधर-प्रणीत संप्रदाय का वर्णन करते हुए एक महानुभाव कवि ने कहा 'अहिंसा, निःसंगता, निवृत्ति, भक्तियोग आदि से युक्त चक्रधर स्वामी के परमार्ग को मैं वंदन करता हूँ।' अहिंसा के साथ संन्यास को भी उन्होंने प्रधानता दी थी। उन्होंने श्रीदत्तात्रेय, श्रीकृष्ण, श्रीचक्रपाणि, श्रीगोविंदप्रभु और चक्रधर को परमेश्वर के पाँच साकार अवतार बताकर उनकी सगुणपूजा का पंथ चालू किया। यह पंथ सगुणवादी है। महानुभाव संन्यासियों को भिक्षुक-वृत्ति से रहना, नित्य भ्रमण करना और संयत जीवन व्यतीत करना आवश्यक था। मोक्षप्राप्ति के दो साधन माने गए हैं। प्रज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्ग। इसमें

ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को ही अधिक पसंद किया गया है। पंथ मुख्यतः साधकों का और मुमुक्षुओं का ही है।

एवम् महानुभाव पंथ का तत्त्वज्ञान और आचार तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति में क्रान्तिकारी था। चन्द दिनों में महात्मा चक्रधरजी के प्रकाण्ड विद्वान ब्राह्मण शिष्य बने। प्रारम्भ में जनसाधारण भी इस पंथ की ओर आकर्षित हुये, परन्तु सन्निकट भविष्य में महानुभाव पंथ की लोकप्रियता जाती रही। उक्त पंथ में संन्यास एवम् निवृत्तिवाद पर अत्यधिक जोर देने के कारण उसका आचरण साधारण जनों के लिए कष्टदायक हो गया। वैदिकों की भोग-लोलुपता एवम् कर्मकाण्ड का विरोध करने के आवेश में महानुभावपंथ जीवन-पराङ्मुखता के दूसरी छोर तक चला गया जिससे वह लोकविमुख बना। रजस्वला स्त्री को अस्पृश्य न मानना, स्त्रियों को संन्यास की दीक्षा देकर उनका शिर मुँडाना, प्रेत को मुसलमानों के समान मट्टी में गाड़ना और विशिष्ट वस्त्र पहनना इत्यादि विचित्र प्रथाओं के कारण हिंदू जनता उससे दूर होती गई। महानुभाव विद्वानों ने नई और गुप्त लिपियों का आविष्कार करके अपने ग्रंथों का पठन और पाठन गैर महानुभावियों के लिए अशक्य सा कर दिया। इन सब कारणों का स्वाभाविक परिणाम पंथ की लोकप्रियता अत्यधिक क्षीण होने में हुआ।

पंथ की साहित्यिक देन :—उपर्युक्त वैचारिक देन के सदृश महानुभाव-पंथ की साहित्यिक देन बहुत ही महत्व की है। महात्मा चक्रधरजी ने जन्म से गुजराती होते हुए भी मराठी-भाषा का अविस्मरणीय उपकार किया। उनका महाराष्ट्र तथा मराठीभाषा पर अटूट प्रेम था। 'महाराष्ट्र देश में रहें' यह उनकी अपने अनुयायियों को आज्ञा थी। उन्होंने अपना उपदेश मराठी भाषा में ही दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने मराठी को धर्मभाषा के रूप में स्वीकार किया। मराठी को संस्कृत के समान ऊँचे स्थान पर स्थापित किया। तत्पूर्व संस्कृत को देववाणी का अत्युच्च स्थान प्राप्त था। परन्तु महानुभावपंथ के पश्चात् स्थापित हुए पंथों को मराठी में लिखना या कहना अनिवार्य हो गया। जिस मात्रा में अन्य प्रदेशों में महानुभावपंथ का प्रचार हुआ उस मात्रा में मराठी भाषा का भी प्रचार बढ़ा। महानुभावपंथ पंजाब और काबुल तक फैला था। अतः उक्त स्थानों में अब भी मराठी भाषा के शब्द पाये जाते हैं। आद्य मराठी साहित्य की अभिवृद्धि में महानुभावों ने ठोस कार्य किया। मराठी की

सरस्वती पर उन्होंने अनेक गद्यपद्यरूपी मूल्यवान अलंकार चढ़ाये। मराठी के प्राचीन गद्य का पितृत्व महानुभावों की ओर ही जाता है। प्रबंध काव्य का जनकत्व उनको ही अपनाता है। मराठी का पहला चरित्रग्रंथ उनकी ही सृष्टि है। पहला व्याख्या या भाष्य-ग्रंथ उन्होंने ही रचा। सूत्रग्रंथ का श्रीगणेश उन्होंने ही किया। अतः उनकी कुछ आद्य एवम् मौलिक रचनाओं की जानकारी प्राप्त करना उचित है।

लीलाचरित्र (सन् १२७८):—यह प्राचीन मराठी गद्य का आद्यग्रंथ है। श्री चक्रधरजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् केवल पाँच वर्षों में उनके प्रकाण्ड विद्वान अनुयायी म्हाइंभटजी ने उनका चरित्र लिखा, जो लीलाचरित्र नाम से प्रसिद्ध है। उक्त ग्रन्थ में श्री चक्रधरजी की कुल ११०९ लीलाएँ संकलित हैं। इन लीलाओं के द्वारा उनके चरित्र का भक्तियुक्त और आकर्षक कथन किया गया है। जैसे प्रसिद्ध आंग्ल चरित्रकार बॉशवेल ने अपने गुरु डॉ॰ जॉनसन का चरित्र अतीव आत्मीयता से लिखा वैसे ही म्हाइंभट ने गुरु चक्रधरजी का लिखा। दोनों को भी गुरुजी के सहवास का लाभ प्राप्त हुआ था। अतः उक्त चरित्र में प्रामाणिकता ओतप्रोत है। इसके अतिरिक्त उक्त चरित्र की सामग्री इकट्ठा करने में परिश्रमी म्हाइंभट ने कुछ भी उठा न रखा। वे अनेक व्यक्तियों से मिले, बीसों गाँव गए, और चक्रधरजी से सम्बद्ध जितनी जानकारी प्राप्त करनी थी उतनी प्राप्त की एवम् ११०९ कथाओं में उन्होंने उक्त चरित्र गूँथा। चरित्र की भाषा सरल, प्रसन्न और प्रवाही है। चरित्र पढ़ते ही चरित्रनायक श्री चक्रधरजी की मूर्ति आँखों के सामने खड़ी रहती है। चरित्र सामयिक परिस्थिति का जीवित चित्र प्रस्तुत करता है। चरित्रलेखक की आस्था व भाषा की प्रसन्नता. सराहनीय है। जो बॉसवेल कृत डॉ० जानसन के चरित्र का स्थान अंग्रेजी चरित्र एवम् गद्य वाङ्मय में है, वही स्थान प्राचीन मराठी चरित्रों एवं गद्य में लीला-चरित्र का है। चरित्र-नायक की कथाएँ बड़ी सूचक और स्वभाव-दर्शी हैं। इसी प्रकार श्रीचक्रधरजी के गुरु श्रीगोविंदप्रभु का भी चरित्र उक्त लेखक ने लिखा। वह 'ऋद्धिपूरचरित्र' नाम से प्रसिद्ध है। श्री म्हाइंभटजी ने श्री गोविंदप्रभु से सम्बद्ध सैकड़ों आख्यायिकाएँ, लीलाएँ इकट्ठी करके उक्त चरित्र का आकर्षक लेखन किया। इसमें विदर्भ के अनेक स्थलों व गाँवों के महत्वपूर्ण उल्लेख हैं। उक्त चरित्र विदर्भ की मराठी बोली में बड़ी सरलता से

लिखा है। दोनों चरित्रों का प्रणयन करके म्हाइंभट ने मराठी के चरित्र-वाङ्मय की नींव डाली।

सूत्रपाठ (१२८५):—श्री चक्रधरजी के चुने हुए वचनों की सूत्रमय संहिता का नाम सूत्रपाठ है। ये वचन उपर्युक्त 'लीलाचरित' से ही लिये गये हैं। इसके रचयिता श्री केशव व्यास हैं। इसमें १८६२ सूत्र देकर उनका लीलाओं के आधार से रोचक स्पष्टीकरण किया गया है। यह महानुभावों का वेद, गृह्यसूत्र और उपनिषद है। महानुभावों का पूरा तत्वज्ञान इसमें भरा है। इसकी भाषा सरल और प्रौढ़ अर्थ से युक्त है। यह ग्रन्थ अनेक ग्रन्थों का स्रोत है। इसकी व्याख्या करने के हेतु निम्न-लिखित प्रकार के ग्रन्थ भविष्य में रचे गए। प्रत्येक सूत्र का उसकी लीला से संबंध दिखानेवाले ग्रन्थ को 'लापणिक' कहते हैं। प्रत्येक सूत्र पर पदक्रम के अनुसार व्याख्या करनेवाले ग्रन्थ को 'स्थल-ग्रन्थ' कहते हैं। प्रत्येक सूत्र के प्रसंग का वर्णन करनेवाले ग्रन्थ को 'प्रकरणवश' कहा जाता है और हेतु का दिग्दर्शन करनेवाला ग्रन्थ 'हेतुस्थल' कहा जाता है। भीष्माचार्य नामक वैयाकरण ने 'सूत्रपाठ' के अंतर्गत वचनों के और शब्दों के व्याकरणसम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए 'पंचवार्तिक' नामक व्याकरण ग्रन्थ लिखा। संक्षेप में म्हाइंभटद्वारा रचित चरित्र-ग्रंथों से चुने हुए वचनों के आधार पर सूत्रपाठ, दृष्टान्तपाठ और सूत्रों के हेतु तथा पदपदान्वय के सहित स्पष्टीकरणात्मक व्याख्या-ग्रंथ, महानुभावों के प्रमुख एवं आद्य गद्य ग्रन्थ हैं। इनमें प्रमुखता से चरित्रग्रन्थ, तत्वज्ञानपरक ग्रन्थ तथा व्याकरण ग्रन्थों का समावेश होता है। एवं सूत्रपाठ ने कई मौलिक ग्रन्थों को जन्म दिया। इससे महानुभावों के गद्यग्रन्थों की विविधता स्पष्ट होती है। मराठी-भाषाभाषियों को उक्त संपन्न गद्य पर गर्व है। उसकी प्राचीनता एवं प्रौढ़ता मराठी का गौरव है।

महानुभावों का कृष्ण-काव्य:—इस पंथ ने मराठी में श्रीकृष्ण-काव्य की धारा प्रथम बहाई, जिसे तीन सौ वर्ष के पश्चात् वामनपण्डित ने पुष्ट किया। इस पंथ के कवियों ने निम्नलिखित सात काव्य-ग्रंथों की सफल रचना की। इन ग्रंथों की साहित्यिक श्रेष्ठता निर्विवाद है। मराठीसाहित्य के इतिहास में ये काव्यग्रन्थ अपनी विशिष्टता रखते हैं।

(१) वत्सहरण (१२७८):—इस कथाकाव्य के रचयिता हैं कवि दामोदर

पण्डित। इस प्रकांड विद्वान् ब्राह्मण ने अपनी पत्नी के साथ महानुभाव पंथ की दीक्षा ली थी। महानुभाव होने के कारण वे कृष्णभक्त थे। उन्होंने उक्त प्रदीर्घ रचना में श्रीकृष्ण के द्वारा किए अघासुरवध का और ब्रह्मदेव के द्वारा किए गोपालों के बछड़ों के हरण का रम्य वर्णन किया। ब्रह्मदेव की इच्छा हुई कि परीक्षा लेकर बालकृष्ण को अवतार माना जाय। अतः उन्होंने ब्रज में जाकर गोपालों के बछड़े छीन लिए। गोपालों ने आक्रोश किया। तब श्रीकृष्ण ने उन बछड़ों को ब्रह्मदेव के हाथों से मुक्त करके गोपालों को पुनः दे दिया। बाल-कृष्ण की शक्ति और प्रताप देखकर ब्रह्मा को विश्वास हो गया कि वह अवतारी बालक था। इसलिए इसको वत्सहरण कहते हैं। अघासुरवध का वर्णन भी अतीव वास्तव और रसोत्पादक है। यह मराठी का पहला प्रबन्ध काव्य है। बाल-गोपालों की बालक्रीडाओं का मनोहारी दृश्य कवि ने उपस्थित किया है। निसर्ग का, प्रकृति का वर्णन हृदयग्राही है। वत्सहरण के प्रसंग पर रचा हुआ यह मराठी का एक ही काव्य है। इसमें तद्भव शब्दों की भरमार है। इसकी कुल ओविएँ ५०२ हैं। यह लघुकाव्य अलंकारों से ओतप्रोत है।

(२) **रुक्मिणी-स्वयंवर** (सन् १२९२):—नरेन्द्रकवि का यह उत्कृष्ट काव्य है। इसकी २२९७ ओविएँ हैं। इसका विषय भागवत के दशम स्कंध से तथा पद्मपुराण से लिया गया है। इसी विषय पर भविष्य में कवि विट्ठल ने और संत एकनाथ ने प्रदीर्घ रचनाएँ कीं परन्तु नरेन्द्र की कृति अपनी विशेषता रखती है। इसमें जहाँ-तहाँ प्रकृति का हृद्य वर्णन है। उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, रूपक, अपह्नुति इत्यादि अलंकारों की उचित योजना है। रुक्मिणी की विरहावस्था का वर्णन अतीव रसीला और वास्तव है। चरित्रचित्रण प्रभाव-कारी है। नरेन्द्र ने अपनी संगीतकला एवं वास्तुकला की जानकारी का अच्छा परिचय दिया। कल्पना-विलास तथा रसोत्कटता की दृष्टि से उक्त काव्य उत्कृष्ट है। इसके बाईस प्रकरण हैं और उनकी ओविएँ २९९७ हैं। इसके पूर्वार्ध की रचना करने के पश्चात् उन्होंने महानुभाव-पंथ में प्रवेश किया था अतः पूर्वार्ध पर हिंदू सनातनपन का प्रभाव है। जब कवि नरेन्द्र ने यह काव्य राजा रामदेवराव यादव के दरबार में पढ़ा तब रामदेवराव इतने मोहित या लुब्ध हो गये कि उन्होंने उक्त काव्य उससे माँग लिया। भावुक नरेन्द्र अति उदासीन हो गए। अन्ततो-गत्वा संन्यास स्वीकार कर वे महानुभावों के

द्वितीयाचार्य नागदेवाचार्य के शिष्य बने। काव्यमर्मज्ञ राजा रामदेवराव ने उक्त काव्य की उत्कृष्टता पर अपना हर्ष प्रकट किया था अतः उसकी योग्यता के विषय में अधिक क्या लिखा जाय। हम निःशंक कह सकते हैं कि कवि नरेन्द्र ने मराठी में प्रबन्ध-काव्यों की खूब वृद्धि की।

(३) **शिशुपालवध** (सन् १३०६):—कवीश्वर भास्करभट्ट बोरीकर कृत यह मराठी का दूसरा और सर्वगुणसंपन्न शृङ्गाररसप्रधान प्रबंध-काव्य है। शिशुपालवध की कथा महाभारत में, हरिवंश में और भागवत में आई है। उसके आधार से कवीश्वर ने यह काव्य रचा। ऐसा दीख पड़ता है कि उक्त कवि संस्कृत के महाकवि माघ का अनुकरण करने की चेष्टा कर रहा था। नारदागमन, द्वारका-वर्णन, ऋतु-वर्णन, जलक्रीडा-वर्णन, युद्ध-वर्णन इत्यादि प्रसंगों के वर्णन माघ के 'शिशुपालवध' से लिए हुए प्रतीत होते हैं। परन्तु उनका वर्णन कवीश्वर बोरीकर ने अपनी स्वतंत्र उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि अलंकारों द्वारा किया है। चरित्रचित्रण में कवीश्वर बोरीकर बहुत सफल रहे। श्री कृष्ण, बलराम, उद्धव इत्यादि का चरित्रचित्रण बहुत ही वास्तव और रम्य है। इसके अतिरिक्त नारद और उद्धव का विनोद, श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का प्रेम-कलह, विरहिणी गोपियों की हृदयद्रावक अवस्था का वर्णन कवीश्वर भास्कर की स्वतंत्र प्रतिभा का द्योतक है। इस प्रबंधकाव्य का प्रधान रस है शृंगार, परन्तु उसका साथ है वीर और हास्य रसों से। यह रचना शृंगार-रस की शिल्पकृति है। जब कवीश्वर भास्कर ने उक्त रचना पंथ के (गुरुबंधु) भावेदेव-व्यास को सुनाई तब वे कह पड़े कि 'कवीश्वर, यह काव्य-ग्रन्थ उत्कृष्ट है परन्तु प्रवृत्तिपरक है। इसमें निवृत्ति को स्थान नहीं रखा गया है।' गुरुबंधु की उक्त सम्मति कवीश्वरजी को चुभ गई। वे सिद्ध कवि थे। किसी भी रस की रचना करना उनके लिए सुलभ था। अतः उन्होंने निवृत्तिपरक अर्थात् शान्त-रसप्रधान दूसरी श्रेष्ठ रचना की। उसका नाम है उद्धवगीता या **एकादश स्कन्ध**। महर्षि व्यासकृत श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के आधार पर उक्त काव्य रचा गया। उद्धव-गीता में प्रतिपादित तत्वज्ञान केशवव्यासकृत 'मूर्तिप्रकाश' (सन् १२८९) नामक तत्वज्ञान-युक्त ग्रंथ से लिया हुआ है। इस ग्रन्थ में कवीश्वर ने सब रसों का सफल निर्वाह किया। परन्तु प्रधान रस है शान्त (निवृत्ति)। उक्त निवृत्तिपरक काव्य पढ़ते ही आचार्य भावेदेव

व्यास ने अपनी प्रसन्नता प्रगट की। एवं कवीश्वर भास्कर ने शृंगार तथा शान्त रस की रचनाएँ करके मराठी का काव्य समृद्ध किया। कवीश्वर की आध्यात्मिक योग्यता भी सराहनीय थी। अतः वे महानुभाव पंथ के तृतीयाचार्य बने। कवीश्वर भास्करभट्ट उद्भट विद्वान थे। उन्होंने 'उद्धवगीता' में श्रीकृष्ण की वाणी से उद्धव को ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का प्रभावकारी उपदेश दिलाया, परन्तु इनमें भक्ति का ही विशेष समर्थन मिलता है। उक्त दो काव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त कवीश्वर ने चक्रपाणिचरित्र, दत्तात्रेयचरित्र, गीता-टीका, ईशस्तुति और विरहाष्टक काव्यग्रंथों की रचना की। आप 'निर्यमक' पद्य के प्रवर्तक हैं। वैसे ही आपने मराठी के गद्य को भी 'श्रीकृष्णचरित्र' लिखकर पुष्ट किया। आपके सब ग्रन्थ बड़ी श्रद्धा से पढ़े जाते हैं।

(५) ज्ञानप्रबोध (सन् १३३१):—पण्डित विश्वनाथ बालपूरकर ने इस स्वतन्त्र काव्य की रचना की। इसकी ओविएँ १२५ हैं। श्रीभगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में ज्ञान के 'अमानित्वादि' जो लक्षण कहे गए हैं उनका सरस स्पष्टीकरण इसमें मिलता है। काव्य प्रौढ़ है।

(६) सह्याद्रिवर्णन (सन् १३३२):—यह श्रीदत्तात्रेय का 'लीला-चरित्र' है। इसके कर्ता खलोव्यास हैं। पंथ के परमेश्वर का यह लीलास्थान है। अतः पंथानुयायी इसे श्रद्धा से पढ़ते हैं।

(७) श्री ऋद्धिपूरवर्णन (सन् १३६३):—इसके रचयिता हैं पण्डित नारायणव्यास बहालिये। महानुभावपंथ के पवित्रतम तीर्थ क्षेत्र (ऋद्धिपूर) का इसमें अतीव रसीला वर्णन है। अर्थात् यहाँ शान्त-भक्तिरस की ही सृष्टि है। यह स्थलवर्णनपरक काव्य है, परन्तु कवि ने अपनी श्रद्धा से उसे रसयुक्त बनाया है। इसमें प्रकृति का वर्णन सराहनीय है। श्री गोविन्द प्रभु की मूर्ति का वर्णन तो इतना रसयुक्त है कि उसे पढ़ते समय पाठक तन्मय हो जाता है। अतः महानुभावों के आदर का भाजन उक्त काव्य ग्रन्थ बना है। यह आभ्यन्तरिक काव्य का आदर्श है।

ऊपर महानुभावों के प्रसिद्ध 'साती ग्रन्थों' की संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत की गयी। उनका विहंगमावलोकन इस प्रकार किया जा सकता है—केवल कवित्व और रसिकता की दृष्टि से नरेन्द्र का 'रुक्मिणी-स्वयंवर' सर्वश्रेष्ठ है। कवीश्वर के 'शिशु-

पालवध' का क्रम उसके बाद आता है। दोनों में कल्पना का वैभव, भावनाओं की आर्द्रता तथा काव्यालंकारों का उत्कर्ष अत्यधिक परिमाण में दिखाई देता है। 'ऋद्धिपूरवर्णन' प्रदीर्घ भावगीत का सुन्दर उदाहरण है। 'उद्धवगीता' और 'ज्ञानप्रबोध' तत्वज्ञानात्मक काव्य हैं। शेष चार कथात्मक काव्य हैं। परन्तु तत्वज्ञानात्मक काव्यों में भी काव्यगुणों की भरमार है। इन काव्यों की रचना से मराठी का भारी उपकार हुआ। इसके अतिरिक्त मराठी की आद्य कवयित्री महदंबा की धवले नामक काव्य-कृति है। महदंबा पंथ के आचार्य नागदेवाचार्य की चचेरी बहन थी। उसने भाई के साथ पंथ में प्रवेश किया था। श्रीगोविन्द प्रभु का उस पर अत्यधिक प्रेम था। उक्त कथाकाव्य की रचना सन् १२८४ में हुई। महदम्बा शीघ्र एवं सिद्ध कवयित्री थी। एक समय श्री गोविन्दप्रभु ने रुक्मिणीविवाह का समारोह ऋद्धिपूर में सम्पन्न किया। वे स्वयं श्रीकृष्ण बने। महाराष्ट्र में विवाह के समय वर-वधू को साथ नहलाया जाता है। यह बड़ी आकर्षक और स्निग्ध विधि है। नहाते समय वधू-वर के प्रति गीत गाये जाते हैं, जिनमें उनके गुणों की प्रशंसा भरी रहती है। उक्त समय श्रीकृष्ण ने (श्री गोविन्दप्रभु ने) महदंबा को विवाहवर्णन परक गीत गाने की अकस्मात् आज्ञा दी। वास्तव में महदंबा ने इसके पूर्व काव्य की रचना बिलकुल नहीं की थी, परन्तु श्री गोविन्दप्रभु की (वर, श्रीकृष्ण की) आज्ञा होते ही उसके मुँह से काव्य-पंक्तियाँ निकल पड़ीं और उसने लगभग १४० लघु गीत लगातार गा कर सबको मुग्ध कर दिया। इन गीतों के संकलन को 'धवले' कहते हैं। 'धवले' का अर्थ है वरविषयक गीत। इसके पश्चात् महदम्बा ने और सौ गीतों की रचना की। धवलों की कुल संख्या है २३८। उक्त गीतों में रुक्मिणी के विवाह की आह्लाददायी कथा अतिरमणीक शैली में वर्णित है। रचना सरल, कोमल, प्रसन्न और रसीली है। रुक्मिणी का चरित्र-चित्रण आकर्षक है। स्त्रीसुलभ गुणों से उक्त काव्य ओत-प्रोत है। वास्तव में यह उत्स्फूर्त और प्रासंगिक रचना है। उसमें श्रमसाध्य रचनाशिल्प का पूरा अभाव है। परन्तु उत्स्फूर्त होने से ही वह नैसर्गिक काव्य है। कवयित्री महदम्बा का इसी विषय पर 'मातृकी' नामक दूसरा प्रदीर्घ काव्य है। उसकी विशेषता यह है कि प्रथम श्लोक अ से प्रारंभ होता है और अंतिम 'ह' से। इसीलिए महदम्बा को मराठी की पहली कवयित्री बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मराठी की आद्य कवयित्री मराठी भाषियों के लिए परम आदर का पात्र है।

इसके अतिरिक्त केसोबास का 'मूर्तिप्रकाश' (सन् १२८४), हयग्रीवबास का गद्यराजस्तोत्र, संतोषमुनि कृष्णदास का 'रुक्मिणी स्वयंवर' आदि काव्य अपना विशेष स्थान रखते हैं। कवि कृष्णमुनि का 'रुक्मिणी-स्वयंवर' और ओंकार मुनि का 'लक्ष्मणा-स्वयंवर' अनेक वृत्तों में (छन्दों में) रचे हैं। इनमें चार अक्षरों के वृत्तों से (छन्दों से) लेकर छब्बीस अक्षरों के वृत्तों तक अनेक वृत्तों की योजना कवियों ने बड़ी कुशलता से की। आद्य कवयित्री महदंबा के 'धवलों' का छंद तो सर्वथा स्वतंत्र है। स्वतंत्र छंद में रचना होने के कारण उनका अनोखा महत्व है।

केसोबास कृत 'मूर्त्तिप्रकाश' का अपना एक स्थान है। वैसे ही भावेदेव व्यास कृत 'पूजा अवसर' का। एवम् महानुभावियों द्वारा निर्मित साहित्यसंपदा विविध प्रकार की है। इसमें पद्य तथा गद्य हैं, चरित्र-ग्रंथ हैं, सूत्रात्मक रचनाएँ हैं, तत्वज्ञानपरक गंभीर ग्रंथ हैं, स्पष्टीकरणात्मक आलोचनायें हैं, निर्यमक श्लोक हैं, वर्णनात्मक भावगीत हैं, अनेक वृत्तों का प्रदर्शन करनेवाले काव्य हैं। महानुभाव कवियों ने प्राचीन मराठी में श्रीकृष्ण-काव्य की प्रबल एवं मनोहारी धारा बहाई। श्रीकृष्णपंथ के अनुयायियों के लिए वैसा करना स्वाभाविक ही था। किन्तु श्रीकृष्णकाव्यों की अमूल्य देन देकर उन्होंने मराठी साहित्य का अनूठा उपकार किया।

संक्षेप में महानुभाव साहित्य में पंथ के तत्वज्ञान के साथ बुद्धि का प्रकर्ष, भावना की उत्कटता, पांडित्य की गहराई, भाषाशैली की प्रौढता एवम् प्रसन्नता और रचना करने के कौशल इत्यादि साहित्यिक गुणों का मनोहर संगम दिखाई देता है। कवीश्वर भास्कर, नरेन्द्र और दामोदर ऊँची योग्यता के पंडित कवि थे। उनकी रचनाएँ प्रौढ होने से साधारण जनों तक पहुँच नहीं सकीं। अतः सन्निकट भविष्य में वारकरी सम्प्रदाय के सन्त कवियों ने लोकप्रियता में उन पर सरलता से विजय प्राप्त की। यहाँ चौदहवीं शताब्दी तक के महानुभाव साहित्य का समालोचन समाप्त होता है।

पाचवाँ अध्याय

वारकरी-सम्प्रदाय और उसका साहित्य

महाराष्ट्र के पाँच प्रमुख सम्प्रदायों में वारकरी सम्प्रदाय श्रेष्ठतम है। हजार वर्षों से इसकी धारा बह रही है और दिन प्रति दिन प्रबल हो रही है। इसका आम जनता में इतना व्यापक प्रचार है कि इसे महाराष्ट्र का भक्तिधर्म कहना अनुचित न होगा। अभी महाराष्ट्र की काशी, पंढरपुर में वर्ष में दो बार (आषाढ़ी एकादशी और कार्तिकी एकादशी पर) लाखों वारकरी इकट्ठा होकर भगवद्भजन में तल्लीन हो जाते हैं। भिन्न जातियों के भक्त अपनी जाति का अभिमान छोड़कर नाम संकीर्तन में मग्न होते हैं और भक्ति का आनन्द लूटते हैं। जन-सागर में भक्ति की लहरें उमड़ आती हैं। सारा वातावरण नाम-संकीर्तन से गूंज उठता है। ऐसा लगता है कि पुराण में वर्णन किये वैकुंठ को संतों ने इस धरातल पर इसी स्थान के रूप में लाया है। मराठी के प्राचीन साहित्य पर इस पंथ के सन्त कवियों का अमिट प्रभाव है। उसकी श्री-वृद्धि करने में उन्होंने प्रमुखता से हाथ बटाया। इसलिए वारकरी-पंथ के उद्गम, विकास, तत्व-ज्ञान और आचार के संबंध में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

वारकरी का शब्दार्थ है वारी (यात्रा) करी (करने वाला) = यात्रा करने वाला, पर महाराष्ट्र में धार्मिकदृष्टि से उसे वारकरी कहते हैं जो पंढरपुर स्थित श्री विट्ठलमूर्त्ति का उपासक है और आषाढ़ तथा कार्त्तिक शुक्ल एकादशी को नियमित रूप से पंढरपुर की यात्रा कर उक्त मूर्त्ति के दर्शन करता है। यह यात्रा (वारी) प्रत्येक मास की एकादशी को भी की जाती है। ये वारकरी भक्त विट्ठल (पांडुरंग) को प्रिय तुलसी की माला कंठ में धारण करते हैं अतः उन्हें मालकरी भी कहते हैं। श्रीमद्भागवत में जो भक्त परमेश्वर को सर्वस्व अर्पित करता है उसे भागवत कहा गया है। वारकरी श्री विट्ठल को सर्वस्व अर्पण करता है अतः वह भागवत कहलाता है। अतः इसका दूसरा नाम भागवत पंथ भी है।

वारकरी संप्रदाय का प्रारम्भ कब हुआ निःसंदेह कहना कठिन है, परन्तु संत ज्ञानेश्वर, संत नामदेव और संत तुकारामादि वारकरी कवियों के कहने से सिद्ध

होता है कि संत पुंडलिक के लिए भगवान कृष्णचन्द्र ने विट्ठल का अवतार धारण किया था। संत पुंडलिक का काल अभी तक निश्चित नहीं किया गया है। इतिहासाचार्य वि० का० राजवाड़े के अनुसार भक्त पुंडलिक का काल सन् ११२८ के लगभग आता है, पर अन्य तथ्यों से उनका काल बहुत पूर्व सिद्ध होता है। संत ज्ञानेश्वर और संत नामदेव ने अपने अभङ्गों में कहा 'हमारे पूर्व अनेक भक्त हो गये और अट्ठाईस युगों से विट्ठल भगवान ईंट पर खड़े हैं।' संक्षेप में इस संतद्वय के बहुत पूर्व भक्त पुंडलिक रहे। संत नामदेव का जन्म सन् १२७० में हुआ और सन्त ज्ञानेश्वर का सन् १२७२ में हुआ। इसके पूर्व अट्ठाईस युग याने बहुत प्राचीन काल होता है। चाहे जितना प्राचीन काल हो पर इतना निश्चित है कि भगवान विट्ठल के रूप में पुंडलिक को आशीर्वाद देने आए थे। ईंट को मराठी में वीट कहते हैं। अतः विट्ठल का अर्थ है ईंट पर खड़ा रहने-वाला। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ईंट पर क्यों खड़े रहे? किंवदन्ती के अनुसार प्राचीन काल में पुंडलिक नामक मातृपितृ-भक्त ब्राह्मण भीमा नदी के किनारे रहता था। उसकी एक-निष्ठ मातृपितृ-भक्ति से प्रसन्न होकर श्रीकृष्णचन्द्र उसे दर्शन देने के लिए पधारे। मातृपितृ-भक्ति में मग्न होने के कारण भक्त पुंडलिक का ध्यान भगवान की ओर नहीं गया। जब किसी ने उसको कहा कि भगवान स्वयं तेरे लिए पधारे तब पुंडलिक ने पास पड़ी हुई ईंट उठाई और भगवान की ओर फेंक कर कहा 'महाराज कृपा करके इस ईंट पर खड़ा रह करके विश्राम कीजिए। मेरी पितृ-सेवा समाप्त होते ही आपकी पूजा करूंगा।' श्रीकृष्णचन्द्र पुंडलिक की मातृभक्ति से तथा शुद्ध भाव से संतुष्ट हो गए। वे दोनों पैर जोड़ कर ईंट पर खड़े हो गए और कमर पर दोनों हाथ रखकर उसकी ओर ताकते रहे। बस यही 'खड़ा ईंट पर हाथ कमर पर' विट्ठल मूर्ति का स्वरूप है। एवं केवल भक्ति से आकर्षित भगवान विट्ठल के रूप में अवतीर्ण हुए। इसमें अन्य कोई कार्य-कारण संबंध नहीं है। भगवान विष्णु ने अन्य सब अवतार धर्म एवं संतों की रक्षा के लिए धारण किये थे। पर महाराष्ट्र में भक्तों का विश्वास है कि केवल प्रेम के लिये ही प्रेमस्वरूप विट्ठल भगवान यहाँ विराजमान हैं। वारकरीसम्प्रदाय इन्हीं प्रेमस्वरूप भगवान का उपासक है। श्रीविट्ठल की प्रतिमा या मूर्ति के हाथों में श्रीविष्णु के चक्र और पद्म चिह्न हैं। श्री विट्ठल के शिर पर शिवलिङ्ग का चिह्न देखकर कोई उसे शैव-देवता मानते हैं। इसका उल्लेख संत ज्ञानेश्वर ने अपनी भावार्थदीपिका

में किया। सच बात तो यह है कि वारकरी-सम्प्रदाय वैष्णव और शैवों में सामञ्जस्य स्थापित करने की दृढ़ राय का था, और है। उसके सहिष्णुता और अहिंसा दो बुनियादी सिद्धान्त हैं। इसीलिए महाराष्ट्र में शैव और वैष्णव में संघर्ष न हो सका। महाराष्ट्र के वारकरीसम्प्रदाय ने भगवान कृष्णचन्द्र के मर्यादित रूप को अपनाया अर्थात् पंढरपुर में विट्ठल (कृष्ण) की मूर्त्ति के निकट रुक्मिणी देवी की प्रतिमा है, न कि प्रेयसी राधा की। वारकरीपंथ का आराध्य श्रीकृष्ण गृहस्थों के लिये आदर्श है। इसीलिये वहाँ मधुरा-भक्ति की धारा अति क्षीण रही। पंढरपुर भी (जो कि विट्ठल का स्थान है) पुंडलिकपुर का अपभ्रष्ट रूप है। ऊपर बता दिया गया कि चन्द्रभागा नदी के किनारे पर जहाँ भक्त पुंडलिक को श्रीविट्ठल ने दर्शन दिया था उस स्थान को पुंडलिकपुर नाम दिया गया था। पंढरपुर के पास भीमा-नदी का प्रवाह चन्द्रमा की रेखा जैसा कमान दार है अतः उसको वहाँ चन्द्रभागा कहते हैं। यही वारकरी-पंथ का पवित्रतम क्षेत्र है।

विकास:—वारकरी या भागवतसम्प्रदाय के विकास का इतिहास निम्न-लिखित पाँच कालखण्डों में विभाजित किया गया है—१ भक्त पुंडलिक से संत ज्ञानेश्वर तक, २ संत ज्ञानेश्वर और संत नामदेव से अर्थात् १२७० से १३५० तक, ३ संत भानुदास और संत एकनाथ १३५० से १५८८ तक, ४ संत-शिरोमणि तुकाराम और संत निलोबाराय सन् १६०८ से १७२० तक, ५ संत महिपति और उनके पश्चात् अर्थात् १७९० तक। उपर्युक्त संतों की साहित्यिक रचनाओं का क्रमशः विवेचन करते समय उन्होंने पंथ को कैसे पुष्ट किया हम आगे चलकर विस्तृत रूप में कहेंगे। यहाँ वारकरी-सम्प्रदाय का तत्वज्ञान, आचार व साधना के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

तत्वज्ञान:—वारकरी-सम्प्रदाय अद्वैतसिद्धान्त को मानता है। अद्वैत और भक्ति का परस्पर विरोध नहीं है, प्रत्युत भक्ति अद्वैतानुभूति की सबसे ऊँची चोटी है। भगवान प्रेमस्वरूप है और प्रेम ही जगत् और मानवजीवन का आधार है। प्रेम का स्वभाव है अनन्य होना। इसलिए भगवान ही जीव के लिए अनन्य आधार है, जैसी माँ बालक के लिए अनन्य होती है। बच्चा के मातृप्रेम को जानना भक्ति है। एवम् इस पंथ की भक्ति का स्वरूप मधुरा भक्ति से भिन्न है। परमात्मा व्यापक, निर्गुण और निराकार होते हुए भी सगुण

एवं साकार रूप धारण करता है—ऐसा इस पंथ का दृढ़ विश्वास है। निर्गुण और सगुण में परस्पर विरोध नहीं है, प्रत्युत वे परस्पर पोषक हैं। यहाँ साधारण मुमुक्षुओं के लिए सगुणपूजा या भक्ति कही गई है और सिद्धों के लिए निर्गुण भक्ति बताई गई है। जैसे सगुण और निर्गुण में स्वर्णसंगम माना गया वैसे भक्ति और ज्ञान में भी माना गया। भक्ति मूल है, वैराग्य या विरक्ति उसका फूल है और ज्ञान (आत्मज्ञान) उसका फल है। विशुद्ध वैराग्य और ज्ञान भक्ति के बिना प्राप्य नहीं है। भक्ति अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की फलदात्री मानी गई है। यह जगत् ज्ञान-स्वरूप परमात्मा की स्फूर्ति का आविष्कार है अथवा विश्व-चैतन्य रूप परमात्मा की क्रीडा या विलास है। जीव परमात्मा का अंश है। अतः अंशी का अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार करना और सायुज्य-मुक्ति सम्पादित करना जीवात्मा का ध्येय है। अतः वारकरी-सम्प्रदाय स्वरूप-सम्प्रदाय है। स्वरूप-सम्प्रदाय में जीवात्मा और परमात्मा में अभेद स्वतःसिद्ध माना गया है। अतः परमात्मा के सगुण प्रियरूप का दर्शन-पूजन मानव के लिए सुलभ साधन माना गया है। एवम् वारकरी-सम्प्रदाय का तत्त्व-ज्ञान व्यापक और समावेशक है।

आचार और साधना :—(१) इस पंथ का आराध्य देव श्री विट्ठल है और क्षेत्र पण्ढरपुर है। (२) गले में तुलसी की माला (जो कि श्रीकृष्ण को प्रिय है), हाथ में पताका, भाल में गोपीचन्दन और काला बुका वारकरियों के मंगल चिह्न हैं। (३) 'राम कृष्ण हरि' सम्प्रदाय का प्रामाणिक मन्त्र है। परन्तु 'राम कृष्ण हरि विट्ठल केशव' उसका विस्तार हो सकता है। मन्त्र के स्वरूप के बारे में कट्टरता नहीं है। उक्त मन्त्र में अन्य देवों के नाम जोड़ दिए जा सकते हैं। पंथ संकीर्णता की अपेक्षा समावेशकता पर बहुत अधिक जोर देता है। सहिष्णुता उसकी नींव है। नामसंकीर्तन ही सब साधनों में श्रेष्ठ और सुलभ माना गया है। भजन में 'जय जय राम कृष्ण हरि' 'पुंडलीक वरद हरि विट्ठल' के घोष किये जाते हैं। (४) कीर्तन भगवान, भक्त और नाम का त्रिवेणी सङ्गम है। कीर्तन में श्री हरि के सगुण चरित्रों का वर्णन या गुणगान होता है। कीर्तन के समाप्त होने पर दशमी और एकादशी को प्रसाद बाँटने की प्रथा है। (५) वारकरी-सम्प्रदाय प्रपञ्च को, गृहस्थाश्रम को छोड़ देने का आदेश नहीं देता है। वारकरी अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप

कार्य करते समय नामस्मरण कर सकता है। वर्णव्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था भक्तिमार्ग में प्रतिबन्धक नहीं है। (६) भक्ति में वर्ण की या जाति की ऊँचाई या नीचता को महत्व नहीं है। सब वर्णों तथा जातियों के लिए भक्ति का पंथ समानता से खुला है। यहाँ ज्येष्ठ या कनिष्ठ का भेद नहीं है। संक्षेप में आध्यात्मिक या भक्ति के क्षेत्र में यहाँ समता प्रस्थापित की गई है। (७) आचरण की शुद्धि पर अत्यधिक जोर है। सत्यभाषण करना, पर-स्त्री को माता या बहन मानना, परधन की इच्छा न करना, मद्यपान से दूर रहना, मृदु भाषण करना और परोपकार में रत रहना आवश्यक माना गया है। यह आचारप्रधान सम्प्रदाय है। शुद्ध आचरण ही भक्ति का आधार माना गया है। शुद्धाचरण के बिना की गई भक्ति विट्ठल को स्वीकृत नहीं होती। (८) पूज्य ग्रन्थः—(१) संस्कृत के भागवत व भगवद्गीता और मराठी के—१ ज्ञानेश्वरी, २ अमृतानुभव ३ नाथ भागवत ४ संत नामदेव, संत तुकाराम व निलोबाराय इत्यादि सन्तों की अभंग गाथाएँ।

वारकरी सम्प्रदाय का कार्यः—वारकरी सम्प्रदाय का कार्य दो भागों में विभाजित है। पहला है सामाजिक या धार्मिक कार्य और दूसरा है साहित्यिक रचनाएँ। सामाजिक कार्य के सम्बन्ध में यह कहना अत्यावश्यक है कि वारकरी सम्प्रदाय ने वैदिक परम्परा को कुछ सुधारों के साथ दृढ़ किया। महानुभाव-पंथ के प्रचार से वेद, उपनिषद, रामायण, इत्यादि पूजनीय ग्रन्थों के प्रति विद्वान जनों में अनादर और उपेक्षा की वृत्ति पैदा हुई थी। वैसे देखा जाय तो व्यवहार में महानुभाव पंथ के अनुयायी वर्ण और जाति भेद को मानते थे, परन्तु उन्होंने सिद्धान्त की दृष्टि से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था पर आघात किया था। उन्होंने जातिभेद का भी कड़ा विरोध किया तथा अनेक देवताओं की पूजा की भी निन्दा की। संन्यास को अत्यधिक महत्व देकर गृहस्थाश्रम को नीचे गिराया। द्वैत मत का प्रचार करके वेदान्त का अद्वैत-सिद्धान्त खटाई में डालने की भरसक कोशिश की। वेदों की अप्रामाणिकता बताई। संक्षेप में कृष्णपन्थ होते हुए भी महानुभाव पन्थ ने वैदिक-परम्परा पर गहरा आघात किया। अतः प्राचीन वैदिक-परम्परा को कुछ नये सामाजिक सुधारों के साथ संभालने का और दृढ़ करने का कार्य वारकरी-सम्प्रदाय ने अति सरलता से किया। इसका परिणाम यह हुआ कि चन्द वर्षों में महानुभावों की लोकप्रियता जाती रही। वारकरी-पन्थ के संतों ने अपने उदाहरणों

से सिद्ध कर दिया कि गृहस्थी में रहते हुए भी पवित्र आचरण एवं भक्ति के बल पर परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। महानुभावपन्थ का नेतृत्व कुछ विद्वान् ब्राह्मणों के हाथों में ही था परन्तु धार्मिक एवं उपासना के क्षेत्र में समता की प्रस्थापना करके वारकरीसम्प्रदाय ने सब जातियों में धार्मिक जागृति की लहर पैदा की और सब जातियों में संत कवियों की निर्मिति संभवनीय की। अल्पकाल में ही हिंदुओं की निचली जातियों में संत सुलभ होने लगे और सब हिंदू समाज सचेतन हुआ। शूद्रों को पारमार्थिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के समान मान करके हिंदू समाज में पैदा हुई खाई पाटने की कोशिश वारकरीपन्थ ने की। गृहस्थाश्रम को उचित महत्त्व देने के कारण मानव जीवन अधिक सुखी बना। गृहस्थाश्रम को महत्त्व प्राप्त होते ही स्त्री का महत्त्व अत्यधिक बढ़ा। स्त्री पुरुष की बराबरी करने लगी। अनेक देवताओं की पूजा का समर्थन करने से सहिष्णुता और व्यक्ति-स्वतन्त्रता बढ़ी। संकीर्णता जाती रही। योगसाधना, अनुष्ठान, ज्ञानार्जन, उपोषण और अन्य साधनों का महत्त्व वारकरीपंथ ने बिलकुल कम कर दिया। नाम-संकीर्तन जैसा सरल और सर्वजन-सुलभ साधन लोगों को बताकर धर्म के क्षेत्र में प्रतिष्ठाप्राप्त आडम्बर तत्काल समाप्त किया गया। यादवकाल में, ईसा की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, परमार्थ के नाम पर ऐहिक उपभोगों पर महाराष्ट्र के ऊँचे वर्गों ने अपना सारा ध्यान केन्द्रित किया था। हेमाद्रि स्वयम् यादवों के प्रधान मन्त्री थे। वे श्रुति, स्मृति और पुराणोक्त धर्म के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने 'चतुर्वर्गचिंतामणि' ग्रंथ लिखकर परम्परावादिता को दृढ़-मूल करने की चेष्टा की। उक्त ग्रंथ में प्रत्येक दिन और प्रत्येक तिथि को पाँच-पाँच व्रतों का निर्देश है। प्रत्येक व्रत के निमित्त किसी देवता के लिए कौन सा पक्वान्न बनाना चाहिए और कितने ब्राह्मणों को भोजन देकर उसकी कृपा प्राप्त करनी चाहिये—विस्तृत रूप से बताया। उन्होंने व्रताचरण करने से, ब्राह्मणों को मिष्टान्न खिलाने से और स्वयं मिष्टप्रसाद सेवन करने से मोक्ष प्राप्त होता है—इस तत्त्व का साधार विवेचन किया। उक्त ग्रंथ सचमुच विलक्षण है क्योंकि दो हजार व्रतों का जिसमें निर्देश किया हो ऐसा एक भी ग्रंथ इस संसार की किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त समय में महाराष्ट्र में धर्म का स्वरूप कितना विलासी तथा सुखोपभोगी बना था। उक्त धार्मिक आचरण साधारण जनता की शक्ति तथा साधनों के परे था। ऊँचे वर्ण के तथा श्रीमान् लोगों के लिए ही व्रत, उद्यापन

दान इत्यादि सुलभ थे। इससे समाज में निठल्ला पुरोहितवर्ग पैदा हुआ, जो दिन-प्रतिदिन सुखोपभोग में रत होकर समाज हित से पराङ्मुख बनता गया और भ्रष्ट हुआ। साधारणजनता में धर्म के प्रति उदासीनता बढ़ी, क्योंकि उनके लिए उपर्युक्त उपासना करना अशक्य था। इसका दुष्परिणाम समाज में प्रतीत होने लगा। महानुभावपन्थ ने उक्त आडम्बरयुक्त साधना का कड़ा विरोध किया परन्तु यह पंथ विद्वानों को ही आकर्षित कर सका। उसका प्रचार साधारण जनों में नहीं के बराबर ही रहा। ऐसे समय में पतनशील हिंदूसमाज को वारकरीपंथ ने संभाला। संक्षेप में वारकरीसम्प्रदाय ने अपनी सादगी, शुद्धि, सरलता, सहिष्णुता, समावेशकता और आध्यात्मिक समानता के बल पर परम्परावादी विलासी उपासकों का तथा अवैदिक व तथाकथित सुधारकपंथ का, महानुभाव का भी सफल विरोध किया। हिंदू समाज में आत्मीयता जगाकर उसको चैतन्ययुक्त बनाने में वारकरी सम्प्रदाय यशस्वी बना। हीन, दीन एवं दुर्बल हिंदुओं का संगठन करके उनमें अपना धर्म, देव, संस्कृति, भाषा इत्यादि के प्रति उग्र निष्ठा पैदा करने की महनीय चेष्टा उक्त पंथ ने की। सदाचरण पर अत्यधिक जोर देकर हिंदूसमाज में सद्गुणों का संवर्धन किया। व्यक्ति की श्रेष्ठता उसके सदाचरण पर निर्भर होती है, न कि उसकी जाति पर—इस सिद्धान्त का व्यवहार वारकरीपंथ में होता था। संत ज्ञानेश्वर, संत एकनाथ जैसे ऊँचे ब्राह्मणकुलोत्पन्न संत अब्राह्मण संतों के चरण छूते थे और उनके साथ नामसंकीर्तन करने में आनंदविभोर होते थे। मानो भक्तों की जातिनिरपेक्ष एक नई जमात बनी थी। जो सामाजिक व्यवहार तेरहवीं शताब्दी के पूर्व कभी नहीं देखा गया था वह अनूठा दृश्य वारकरीपंथ ने उपस्थित किया। इसका सुफल यह हुआ कि संत ज्ञानेश्वर के काल में महाराष्ट्र में संतों की फसल आ गई तथा संतों की परम्परा बढ़ती ही गई। लगातार चार शताब्दी तक उक्त संतों ने हिंदूसमाज में धार्मिक जागृति पैदा कर उसे संगठित बनाया और अंततोगत्वा स्वराज्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर किया। भावी स्वराज्य का बीज बोने के लिए संतों ने महाराष्ट्रसमाज-रूपी भूमि उपजाऊ बनाकर रखी थी। अर्थात् यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वारकरी संप्रदाय का प्रधान कार्य धार्मिक एवं सांस्कृतिक ही था, परन्तु उसकी नींव पर ही भावी राजनीतिक-कार्य (स्वराज्य) का प्रासाद खड़ा किया गया—यह ऐतिहासिक तथ्य भी हम भूल नहीं सकते। धार्मिक या सामाजिक कार्य के

अतिरिक्त वारकरीपंथ ने मराठी भाषा का जो अनूठा उपकार किया उसका वर्णन करते नहीं बनता।

वारकरीपंथ का साहित्य :—वारकरी सम्प्रदाय ने अक्षर और अमोल साहित्य की सृष्टि कर मराठी वाङ्मय की श्रीवृद्धि की। उक्त वाङ्मय केवल सामयिक नहीं है। वह मानवीय जीवन के श्रेष्ठ एवं नित्य, नैतिक तथा धार्मिक मूल्यों के स्पष्टीकरण से ओत-प्रोत है। केवल लोकानुरञ्जन करना सन्त कवियों का काम नहीं था। उनकी रचना 'स्वान्तःसुखाय' थी। परन्तु उनकी आत्मा इतनी विशाल और समावेशक थी कि उनका स्वान्तःसुख सब हिन्दुसमाज का ही नहीं किन्तु अखिल मानव-जाति का सुख था। शुद्धात्मा ही व्यापक बन सकती है। विद्वान लोगों ने साहित्य की श्रेष्ठता ठहराने के लिए निम्नलिखित तीन परखें सोची हैं। वे हैं व्यक्तिमत्त्व, कालतत्व और चिरंतनत्व। कवि व्यक्तिगत रूप में जितना शुद्ध, ऊँचा और ईमानदार होगा उतनी उसकी काव्य-कृति श्रेष्ठ होगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि सन्त कवि पहले सन्त थे फिर वे कवि बने। सन्तपन उनके कवित्व का स्रोत है। वे केवल या निरे कलावादी कवि नहीं थे। यदि वे सन्त न होते तो कवि भी न बनते। काव्य-रचना उनके सन्तपन का स्वाभाविक आविष्कार है। सन्त उसे ही कहते हैं कि जो शुद्ध आत्मा सब क्षुद्रताओं के षड्रिपुओं के पंजे से मुक्त होकर जनता की आत्मा में विलीन होता है, विश्वात्मा से मिल जाता है। सब संसार का सुख उसका सुख है और सबका दुःख उसका दुःख है। व्यक्तिगत स्वार्थ उसे छू तक नहीं सकता। ऐसे पवित्र और सुखकारी आत्मा की रचना भी उतनी ही व्यापक, ऊँची और पवित्र होती है। काव्य कवि का आत्माविष्कार होता है और ईमानदार सन्त कवि का तो वह सच्चा आत्माविष्कार होता है। क्योंकि किसी से कुछ भी छिपाने की वहाँ सम्भवनीयता बिलकुल नहीं होती। सब सन्त-कवि व्यक्तिगत रूप से बहुत ऊँचे थे, जिसका विस्तृत वर्णन हम क्रमशः आगे करेंगे। वे जितने ऊँचे थे उतना उनके काव्य का विषय ऊँचा था। आद्य सन्त कवि ज्ञानेश्वरजी ने कहा कि काव्य में 'परतत्व' का ही (परमेश्वर का ही) वर्णन या विवेचन होना चाहिए। परमेश्वर से अधिक ऊँची, विशाल, पवित्र और सर्वव्यापी कौन सी वस्तु या विषय है ? अर्थात् नहीं। संक्षेप में सन्त-कवि की व्यक्तिगत ऊँचाई और उनके वर्ण्य विषय की श्रेष्ठता निर्विवाद है। काव्य में या साहित्य में व्यक्तिमत्व

का एक दूसरा भी अर्थ माना जाता है। वह है कवि की काव्यबद्ध भावना की व विचार की सचाई। जैसे कि ऊपर कहा गया है यहाँ सचाई के बारे में आशंका करना अनावश्यक और व्यर्थ है। जो कवि केवल स्वान्तःसुखाय रचना करता है, किसी भी अन्य हेतु से काव्य की सृष्टि नहीं करता, उसका काव्य-व्यक्तिमत्व स्वतःसिद्ध है। अतः पहली कसौटी उन पर ठीक घटती है।

निःसन्देह सन्त कवि ऊँचे व्यक्ति थे तो भी तत्कालीन परिस्थिति का कुछ असर उन पर होना स्वाभाविक था। सन्तकवि समाज में रहते थे, अतः सामयिक सामाजिक परिस्थिति का उन पर प्रभाव हुआ था। सामयिक माँग की ओर वे आँखें नहीं मूँद सकते थे। जो समाज के उद्धार के लिए ही अवतार धारण करते हैं वे सामाजिक आवश्यकताओं को कैसे भूल सकते हैं? हम पहले कह चुके हैं कि उस समय साधारण जनता धर्म के प्रति उदासीन थी। ग्रन्थों की रचना संस्कृत में होती थी, जो कि लोक-भाषा नहीं थी। ऊँचे वर्ण के विद्वान मराठी लोकभाषा को तुच्छ मानकर गीर्वाण-वाणी में रचना करने में धन्यता मानते थे, जिससे साधारण जनता अधिक निरक्षर और उदासीन बनती थी। वारकरीसम्प्रदाय ने उक्त दुर्दशा को नष्ट करने के हेतु जनता की भाषा में—मराठी में, रचना करना प्रारम्भ किया। वारकरीपन्थ के सन्तकवियों ने सर्वजन-सुलभ ओवी, अभंग, पद इत्यादि छन्दों में प्रचुर फुटकर रचना की जो सरल, सुबोध और प्रसन्न होने के कारण तत्काल लोक-प्रिय बनी। महानुभावपन्थ के विद्वान कवियों ने संस्कृत के महाकाव्यों का तथा भाष्यों का सफल अनुकरण किया, परन्तु उसकी गम्भीरता के कारण उनका मराठीसाहित्य लोक-प्रिय न बन सका। उनकी यह त्रुटि सन्तकवियों ने जान-बूझ कर दूर की और साधारण जनता में काव्य के प्रति रुचि पैदा की। सब सन्तकवियों की काव्य-रचना इतनी प्रसन्न और सुलभ थी कि चन्द वर्षों में आम जनता ने उसे अनायास ही कण्ठस्थ किया और जहाँ-तहाँ कीर्तन और भजन में उसका तल्लीनता से गान करने में वह आनन्दविभोर हुई। यह था सच्चा और सामयिक लोक-साहित्य। सन्त कवि सब जाति में पैदा हुए, अतः उन्होंने अपने व्यवसाय की विशेषता के अनुसार काव्य-रचना की, जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे क्रमशः करेंगे ही। भिन्न व्यवसायों के विशेषों की आलंकारिक रचनाएँ सुन करके श्रोता लोग आत्मीयता का, अपनापन का अनुभव करते थे, जिससे काव्य की रुचि अत्यधिक बढ़ी। अतः

सन्तकवियों की काव्य-रचनाएँ महाराष्ट्र में गूँजने लगीं। एक समय लाखों व्यक्ति अभंगों का गान करने में मग्न होने लगे। कविता की इतनी लोक-प्रियता या सार्वत्रिक विकास अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसमें ही सन्तकाव्य की विजय है। एवम् सार्वत्रिकता का कीर्तिमान उन्होंने प्रस्थापित किया।

वारकरीपन्थ के सन्त कवियों ने फुटकर अभंग, पद, गीत, स्तोत्र इत्यादि के साथ व्याख्या और भाष्य ग्रन्थ भी लिखे। परन्तु उनकी रचना सरल, सुबोध और रसभीनी है। उसमें विद्वत्ता के साथ भाव की मधुरिमा ओत-प्रोत है, जिससे उनके व्याख्या ग्रंथ भी लोक-प्रिय बने। भक्ति की भावना पुष्ट करते समय सन्त कवियों ने अपनी काव्य-रचनाएँ कला की दृष्टि से भी अतीव मनोहर और सुंदर बनाईं। कुछ सन्त कवियों ने प्रबन्ध-काव्य की भी रचना की। परन्तु उन्होंने उनमें भक्ति की प्रबल धारा बहाई। संत कवियों ने भक्ति-रस नामक दसवाँ रस निर्माण कर काव्य-प्रांत की सीमा विस्तृत की। संत कवियों की रचनाएँ केवल लोकानुरंजन के लिए नहीं बनीं। उनका प्रमुख उद्देश ईशस्तवन, नामसंकीर्तन, नीति का उपदेश, धर्म का प्रचार, सदाचार का मार्गदर्शन और अनीति तथा पाखण्ड का विरोध करना था। अतः उनका काव्य आम जनता को ऊपर उठाने वाला था। सामाजिक उन्नति के साथ आत्मिक उन्नति करना उनके काव्य का पवित्र ध्येय था। संक्षेप में उनका साहित्य संस्कृति की संवर्धना करने का साधन था, जो तत्काल कामयाब सिद्ध हुआ। संत-काव्य ने परमार्थसम्बद्ध भ्रामक कल्पना, रूढि और अत्याचारों की कड़ी आलोचना करके शुद्ध व सरल उपासना का मार्ग आम जनता को बताया। धर्म के नाम पर होने वाले भ्रामक संघर्ष को समाप्त करके सच्ची मानवता एवम् आस्तिक्य बुद्धि का प्रभावकारी दिग्दर्शन किया। संतों के बताए मार्ग से सब धर्मों में समन्वय स्थापित होने की संभावना है। संत-साहित्य के चिरंतनत्व के विषय में हम पहले ही लिख चुके हैं अतः उत्कृष्ट काव्य की सब परखें इस पर घटती हैं। संत-साहित्य जितना व्यापक, शुद्ध और समृद्ध है उतना ही रसभीना है। संतसाहित्य मराठी के प्राचीन साहित्य की रीढ़ है।

छठा अध्याय

संत ज्ञानेश्वर (१२७५–१२९६)

महाराष्ट्र में अनेक कवि और प्रतिभाशाली साहित्यकार हो गए किन्तु अभिजात शैली, प्रौढ प्रतिभा, मौलिक विचार, शब्द-सौष्ठव प्रगल्भ वाङ्मय विलास की दृष्टि से संतवर्य ज्ञानेश्वर की टक्कर का दूसरा साहित्यकार अभी तक नहीं पैदा हुआ। संस्कृत के महाकवियों के सम्बन्ध में कहा गया है।

'पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावात् अनामिका सार्थवती बभूव॥'

जैसे संस्कृत साहित्य में कविकुलगुरु कालिदास की तुलना में दूसरा कवि नहीं ठहरता वैसे ही मराठीसाहित्य में संतकविकुलशेखर ज्ञानेश्वरजी की तुलना में अन्य कवि नहीं ठहरता। अतः इस अलौकिक संत कवि की अलौकिक जीवन का हम संक्षेप में पहले अध्ययन करेंगे।

संक्षिप्त जीवनी:—संत कवियों में सिरमौर संत ज्ञानेश्वरजी का जन्म शके ११९७ श्रावण वद्य ८ को (सन् १२७५) पैठण से चार कोस पर गोदावरी के उत्तर किनारे आपे-गाँव में हुआ। आपके स्वनामधन्य पिता श्रीविट्ठलपंत उस गाँव के पटवारी थे। यह वृत्ति उनके यहाँ पूर्वपरम्परा से चली आयी थी। अपनी पैतृक वृत्ति का निर्वाह करते हुए यह कुल परमार्थ की साधना भी करता था। विट्ठलपंत के पिता गोविन्दपंत को और माता निराबाई को गैनीनाथजी से ब्रह्मोपदेश प्राप्त हुआ था। किंवदन्ती के अनुसार उनके आशीर्वाद से निराबाई को गर्भ रहा और पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम विट्ठल रखा गया था। संतश्रेष्ठ नामदेवजी अपने आदि नामक अभंगों में कहते हैं कि विट्ठलपंत के रूप में वैराग्य ने अवतार धारण किया था और विट्ठल पंत का वैराग्य अन्धा माने भोला नहीं था, प्रत्युत आँखों वाला माने ज्ञानयुक्त था। कहने की आवश्यकता नहीं है कि विवेकयुक्त वैराग्य ही सच्चा वैराग्य होता है और वही दीर्घकाल तक ठहरता भी है। अज्ञानजन्य या विकारजन्य वैराग्य अन्धा तथा अल्पजीवी होता है। विट्ठलपंत विवेक, वैराग्य साथ लिए इस भूतल पर पधारे।

यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् पैठण में मामा के घर रह कर उन्होंने वेद-पठन किया तथा काव्य-व्याकरण का अध्ययन करके वे प्रभावशाली शास्त्रवक्ता हुए। तत्पश्चात् पिता की अनुज्ञा प्राप्त करके वे पर्यटन के लिए चल पड़े। द्वारका में सब मुमुक्षुओं के आनन्दनिधान भगवान श्रीकृष्णचंद्र का दर्शन करके वे महाराष्ट्र की ओर लौटे। तीर्थयात्रा का आनंद लेते हुए तथा मार्ग में जो साधु-संत मिलते उनके सत्संग से लाभ उठाते हुए वे इन्द्रायणी नदी के तट पर बसी हुई आलंदीपुरी में पहुँचे। योगायोग से वहाँ के पटवारी सिद्धोपंत कुलकर्णी की पुत्री से इनका विवाह हुआ। आपकी पत्नी का नाम था रुक्मिणीबाई। विट्ठल पंत ने कुछ काल तक यों ही गृहस्थी की, क्योंकि उनका स्वाभाविक वैराग्य बीच-बीच में उबल कर उठता था। सिद्धोपंत उनको जैसे-तैसे संभाल रहे थे। किन्तु एक दिन उनका वैराग्य भड़क गया और वे स्त्री को छोड़ कर काशी में पहुँचे। उस समय वाराणसी में श्रीपादस्वामी का बोलबाला था। भावुक विट्ठलपंत ने उपर्युक्त स्वामी जी से संन्यास की दीक्षा ली और चैतन्य नाम धारण करके उनके संन्यासी शिष्यों में रहने लगे। लगभग आठ वर्ष बाद श्रीपादस्वामी रामेश्वर की यात्रा पर चल पड़े। योगायोग से वे आलंदी में पहुँचे और गाँव के बाहर एक मन्दिर में टिके। वहाँ अश्वत्थवृक्ष की परिक्रमा करती हुई रुक्मिणी बाई स्वामीजी के चरणों में गिर पड़ी। स्वामीजी ने उसे 'पुत्रवती भव' का आशीर्वाद दिया। शीघ्र ही सारा भेद खुलने पर उन्होंने अपने शिष्य-चैतन्य को पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का कड़ा आदेश दिया। गुरु की आज्ञा से विट्ठलपंत पुनः गृहस्थ बने। अब वे तनमन से गृहस्थी करने लगे। यथाकाल उनके तीन पुत्ररत्न और एक कन्यारत्न माने निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताबाई उत्पन्न हुए। इन्होंने महाराष्ट्र में भागवत-धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाई और संतसाहित्य की धारा बहाई। परमपावन माता की कोख से संत ज्ञानेश्वर का सन् १२७५ में जन्म हुआ। निवृत्ति, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाई जैसे जन्मतः ज्ञानियों के जन्म के लिए भूमि भी तो वैसी ही पावन होनी चाहिए थी। विट्ठलपंत जैसे वैराग्यसंपन्न पिता और बारह वर्ष उग्र अनुष्ठान किये हुई रुक्मिणीबाई जैसी तपस्विनी माता के संयोग से ज्ञानेश्वर जैसा पुत्ररत्न पैदा होना स्वाभाविक था।

काल बीतता गया और विट्ठलपन्त की आपदाएँ बढ़ती गईं क्योंकि

संन्यासाश्रम से पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार करना धर्मशास्त्र के विरुद्ध होने के कारण विट्ठलपन्त सनातनी पण्डितों के कोप के भाजन बने। रूढिवादी ब्राह्मणों ने उनको जाति से बहिष्कृत किया। जब ज्येष्ठ पुत्र निवृत्ति सात वर्ष के हुए तब विट्ठल पंत को उनके उपनयनसंस्कार की चिन्ता जलाने लगी। वे रात-दिन चिंता करते थे कि उनका जनेऊ कैसे हो। भ्रष्ट संन्यासी के लड़कों के लिए यज्ञोपवीत का विधान शास्त्र में मिलना असंभव था। विट्ठलपंत ब्राह्मणों को किसी तरह से भी राजी करने पर उतारू थे। वे आर्ततायुक्त स्वर में ब्राह्मणों से विज्ञप्ति करते थे कि मेरे बच्चे जाति और कुल से भ्रष्ट न रहें इसके लिए जो कोई भी प्रायश्चित्त करना पड़े वह मैं सहर्ष करूंगा। ब्राह्मणों ने उनसे स्पष्ट कहा 'तुम्हारे अपराध के लिए धर्मशास्त्र में देहान्त-प्रायश्चित के सिवा अन्य दण्ड नहीं है।' अब विट्ठलपंत की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। उन्होंने बड़े धीरज के साथ स्वजातियों का बहिष्कार अब तक सह लिया था, पर वे अपने पुत्ररत्नों की बहिष्कार से होने वाली दुर्गति कैसे सह सकते थे? वे जीवन से ऊब गए। ब्राह्मणों ने देहान्त प्रायश्चित्त का निर्णय सुनाया और धर्मनिष्ठ विठ्ठलपंत ने उनके चरण छूकर उसको स्वीकार किया। वे तुरन्त वहाँ से जो चले तो सीधे प्रयागराज पधारे। उनके साथ रखुमाबाई भी प्रयाग पहुँची। वहाँ इस धार्मिक एवम् सदाचारी युगल ने शान्तचित्त से पावनकारी त्रिवेणी-संगम में अपनी देह छोड़ दी।

इधर 'भ्रष्ट संन्यासी के बच्चे' कहकर सब लोग निवृत्ति, ज्ञानदेव प्रभृति बालकों के पीछे पड़ते और उन्हें तरह-तरह से कष्ट देते थे। वास्तव में निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताबाई जैसा कि संत नामदेव ने कहा है 'जन्मतः ही ज्ञानी थे और उनकी अलौकिक बुद्धिमानी तथा साधुत्व सूर्यप्रकाश जैसा स्पष्ट था। परन्तु जाति-बहिष्कृत होने के कारण उन्हें सदा उपहास, निन्दा, अपमान और पीड़ा सहनी पड़ती थी। पिता के समक्ष निवृत्तिनाथ ने गैनीनाथ जी से गुरुमन्त्र लेकर नाथपंथ में प्रवेश किया था। उस समय उनकी अवस्था नव या दस वर्ष की थी। वैसे देखा जाय तो निवृत्तिनाथ की वयस् अभी बहुत ही कम थी, परन्तु उनके पूर्व संस्कार का बल जानकर गैनीनाथजी ने उन्हें ब्रह्मबोध कराया और योगमार्ग की दीक्षा दी। गैनीनाथ जी श्रीकृष्ण के उपासक थे, अतः उन्होंने अपने नये शिष्य को श्रीकृष्ण की उपासना बतलाकर नामस्मरण का प्रचार करने की

आज्ञा दी। तत्पश्चात् निवृत्तिनाथ ने ज्ञानेश्वर, सोपान और मुक्ताबाई को वही उपदेश देकर उनका नाथपंथ में प्रवेश कराया। एवम् श्रीज्ञानेश्वर महाराज केवल आठ वर्ष की अवस्था में श्री निवृत्तिनाथ सद्गुरु से उपदेश पाकर पूर्णत्व को प्राप्त हुये। सचमुच 'न खलु वयस्तेजसो हेतुः'। नाथपंथी होने के कारण निवृत्तिनाथ जातिबहिष्कृत होने से दुःखी और कष्टी नहीं थे। वे शब्दशः निवृत्ति-नाथ ही थे। परन्तु ज्ञानेश्वर की विचारधारा भिन्न थी। वे कहते थे कि 'चलो हम लोग ब्राह्मणों के चरण छुएँ। उनसे प्रार्थना करें और अपने आपको शुद्ध कराकर अपना यज्ञोपवीत संस्कार करा लें।' संक्षेप में ज्ञानेश्वर वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा करने पर उतारू थे। अन्ततोगत्वा ज्ञानेश्वर ने निवृत्तिनाथ तथा सोपानदेव को मनाया और निर्णय हुआ कि पैठण में जाकर वहाँ ब्राह्मणों से शुद्धिपत्र लिया जाय। अतः ये सुकुमार बच्चे पैठण के लिए रवाना हुए। परन्तु ये बच्चे कैसे थे? जैसा कि संत नामदेव ने कहा है 'लोगों की आँखों में छोटे दिखाई देने वाले ये बालक बड़ों से भी बड़े थे और परा के भी परे थे।'

पैठण जो उस समय महाराष्ट्र में संस्कृत विद्या तथा धर्मशास्त्र का सबसे बड़ा पीठ माना जाता था वह इन बच्चों के आगमन से मानों पागल हुआ। उनके मुंह की दैवी आभा देखकर सब प्रसन्न होते थे। यथासमय ब्राह्मणों की सभा में ये बालक उपस्थित हुए। ज्येष्ठ भ्राता निवृत्तिनाथ ने समस्त ब्रह्मवृन्द को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अपनी सारी कथा स्पष्ट शब्दों में कह दी और प्रार्थना की 'हम अनाथ, पतित, शरणागत और दीन हैं, आप लोग दया करके हमें शुद्ध कर लें।' उक्त सभा में प्रकाण्ड पंडित और धर्ममार्तण्ड थे, परन्तु अनेक स्मृति-ग्रन्थों को देखने पर भी उन्हें कहीं कोई अनुकूल आधार या वचन नहीं मिला। अन्ततोगत्वा ब्राह्मणसभा ने एक मत से निर्णय किया कि 'पूर्व और बाद के आचार्यों के मत से आपके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है, क्योंकि दोनों कुल भ्रष्ट हो गये हैं। अब आपके लिये अनन्य भक्ति का अनुसरण करने का ही उपाय है।' एवम् ब्राह्मणों ने उन्हें हरिभजन में जीवन व्यतीत करने और सब प्राणियों में भगवान् के दर्शन करने का उपदेश दिया। उक्त निर्णय सुनकर निवृत्ति को बड़ा सन्तोष हुआ, क्योंकि उन्हें निवृत्तिपरक जीवन बिताने का आदेश मिला जो वे स्वभाव से चाहते थे। ज्ञानदेव ने कहा 'आप लोगों का निर्णय मुझे सहर्ष स्वीकार है।' सोपान और मुक्ताबाई भी आनन्दित हुईं, मानो उनके मन की हुई। उनके

स्थितप्रज्ञ के जैसे प्रसन्न एवम् अविचल वदन देखकर बहुतों को उनके प्रति बड़ी श्रद्धा हुई। सभा विसर्जित होने को थी कि जब एक सज्जन ने उनसे पूछा कि तुम लोगों के निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताबाई आदि नाम कैसे रखे गये? उन्होंने अपने नामों के अर्थ बड़ी नम्रता से बतलाये। निवृत्ति ने कहा 'मैं तो निवृत्त हूँ। अतः प्रवृत्ति से मेरा कोई सम्बंध नहीं है। मैं राजयोगी होने के कारण अखण्ड स्वसुखामृत का आस्वाद लेता हूँ।' ज्ञानदेव ने कहा 'मैं सकल वेदों का वेत्ता हूँ। पूछने पर तो मैं यही उत्तर दूंगा।' सोपानदेव ने उत्तर दिया कि 'मैं भक्ति की सीढ़ी हूँ। अतः भक्तों को मोक्ष प्राप्त कराना मेरा काम है।' मुक्ताबाई ने मधुरता से कहा कि 'मैं मुक्तिद्वार खोलती हूँ। इस लोक में भगवान की लीला दिखाने लिए प्रकट हुई हूँ।'

उन छोटे बच्चों के मुँह से बड़ी बातें सुनकर लोग हँस पड़े। उन बिचारों का उसमें क्या दोष था? इतनी अल्पावस्था में नाम के अनुरूप आध्यात्मिक प्रगति करना इस भूलोक में असंभव सा उन्हें प्रतीत हुआ। इतने में एक ब्रह्म वृंद ने सड़क पर एक भैंसा देखा और उपहास करने के उद्देश्य से वह कह बैठा कि 'अजी! नाम में क्या धरा है? यह भैंसा जा रहा है। इसका भी नाम ज्ञानदेव है।' सब ब्रह्मवृन्द हँस पड़े। यह सुनते ही ज्ञानदेव ने शांतचित्त से उत्तर दिया 'हाँ, आप का कहना ठीक ही तो है। यह भैंसा भी मेरी आत्मा है। सब प्राणिमात्र में समान रूप से एक ही विश्वात्मा व्यापक है।' उक्त अभेदभाव के कथन से वह ब्रह्मवृन्द संतुष्ट नहीं हुआ। वह ज्ञानदेव की अभेदवृत्ति की परीक्षा लेने पर तुला था। अतः उसने उस भैंसे की पीठ पर सड़ाक से तीन चाबुक लगाये। ज्ञानदेव के सर्वात्मक भाव की प्रतीति का चमत्कार तत्काल दिखाई दिया। वास्तव में चाबुक लगे भैंसे की पीठ पर और उनकी सँटें पड़ीं ज्ञानेश्वर महाराज की पीठ पर और उनसे रक्त भी बहने लगा। यह अभेदवृत्ति देख कर ब्रह्मवृंद आश्चर्य से स्तब्ध रह गये। इसके पश्चात् ज्ञानदेव ने भैंसे के मुँह से वेदों की ऋचाएँ कहलाईं। दूसरा चमत्कार देखते ही ब्रह्मवृन्द स्तम्भित हो गये। सब ब्राह्मणों ने उन्हें नमस्कार किया और वे बड़े आनन्द से उनका जय-जयकार करने लगे। पैठण में रहते हुए ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने भाई-बहिन के साथ खूब ग्रंथावलोकन किया और वे कथाप्रवचन तथा कीर्तन में समय व्यतीत करने लगे। उनके दैवी चमत्कार और उनकी अलौकिक प्रतिभा एवम् क्षमता देखकर पैठण-

वासी ब्राह्मणों ने उन्हें शुद्धिपत्र दिया। शुद्धिपत्र में लिखा था कि ये जीवन्मुक्त हैं, मूर्त्तिमान जगद्गुरु हैं। निवृत्तिनाथ ने ब्रह्मवृंदों के चरण छूकर उसे स्वीकार किया।

पैठण क्षेत्र के निवासियों को अपने विभूतिमत्त्व का तेज दिखाकर ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने बंधुओं के साथ वहाँ से प्रस्थान किया। स्वानन्द में मग्न हुए और सप्रेम हरि के गुण गाते हुए ये बंधुगण नेवासें ग्राम में पहुँचे। नेवासे महालया देवी का क्षेत्र है। यहाँ गाँव से पाव मील दूरी पर एक शिलास्तम्भ है। यहाँ बैठकर ज्ञानेश्वर जी ने 'भावार्थदीपिका' कही जो ज्ञानेश्वरी के नाम से प्रसिद्ध है। तब से उक्त स्तम्भ 'ज्ञानेश्वरी का स्तम्भ' कहलाया है। इस समय ज्ञानेश्वर की अवस्था केवल पंद्रह वर्ष की थी। ज्ञानेश्वरी अथवा भावार्थदीपिका टीका ग्रंथ है, अतः निवृत्तिनाथजी के कहने पर उन्होंने अमृतानुभव नामक मौलिक दर्शनग्रन्थ की रचना की। नेवासे, आपेगाँव और आलन्दी में निवास करने के बाद वे सब पंढरपुर गए, जहाँ उनकी संत नामदेव से भेंट हुई। ज्ञान और नाम का स्वर्णसङ्गम हुआ। इसके पश्चात् संत नामदेव के साथ वे तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े।

तीर्थयात्रा:—उक्त तीर्थयात्रा का पूरा वर्णन संत नामदेव कृत 'तीर्थावलि' के ५९ अभंगों में है। कहते हैं कि तीर्थयात्रा में संत ज्ञानेश्वर और संत नामदेव के साथ निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्ताबाई, नरहरि सोनार, चोखा मेला धेड़, गोरा कुम्हार, विसोबा खेचर, सांवता माली आदि सन्त भी थे। संतमंडली के साथ ज्ञानेश्वर महाराज ने प्रयाग, वाराणसी, गया, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, द्वारका, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा की। तीर्थयात्रा समाप्त करके सब लोग पंढरपुर लौटे। यहाँ नामदेव ने उक्त यात्रा के उपलक्ष में बड़ा उत्सव किया। उक्त उत्सव का बड़ा ही हृद्य वर्णन संत नामदेव ने किया है। उत्सव समाप्त होने पर सन्त ज्ञानेश्वर अपने भाई बहिन के साथ आलन्दी लौटे। तीर्थयात्रा की दीर्घ अवधि में सन्त ज्ञानेश्वर ने सैकड़ों अभंगों की सरस रचना की, जिसका पूरा विवेचन आगे मिलेगा। अब संत ज्ञानेश्वर जी की कीर्ति सब ओर फैल चुकी थी। उनके दर्शन करने के लिए वृद्ध तपस्वी चांगदेव आये। चांगदेव सिद्धि की अकड़ में अकड़े हुए और अहङ्कार से पूर्ण ग्रसे हुए थे। परन्तु परमभक्त एवम् सिद्ध योगी ज्ञानेश्वर का दर्शन होते ही उनका अहंकार जाता रहा। वयोवृद्ध तथा तपोवृद्ध चांगदेव संत ज्ञानेश्वर जी के चरणकमलों में गिर पड़े। संत ज्ञानेश्वर ने उन्हें 'तत्त्वमसि' महावाक्य का बोध कराया।

उक्त आत्मबोध **चांगदेव पैंसठी** नामक काव्य में बद्ध है। चांगदेव केवल योगी थे और योगसिद्धि के चमत्कार लोगों को दिखाकर अहंकारी बने थे। परन्तु संत ज्ञानेश्वर ज्ञानी भक्त होते हुए योगी थे जिन्होंने षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त कर आत्मानुभव का साक्षात्कार किया था। अतः अहंकारी योगी चांगदेव, ज्ञानदेव के उपदेश से भक्त बने। ज्ञानेश्वरादि भाई बहिन ब्रह्मनिष्ठ एवम् साक्षात्कारी होते हुए भी सगुणोपासक थे। वे सब लोगों को हरिभजन, नामस्मरण और कथाकीर्तन के द्वारा आत्मोद्धार करने का सदा उपदेश देते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि अंततोगत्वा यह भक्ति का सर्वसुलभ मार्ग योगी चांगदेव को जँचा और वे नामस्मरण में रँग गये। चांगदेव के नम्रतापूर्वक अनुरोध करने पर संत ज्ञानेश्वर ने उन्हें उपदेश दिया कि वे मुक्ताबाई से गुरूपदेश ग्रहण करें। इसके पश्चात् मुक्ताबाई ने चांगदेव को भावपूर्ण भक्ति करके वैराग्य जोड़ने का उपदेश दिया।

संत ज्ञानेश्वर की समाधिः—अब उन्हें प्रतीत होने लगा कि उनके अवतार की समाप्ति का समय निकट आया। बाईस वर्ष की अल्प आयु मर्यादा के भीतर जितना जगदुद्धार का महत्कार्य करना चाहते थे उतना करके वे सन् १२९६ में आलन्दी-ग्राम में सहर्ष समाधिस्थ हुए। संतवर्य नामदेव ने अपने समाधि-प्रकरण में उक्त प्रसंग का अति हृदयद्रावक वर्णन किया। वे कहते हैं 'जो जो दिन उदय हुआ उसे ज्ञानदेव ने सफल किया। उनके अवतार के सब क्षण जगदुद्धार-कार्य में खर्च हुए। अन्ततोगत्वा उन्होंने जीते जी समाधि लेने का विचार दृढ़ किया। कार्तिक शुक्ल दशमी को सन्त ज्ञानेश्वर ने संत मण्डली के साथ पण्ढरपुर के भगवान् विट्ठल का अन्तिम दर्शन किया। संत ज्ञानेश्वर के साथ तत्कालीन सब महाराष्ट्रीय प्रसिद्ध संत थे। उनमें प्रमुख संत नामदेव, निवृत्ति, सोपान, मुक्ताबाई, विसोबा खेचर, गोरा कुम्हार, जगमित्र नागा, सेना नाई, इत्यादि थे। कहते हैं कि भगवान् विट्ठल ने संत ज्ञानेश्वर को आशीर्वाद दिया 'हे ज्ञान के सागर, मेरे प्यारे ज्ञानेश्वर! तुमने सामान्य जीवों के लिए भक्तियुक्त स्वानुभव का सुलभ मार्ग प्रशस्त कर दिया और तुम मेरी पूर्ण कृपा के पात्र हुए हो। अतः स्वानंदयुक्त समाधि लेने की तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।' सन्त ज्ञानेश्वर अब समाधि लेंगे—यह जानकर सब उपस्थित संत बहुत दुखी हुए। यह दिव्य तेज युक्त मूर्ति अब नेत्रों के सामने न आवेगी

यह जानकर सन्त रोने लगे। उनकी आँखों से अश्रुओं के स्रोत बहने लगे। परन्तु संत ज्ञानेश्वर स्वानन्द में मग्न थे। दूसरे दिन संतमण्डली के साथ संत ज्ञानेश्वर आलंदी पहुँचे। उस दिन एकादशी होने से सन्तों ने रात्रि में भजन, कीर्तन करके जागरण किया। द्वादशी को क्षीरपति का महोत्सव संपन्न हुआ। सब सन्तों ने मिष्टान्न का स्वाद लिया। रात्रि में पुनः कथा, कीर्तन, नामस्मरण इत्यादि के द्वारा भगवद्भक्ति की साधना की गई। इसके बाद त्रयोदशी के दिन सुबह समाधि का जो अपूर्व समारम्भ हुआ उसका अतीव हृदयद्रावक वर्णन संत नामदेव जी ने मराठी में किया। उक्त वर्णन २५० अभंगों में भरा है। संत नामदेव की वाणी में जो प्रेमरस है वह सचमुच अलौकिक है। उसकी रसार्द्रता वर्णन के परे है। यह वर्णन मूल मराठी में ही पढ़ने योग्य है। नामदेव स्वयं अत्यंत शोकाकुल थे और श्रीविट्ठल के चरणों में रत होकर व्यथितहृदय से कहते थे कि ज्ञानेश्वर जैसा रत्न अब नहीं मिलेगा। उस माता की कोख धन्य है, जिसने ज्ञानदेव को जन्म दिया। सब भक्त विलाप करने लगे। उनके शोक से तीनों लोक हिल गये। सब सन्त भगवान का स्तवन करने लगे। कहते हैं कि भगवान् विट्ठल वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने सबको बहुत समझाया कि ज्ञानेश्वर को आत्मरूप में देखो और पहचानो। परंतु सन्तों का समाधान नहीं हुआ। ज्ञानेश्वर के संभावित वियोग से उनके हृदय विकल हुए। निवृत्तिनाथ जैसा नित्य समाधि रखने वाला योगी भी फूट-फूट कर रोने लगा, मानो किसी नदी का बाँध भंग हो गया हो और चारों ओर से जलवेग-सा बहने लगा हो। अनुज सोपानदेव और छोटी बहन मुक्ताबाई के शोक का तो संत नामदेव वर्णन ही न कर सके। भला, कौन सी वाणी उनके शोक का वर्णन करने में समर्थ हो सकती थी। प्रिय माता के बिछुड़ने से अनाथ बच्चे जैसे इधर-उधर भटकने लगते हैं वैसी ही बेचैनी सोपानदेव और मुक्ताबाई को हुई। वास्तव में बचपन में उन्हें माता-पिता छोड़ गए थे, परन्तु तब उन्हें जो शोक नहीं हुआ था वह ज्ञानेश्वर के संभावित वियोग से होने लगा। अन्त में भगवान् पाण्डुरंग ने (विट्ठल ने) सबको सान्त्वना दी और संत ज्ञानेश्वर की प्रशंसा की 'तुम्हारी दिव्य वाणी धन्य है, जो तुमने बाईस वर्ष की अल्प आयु में अपने सद्विचार तथा साहित्य के द्वारा जगदुद्धार किया।' आलन्दी में इन्द्रायणी नदी के तट पर श्री सिद्धेश्वर का प्राचीन मंदिर था। उसकी बाईं ओर अजान वृक्ष की छाया

में एक गुहा खोदवाई गई। उक्त गुफा में संत ज्ञानेश्वर समाधि लेने के लिए सन्नद्ध हुए। संत नामदेव ने अपने पुत्रों के द्वारा उस गुफा को स्वच्छ कराया। वहाँ तुलसीदल और बिल्वपत्र बिछाकर संत ज्ञानेश्वर का आसन तैयार किया गया। संत ज्ञानेश्वर ने ललाट पर केशरयुक्त चन्दन लगाकर गले में पुष्पहार पहना। समाधिस्थान की, गुफा की परिक्रमा करके जब वे भीतर प्रवेश करने लगे तब सब संत बछड़े की तरह छटपटाने लगे। संत ज्ञानेश्वर आत्मानंद में मग्न थे। कहते हैं कि गुफा के अंदर प्रवेश करते समय उनका एक हाथ भगवान् के हाथ में था और दूसरा हाथ गुरु एवम् ज्येष्ठ भ्राता निवृत्तिनाथ के हाथ में था। दोनों ने उन्हें समाधि के आसन पर बैठाया। तीन बार भगवान् के चरणकमलों में शिर नवा कर, करकमल जोड़कर संत ज्ञानदेव ने नेत्र बन्द किए। भगवान् और निवृत्तिनाथ बाहर आये और गुफा के द्वार पर शिला रखी गयी। पश्चात् सब सन्तों ने समाधि पर पुष्प चढ़ाये। सब सन्त उनकी समाधि से बहुत शोकाकुल हुए, परन्तु संत ज्ञानेश्वर महाराज स्वयं पूर्णानन्द रूप थे। संत नामदेव ने उनकी समाधि का इतना विस्तारपूर्वक वर्णन किया है पर कहीं भी एक शब्द नहीं है, जिससे यह अनुमान किया जा सके कि संत ज्ञानेश्वर का चित्त किंचित् भी डाँवाडोल या विचलित हुआ हो। वे सब विकारों को तथा वृत्तियों को आत्मसात् कर चुके थे।

स्तुति सुमनाञ्जलि:—संत ज्ञानेश्वर महाराष्ट्र के भागवत धर्म या वारकरी पंथ के प्रवर्तक थे। अतः उनके प्रति समकालीन तथा परवर्ती संत कवियों ने जो श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित कीं उन से कुछ यहाँ उद्धृत करता हूँ।

संतश्रेष्ठ नामदेव:—धन्य हैं वे ज्ञाननिधान ज्ञानेश्वर जिनको सहज सिद्ध ज्ञानी एवम् योगी जान कर उग्र योगी चाङ्गदेव उनके चरणों पर गिर पड़े। सोऽहं सुकृत की ग्रन्थियाँ छुड़ाकर उन्होंने मराठी में ज्ञानेश्वरी की अपूर्व रचना की। एक बार आलंदी जाओ और उनकी समाधि का दर्शन कर पुण्य-लाभ करो।

संतिन जनबाई:—महाविष्णु के अवतार मेरे सखा ज्ञानेश्वर ने भक्तों पर आनन्द की वर्षा की।

सेना नाई:—आलंदी वासिनी ज्ञानबा माई! इस बच्चे पर दया करो, इसे सँभालो। मैं तो हीन जाति का हूँ, आप ही मेरा अभिमान रखो। यह विनती करके

मैं आपके चरणों में गिरता हूँ। वह भूमि धन्य है, वे प्राणी धन्य हैं, जो ज्ञानदेव को देखते हैं। मैं उनके चरणों का रजःकण हूँ।

नरहरि सोनार:—ज्ञानदेव के चरणों में मेरा भाव है। उन्होंने भक्ति की वर्षा कर साधारण जनता के उद्धार का मार्ग प्रशस्त किया।

श्री एकनाथ महाराज:—इस भूलोक पर विश्रान्ति का स्थान, संतों का घर अलङ्कापुरी है। मेरे जीका सञ्चित धन वहाँ है। वहाँ जाकर मैं ज्ञानदेव को नमन करूँगा। कैवल्य की मूर्ति, चैतन्य के हृदय मेरे ज्ञानदेव इस लोक पर भक्ति की वर्षा करने के लिए प्रकट हुए। मेरे ज्ञानदेव ज्ञानियों के सिरमौर हैं। वे मेरे मोक्षमार्ग के पथदर्शक हैं। ज्ञाना माई अनाथों की माता हैं। एकनाथजी ज्ञानदेव के प्रति प्रार्थना करते हैं—'मेरे हृदय में प्रवेश करके मुझे जगा दीजिए। अन्दर सत्ताधारी होकर बाहर प्रपञ्च कीजिए। हे श्रेष्ठ ज्ञानेश्वर! एकनाथ में आइए।'

महाकवि मुक्तेश्वर:—प्राकृत कवीश्वराचार्य संत ज्ञानदेव की बुद्धि की गंभीरता अगाध सिन्धु के समान है। मन में उन्हीं के चरणों का चिन्तन करके मैं पावन हो गया हूँ।

संत तुकाराम महाराज—हे ज्ञानियों के गुरु, राजाओं के महाराज, सब आपको ज्ञानदेव कहते हैं। इस महत्ता को मैं पामर क्या समझूँ? पैरों की जूती पैरों में ही रहना ठीक है। मेरे जैसा बच्चा घमंड में ही बात कहता है। महाराज, आप सिद्ध हैं, अपराध क्षमा करें। प्रभो! इस दास को अपने चरणों में रखिए।

संतिन कान्होपात्रा:—कान्होपात्रा! आज तेरा जन्म धन्य हुआ जो ज्ञानदेव का दर्शन हो गया।

कवि शिवदीन केसरी:—गीतामृत का पान कराकर जिसने सबको जिला दिया उसका नाम संत ज्ञानेश्वर है। उसके साहित्य में ज्ञानरस तथा सुन्दरता इतनी अद्भुत है कि उनका आस्वाद तथा दर्शन करते हुए नेत्र पागल हो जाते हैं।

निरञ्जन माधव:—जिन्होंने भगवद्गीता शास्त्र की टीका की और सबकी मायाभ्रान्ति नष्ट कर दी, उन मोक्षदाता सद्गुरुनाथ ज्ञानेश्वर को नेत्रों से देखो और चित्त से उनका चिन्तन करो।

महाकवि मोरोपन्त पराडकर:—हे ज्ञानेश भगवान्! भगवज्जन-आधार, महासदय! इस कलियुग में साधारण जन को तुम स्मरण मात्र से ही मुक्ति

का पद देते हो। जग को तारने के लिए तुमने श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या की। संसार-ताप मिटाने के लिए सुजन इस सद्ग्रन्थ का सार सेवन करते हैं। हे ज्ञानेश ! तुम्हारी कृति को सभी ज्ञाता प्रणाम करते हैं और कहते हैं कि ज्ञानेश्वरी श्रुति सी लगती है। वह महामोह-महिषासुर-मर्दिनी भवानी है। भगवद्गीता की ही शुचि, कीर्ति व सुमति लेकर ज्ञानेश्वरी आयी और विश्वविख्यात हुई। हे ज्ञानेश्वर ! तुमने अनेक जड जीवों का उद्धार किया। अतः इस मोर (मोरोपन्त) को भी उबारो। इस लोहे से, तुम पारस में कोई हीनता नहीं आवेगी।'

कविवर श्रीधर स्वामी:—'भगवद्गीता पदक है जिसमें संत ज्ञानेश्वर ने हीरे जड़ दिए। जो कृष्णचन्द्र ने कहा वह अधिक सरल करके ज्ञानेश्वर ने कहा। ज्ञानेश्वरी की रसवत्ता का कौन वर्णन कर सकता है।'

एवं सब परवर्ती श्रेष्ठ कवियों ने संत ज्ञानेश्वर की अलौकिकता सहर्ष स्वीकार की। कवि व्यक्तिगत रूप में जितना महान् होता है उतनी ही उसकी साहित्यरचना ऊँची होती है। हम पहले बता चुके हैं कि वर्णाश्रम की विषमता से जर्जर हुए हिन्दू समाज में भक्ति के विषय में समानता स्थापित करने के उदात्त हेतु से संत ज्ञानेश्वर ने वारकरी सम्प्रदाय को दृढ़ किया। अब उनकी लोकमंगलकारी साहित्यसृष्टि की सम्यक् जानकारी प्राप्त करना उचित होगा।

संत ज्ञानेश्वर की ग्रंथ-रचना:—संत ज्ञानेश्वर ने अल्पायु में भावार्थ-दीपिका (ज्ञानेश्वरी), अमृतानुभव, हरिपाठ के अभंग, चांगदेव पैंसठी और सैकड़ों फुटकर अभंगों की सरस रचना की। मराठी साहित्य का कोहिनूर हीरा माने ज्ञानेश्वरी। कोहिनूर को काटने से जैसे उसका तेज बढ़ता है वैसे ज्ञानेश्वरी का जितना अध्ययन होता है उतनी उसकी साहित्यिक गरिमा अधिक उज्ज्वलता से दिखाई देती है।

महर्षि व्यासकृत श्रीमद्भगवद्गीता की ज्ञानेश्वरी काव्यमय टीका है। श्री गीता जी की अब तक जितनी टीकाएँ हुई हैं उतनी शायद अन्य किसी ग्रन्थ की नहीं हुई हैं। श्री गीता की महत्ता का वर्णन करते समय कहते हैं 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं पयः।' उपनिषदों का सार, नवनीत गीता में ओतप्रोत है। भगवान् कृष्णचन्द्र ने सव्यसाची धनुर्धारी, महापराक्रमी, वीरश्रेष्ठ अर्जुन को संमोहग्रस्त तथा कर्तव्य-पराङ्मुख होते हुए

देखकर जो प्रेरक, प्रोत्साहक एवं तत्वज्ञानयुक्त उपदेश दिया उसको महर्षि व्यास ने गीता के रूप में काव्यबद्ध किया। सहस्रों वर्षों से गीता का अध्ययन तथा मनन भारतवर्ष में हिन्दू जनता कर रही है। श्री गीता का समावेश प्रस्थानत्रयी में होने से प्रायः सब पंथों के आचार्यों ने उसकी टीका माने व्याख्या की है। वैसे देखा जाय तो अन्य धार्मिक ग्रंथों की अपेक्षा श्रीमद्भगवद्गीता की संस्कृत भाषा बहुत प्रासादिक, सरल और सुलभ है। परन्तु अनेक शताब्दियों से संस्कृत बहुजनसमाज की भाषा नहीं रही थी। हम पहले लिख चुके हैं कि मराठी लोकभाषा बन चुकी थी और संस्कृत का क्षेत्र बहुत ही संकीर्ण एवं संकुचित बना था। केवल उच्चवर्ण के ब्राह्मण पंडित ही संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन करते थे और वे संकीर्णता तथा वर्णाभिमान के भक्ष्य बनकर लोकपराङ्मुख बने थे। हम पहले बता चुके हैं कि हिन्दू समाज को कर्तव्योन्मुख करने के लिए संत ज्ञानेश्वर ने साहित्य की सृष्टि की। जो रचना सबके लिए होती है उसके विषय के प्रति सबकी स्वाभाविक रुचि, श्रद्धा एवं भक्ति होनी आवश्यक है अन्यथा वह कृति जनता पर प्रभाव नहीं कर सकती। समाज को सर्वथा नई, अद्भुत और अलौकिक बात नहीं कहनी चाहिये क्योंकि उसकी ग्रहण करने की शक्ति सीमित रहती है। इस तत्त्व को ध्यान में रखकर हिन्दू समाज को श्रीमद्भगवद्गीता का प्रोत्साहक रहस्य समझाने के हेतु से संत ज्ञानेश्वर ने गीता की काव्यमय तथा रसभीनी टीका की सफल रचना की। ज्ञानेश्वर स्वयं इस ग्रन्थ को टीका ही कहते थे। परन्तु उनके शिष्यश्रेष्ठ संत नामदेव ने उसको ज्ञानेश्वरी अथवा ज्ञानदेवी कहा जो नाम महाराष्ट्र में रूढ हुआ। अन्य विद्वान् शिष्य ने उसे 'भावार्थदीपिका' कहा और यह नाम भी विद्वद्मान्य हुआ परन्तु पहले के जैसा सर्वजनसम्मत और प्रचलित नहीं हो सका।

टीका करने के लिये श्री गीता ही क्यों—ज्ञानेश्वर स्वयं लिखते हैं कि यह भगवद्गीता ग्रन्थ महान है, महतो महीयान् है क्योंकि वेदों में जो प्रतिपाद्य देवता हैं वे अर्थात् श्रीकृष्ण ही इस ग्रन्थ के वक्ता हैं। इसकी दूसरी विशेषता है कि श्री गीता वेदों की अपेक्षा एक बात में अधिक सम्पन्न तथा उदार है। वेदों का अध्ययन केवल उच्च त्रैवर्णिक ही कर सकते हैं परन्तु गीता का द्वार स्त्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के लिए भी सदा खुला है। श्री गीता समूचे हिन्दू समाज

का ग्रन्थ है। सङ्कीर्ण वेदों से वह अधिक उदार और सहिष्णु है। सन्त ज्ञानेश्वर को ऐसे उदार ग्रन्थ की ही आवश्यकता थी क्योंकि उनके पूर्व और उनके समय में जैन, महानुभाव और लिङ्गायत इत्यादि पंथों ने हिन्दूधर्म की सङ्कीर्णता से लाभ उठाकर अपना स्थान दृढ़ किया था और वे दिन प्रति दिन बढ़ रहे थे। सन्त ज्ञानेश्वर परम्पराबद्ध हिन्दू समाज को सङ्कीर्णता एवम् कर्मकाण्ड की जञ्जीरों से मुक्त करना चाहते थे और भक्ति का तथा मोक्ष का द्वार सब वर्णों के लिए समानता से खुला कराना चाहते थे जिससे हिन्दू समाज सम्भल जाय और विरोधी पंथों का अनायास प्रतिकार किया जाय। सन्त ज्ञानेश्वर की दृष्टि एक पंथ में दो काज साधने की थी। सामयिक हिन्दूधर्म में आवश्यक सुधार करके अन्य पंथों का प्रतिकार करना उनका ध्येय था। हिन्दुओं के आध्यात्मिक एवम् भक्ति के क्षेत्र में समता प्रस्थापित करने के पवित्र हेतु से उन्होंने श्री गीता पर टीका की।

मराठी का उचित अभिमान:—लोकमङ्गलकारी कवि लोकभाषा में रचना करता है। सन्त ज्ञानेश्वर कट्टर लोकमङ्गलकारी कवि थे। यद्यपि प्राकृत अर्थात् मराठी भाषा में छोटी मोटी रचनायें हुई थीं तो भी उस काल में देशी भाषा में गीता जैसे महान् धार्मिक ग्रन्थ की टीका करना एक साहस था। सन्त ज्ञानेश्वर गोस्वामी तुलसीदास जी जैसे संस्कृत के विद्वान थे अतः मराठी में गीता की टीका लिखने में उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा तथा कीर्ति की बाजी लगाई थी परन्तु भविष्य काल ने सिद्ध किया कि उन्होंने बाजी मारी भी। लोकमङ्गल करने की निरपेक्ष उमङ्ग से प्रेरित होकर उन्होंने मराठी को स्वीकार किया। अपनी मातृभाषा की प्रतिष्ठा, प्रौढता, अर्थव्यञ्जकता और सम्मान बढ़ाने की दृष्टि से उन्होंने मराठी में ग्रन्थ लिखा। उन्हें मराठी पर उचित गर्व था। वे कहते हैं 'मैं मराठी भाषा के शब्दों की योजना करता हूँ परन्तु यह रचना ऐसी रसभीनी होगी कि अपनी मधुरता के कारण सहज में वह अमृत को भी परास्त कर देगी। यदि इन मराठी शब्दों की तुलना कोमल एवम् मधुर गुण के साथ की जाय तो इनके सामने सङ्गीत के स्वरों की कोमलता भी फीकी ठहरेगी। यह है तो देशी भाषा, परन्तु इसकी सुन्दरता के आधार पर शान्त रस शृङ्गार रस से आगे बढ़ जायगा (शान्तरस शृङ्गार के माथे पर पांव देकर आगे बढ़ेगा)। मूल संस्कृत श्लोकों का देशी भाषा में जो आशय बतलाया गया है उससे अर्थ को अच्छी तरह समझ लेने के उपरान्त श्रोताओं को यह भ्रान्ति होने लगेगी कि इसमें मूल कौन सा है और

टीका कौन सी है। जिस प्रकार सुन्दर शरीर अपने स्वाभाविक लावण्य के कारण स्वयं ही आभूषणों का अलङ्कार हो जाता है अर्थात् सुन्दर शरीर के कारण आभूषणों की शोभा बढ़ जाती है उसी प्रकार आप श्रोताजन शुद्ध और सरल मति से यहाँ (टीका में) देखिए कि देशी भाषा और संस्कृत भाषा एक ही आसन पर अधिष्ठित होकर कैसे समानरूप से शोभा दे रही है। ज्योंही कोई भाव हृदय में उत्पन्न होता है त्योंही रस की वर्षा होने लगती है। इसी प्रकार देशी (मराठी) भाषा का समस्त सौन्दर्य कोमलता, अर्थव्यञ्जकता और आवेश बटोर कर इस गहन गीता तत्व का विवेचन किया गया है। हे श्रोतागण! जैसे वर और वधू के विवाह के समय बराती भी अच्छे अच्छे वस्त्र और आभूषण पहन कर आनन्द से घूमते हैं उसी प्रकार यहाँ देशी भाषा के सुखद आसन पर सब रस सुशोभित हो रहे हैं। इस गीता रूपी संस्कृत तीर्थ के तट पर उतरना बहुत ही कठिन है इसलिए मैंने देशी (मराठी) भाषा के शब्दों का ऐसा घाट बाँध दिया है कि जिसमें धर्म के भाण्डार सहजता से ही प्राप्त हो सकें। अब इस पवित्र सङ्गम में श्रद्धालुजन अच्छी तरह स्नान कर सकते हैं और भगवान् वेणी-माधव के दर्शन कर सकते हैं।' उपर्युक्त ओवियाँ स्पष्टता से बताती हैं कि सन्त ज्ञानेश्वर की देशी भाषा पर उतनी ही ममता थी जितनी तीन सौ वर्षों के पश्चात् गोस्वामीजी की थी। गोसाईं जी ने भी कहा था—

का भाषा का संस्कृत भाव चाहिये सांच।
काम जु आवे कामरी का लै करै कुमाच॥

इसी दृष्टि से सन्त गोस्वामी जी के समान सन्त ज्ञानेश्वर मराठी सारस्वत के इतिहास में युगप्रवर्तक माने जाते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने देशी भाषा को सर्वगुण-सम्पन्न करने के ध्येय से उसमें रचना की।

सन्त ज्ञानेश्वर का आत्मविश्वास :—किसी भी महान एवम् युगप्रवर्तक कार्य का स्रोत आत्मविश्वास है। आत्मविश्वास और अहंकार में भेद है। परन्तु आत्मविश्वास का पर्यवसान कभी भी और कैसे भी अहंकार में हो सकता है। हम आगे सन्त ज्ञानेश्वर के विनय का विवरण करने वाले हैं जिससे स्पष्ट होगा कि अहंकार उनसे कोसों दूर था। उन्होंने आत्मविश्वासपूर्वक यह प्रतिज्ञा की थी—'मैं गुरु की कृपा से देशी भाषा (मराठी) के प्रदेश में वाङ्मय-सौन्दर्य की खान

का निर्माण करूँगा और विवेकरूपी लताएँ लगाऊँगा। नास्तिकों की गुफाओं व वितण्डावादियों के टेढ़े-मेढ़े रास्तों तथा कुतर्क करनेवालों के हिंसक श्वापदों का पूरी तरह से नाश करूँगा। मैं भगवान् कृष्णचन्द्र के गुणों का ठीक ठीक वर्णन कर श्रोताओं को श्रवण का आनन्द-साम्राज्य प्राप्त करवा दूँगा। मैं इस देशी भाषा के नगर में ब्रह्मविद्या की भरमार करके लोगों को इस विद्यानन्द का मनमाना आस्वाद तथा लेन देन करने दूँगा। मैं ऐसा वाग्विलास प्रकट करूँगा जिससे यह सारा विश्व गीतार्थ से ओतप्रोत हो जायगा और देशी भाषा में कही हुई ये बातें अपनी रसार्द्र शीतलता के कारण चन्द्रमा की बराबरी की ठहरेंगी और इनके श्रवण से सन्तों के मन की तो आत्म-समाधि ही लग जायगी' इत्यादि। आत्मविश्वास की लौह-भित्ति पर खड़े होकर सन्त ज्ञानेश्वर ने पन्द्रह वर्ष की आयु में ज्ञानेश्वरी जैसे अक्षर ग्रन्थ का प्रणयन किया। अतः आइए, हम ज्ञानेश्वरी की विशेषताओं का अवलोकन करेंगे।

ज्ञानेश्वरी का रसग्रहण:—ज्ञानेश्वरी श्रीमद्भगवद्गीता की रसभीनी टीका है। इसमें श्री गीता के सात सौ अनुष्टुप् श्लोकों का प्रासादिक एवम् सरल विवेचन नौ हजार ओवियों में किया है। ओवि मराठी का एक छन्द है जिसके चार चरण होते हैं। संस्कृत के अनुष्टुप् का यह मराठी रूप है। यह टीका प्रधानतया काव्यगुणों तथा रसों से ओतप्रोत है। इन नौ हजार ओवियों में लगभग चार हजार ओविएँ विविध अलङ्कारों से युक्त हैं। मूल गीता में पचास से अधिक अलङ्कार नहीं हैं। अतः सहज में जाना जा सकता है कि काव्य की दृष्टि से इसकी योग्यता कितनी ऊँची है। यह टीका साम्प्रदायिकता से मुक्त या परे है। सन्त ज्ञानेश्वर स्वयं लिखते हैं कि मैंने श्रीमच्छङ्कराचार्य, रामानुजाचार्यादि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के आधार पर यह भाष्य लिखा है। उन्होंने उनका आधार स्वीकार करते हुए अपने भिन्न दार्शनिक मत की स्थापना की। सन्त ज्ञानेश्वर ने ज्ञान तथा भक्तिप्रधान कर्मयोग की नई स्थापना की। श्री शङ्कराचार्य ने ज्ञानप्रधान संन्यास पर अत्यधिक जोर दिया तो रामानुजाचार्य ने भक्ति पर खूब भार दिया था। सन्त ज्ञानेश्वर स्वयं आजन्म ब्रह्मचारी और संन्यासी रहे। परन्तु सामायिक हिन्दू समाज की दुर्गति देखकर उन्होंने भक्तियुक्त कर्मयोग का प्रभावकारी उपदेश दिया। भारतीय तत्वज्ञान को उनकी यह मौलिक देन है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (१८-४६)

श्लोक की व्याख्या करते समय वे लिखते हैं कि जिससे इस भूत सृष्टि ने आकार प्राप्त किया है, जिसने यह सारा विश्व अपने प्रकाश से दीपक की ज्योति की भांति अन्दर और बाहर व्याप्त कर रखा है, उस सर्वान्तर्यामी ईश्वर की विहित कर्माचरण के फूलों से पूजा करनी चाहिये। कर्माचरणरूपी पूजा से उसे अपरम्पार सन्तोष होता है।' एवम् भक्तियुक्त कर्म करने में ही मानवजीवन का सार तत्त्व भरा है ऐसी सन्त ज्ञानेश्वर की समाज के लिए मौलिक शिक्षा है। सन्त ज्ञानेश्वर के पूर्व शायद ही अन्य टीकाकार ने गीता की कर्मयोग-परक व्याख्या की हो। उनकी श्री गीता के प्रति मौलिक दृष्टि थी। कतिपय विद्वान आचार्यों ने गीता को तत्त्वज्ञान का एक शास्त्रीय ग्रन्थ माना था। परन्तु सन्त ज्ञानेश्वर स्पष्टता से कहते हैं—'सचमुच यह गीता वाग्विलास करने का शास्त्र नहीं है, संसार को जीतने का शस्त्र है। इसके अक्षर वे मन्त्र हैं जिनसे आत्मा का उद्धार होता है।' गीता को संसार जीतने का शस्त्र मानने वाला टीकाकार सन्त ज्ञानेश्वर के सिवा अन्य कौन है? सचमुच ही उन्होंने गीता का शस्त्र जैसा उपयोग करने का प्रभावकारी सन्देश अपनी टीका में आम जनता को दिया और वह सन्देश है कर्मयोग का। साधारण मनुष्य जानना चाहता है कि वास्तविक धर्म क्या है? विशेषतया उस काल में तो लोग कर्मकाण्ड और धार्मिक आडम्बरों में पूरी तरह से जकड़े हुए थे जिनका पालन करना स्वकर्तव्य को एक प्रकार से भूलना ही था। ऐसी विषम परिस्थिति में सन्त ज्ञानेश्वर ने हिन्दू समाज को गीता की टीका द्वारा प्रेरक सन्देश दिया कि 'व्रत, तीर्थयात्रा अथवा तपस्या में सारा दिन बिताने की अपेक्षा ब्राह्मणों के लिए अधिक उचित होगा कि वे भोले-भाले समाज को सदुपदेश देकर उसको स्वकर्म के प्रति उन्मुख करें। क्षत्रियों को चाहिये कि वे अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार प्रजा का रक्षण करें और आवश्यकता होने पर न्याय की प्रस्थापना करने के लिए रणाङ्गण में जोर से सङ्घर्ष करें। वे अर्जुन को स्पष्टता से कहते हैं कि 'तुम निःशङ्क होकर खूब अच्छी तरह जमकर लड़ो। बहुत बातें हो चुकीं, जो बात बिलकुल स्पष्ट दिखाई पड़ती है उसका व्यर्थ बहुत सा विस्तार क्यों किया जाय? अपना नियत कर्तव्य करो।' सन्त ज्ञानेश्वर ने वर्णाश्रम धर्म का पालन करने पर अत्यधिक जोर दिया। वे कहते हैं कि जो अपने वर्णाश्रम धर्म का त्याग करता है उसे यमराज चोर

समझकर कड़ा शासन करेगा। हम सब जानते हैं कि वर्णाश्रम धर्म समाजरचना की ऐसी व्यवस्था है कि उसके अनुसार हिन्दू समाज के प्रत्येक अङ्ग का सामाजिक कर्तव्य तथा अधिकार सुनियत किया गया था जिसका पालन करने से सामाजिक सन्तुलन एवम् अभ्युदय होता था। सन्त ज्ञानेश्वर ने उपर्युक्त वर्णाश्रम प्रणाली में विषमता अर्थात् ऊँच-नीच की घृणा का जो दोष पैदा हो गया था उसको हटाने की भरसक कोशिश की। उन्होंने शूद्रों के लिए भक्ति के द्वारा मोक्षप्राप्ति के द्वार खोल दिए। भागवत माने वारकरी सम्प्रदाय की प्रस्थापना करके उसमें शूद्रों को सम्मिलित किया और आध्यात्मिक क्षेत्र में समता प्रस्थापित की। गीता के नवें अध्याय के—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

श्लोक की उन्होंने बड़ी उदार व्याख्या की है। वे कहते हैं—'जब मेरे प्रेम से मन और बुद्धि पूर्ण तरह से भर जाती है तब कुल और जाति व्यर्थ की बातें होती हैं। हे अर्जुन! वास्तविक धन्यता तो मेरी सच्ची भक्ति में ही है। जैसे नाले आदि तभी तक नाले कहलाते हैं जब तक वे गंगा में नहीं गिरते अथवा जिस प्रकार लकड़ियों के चन्दन, खैर आदि वर्ग तभी तक रहते हैं जब तक वे आग में पड़कर उसके साथ एकरूप नहीं हो जाते वैसे ही जब तक कोई मेरे स्वरूप के साथ भक्ति द्वारा मिलकर समरस नहीं हो जाता तभी तक वह क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज आदि के रूप में भासमान होता है। परन्तु जिस प्रकार समुद्र में डाला हुआ नमक का डला उसी में लीन हो जाता है, उसी प्रकार मेरे साथ समरस होते ही जाति-भेदवाले भास का पूर्ण रूप से लोप हो जाता है। मनुष्य का जन्म चाहे जिस जाति में हुआ हो पर यदि वह मेरी भक्ति करता है तो वह मुझे प्रिय है। इसीलिए हे अर्जुन, चाहे पाप-योनि हो चाहे वैश्य, शूद्र हो अथवा स्त्री, सब लोग मेरी उपासना से ही मेरे स्थान तक पहुँचते हैं।' एवं संत ज्ञानेश्वर ने वर्णाश्रम व्यवस्था में प्रविष्ट हुई संकीर्णता, विषमता और घृणा को भक्ति का द्वार सबको खुला करके हटाने का यशस्वी प्रयत्न किया और वे उसमें अत्यधिक सफल हुए। उन्होंने नष्ट होनेवाले वर्णाश्रम को सुधार कर संभाल लिया और सब अवैदिक पंथों को महाराष्ट्र में परास्त किया एवं भक्ति के लचीले सूत्र में बिखरे हुए हिन्दू समाज को एकत्र पिरोया।

इस प्रकार हिन्दूधर्म तथा समाज की रक्षा करने के लिए उन्होंने गीता-टीका का शस्त्र जैसा उपयोग किया। इस महान् ग्रन्थ का स्थूल अवलोकन करने के पश्चात् अब उसकी कुछ काव्यात्मक या साहित्यिक कलाविषयक विशेषताओं का अध्ययन करें।

मूल संस्कृत भगवद्गीता में प्रमुखतया भगवान् कृष्णचन्द्र और अर्जुन, इनका ही संवाद है। राजा धृतराष्ट्र और संजय इनका संलाप बहुत ही संक्षिप्त है। परन्तु संत ज्ञानेश्वर प्रतिभाशाली कवि थे अतः उन्होंने अपनी टीका में कथोपकथन का कलात्मक चित्रण करके टीका प्रबन्धकाव्य जैसी आकर्षक बनायी। उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र और सव्यसाची अर्जुन, गुरु और शिष्य, वक्ता और श्रोता तथा धृतराष्ट्र और संजय इतने युगल संलाप के लिए निर्माण किये। मूल गीता में संमोहग्रस्त अर्जुन शिष्य की तरह गुरु, श्रीकृष्ण से प्रश्न पूछता है और भगवान् भी उसी तरह उत्तर देते हैं। अपवाद के लिए एक दो स्थलों में भगवान् उसे सखा कहते हैं। संत ज्ञानेश्वर ने भी अर्जुन को भक्त और सखा की भूमिकाओं में खूब चित्रित किया है जिसके कथोपकथन में आर्द्रता, भावुकता तथा स्निग्धता भरी है। ऐसा प्रतीत होता है कि रंगमंच पर श्रीकृष्ण और अर्जुन में साभिनय संलाप हो रहे हैं और पाठक दर्शक बनकर उसे समरसता से सुन रहे हैं। उनका ऐसा सजीव एवं रसभीना चित्र खींचा गया है जो देखते ही बनता है। वह वर्ण्य नहीं है, आस्वाद्य है। पाठक मूल में पढ़ने का कष्ट करें। ज्ञानेश्वरी की अद्वितीय विशेषता है कि वह उत्स्फूर्त प्रवचनात्मक काव्य है।

ज्ञानेश्वरी रसभीना वक्तृत्व है :—पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में और अन्य कई स्थलों पर ज्ञानेश्वर ने स्पष्ट कहा 'हे श्रोतागण, जिस प्रकार मेघ अपनी सारी जल-सम्पत्ति चातकों के लिए उलट देता है, उसी प्रकार श्री गुरुदेव ने मुझ पर अपनी करुणा की वर्षा की। इसी का परिणाम है कि जब मैं व्यर्थ की बकवाद करने लगा तब उस बकवाद से गीता का मधुर रहस्य निकल पड़ा।' संत ज्ञानेश्वर ने नेवासे गाँव में देहाती श्रोताओं के सम्मुख गीता की काव्यबद्ध व्याख्या की। यह अन्य भाष्यग्रन्थों के जैसा विचारपूर्वक और अन्य सामग्री के आधार पर लिखा हुआ ग्रन्थ नहीं है। संत ज्ञानेश्वर समयस्फूर्त काव्य-पंक्तियों के द्वारा गीता के श्लोकों का अर्थ समझा देते थे और उनके शिष्य सच्चिदानन्द बाबा उनकी उक्तियाँ लिखते जाते थे। ज्ञानेश्वरी कवि की कही हुई हैं

कवि की स्वयं लिखी हुई नहीं है। ज्ञानेश्वर द्वारा आम जनता को गीता का सरल व सुबोध अर्थ बताते हुए अनायास ज्ञानेश्वरी की रचना हो गयी। उन्होंने प्रारम्भ में शारदा, गुरु निवृत्तिनाथ और श्रोताओं की इस प्रकार वंदना की है—

'प्रथम मैं उस विश्वमोहिनी शारदा की वन्दना करता हूँ जो वाणी के नित्य नये-नये विलास प्रगट करती है और जो चातुर्य तथा कलाओं की अधिष्ठात्री देवता है। जिस प्रकार हाथ में चिन्तामणि आने पर सब प्रकार के मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि सद्गुरु श्री निवृत्तिनाथ जी की कृपा से मैं पूर्णकाम हो गया हूँ। जिस प्रकार सागर में स्नान करने से त्रिभुवन के समस्त तीर्थों में स्नान करने का फल प्राप्त होता है अथवा जिस प्रकार अमृत रस का पान करने से समस्त रसों का आनन्द मिल जाता है उसी प्रकार मेरे समस्त इष्ट मनोरथ जिनके द्वारा सिद्ध हुए उन श्री गुरुदेव की मैं बार-बार वन्दना करता हूँ। हे सज्जन श्रोतागण! आप गम्भीर और उदार अन्तःकरण के हैं इसीलिए मैं आपके चरणों में नम्र होकर कथा श्रवण करने की प्रार्थना करता हूँ। भ्रमर जिस प्रकार कमलों से पराग ले जाता है और कमलदलों को इस बात का पता भी नहीं लगने पाता अथवा जैसे कुमुदिनी ही यह बात जानती है कि किस प्रकार बिना अपना स्थान छोड़े उदित हुए चन्द्रमा का आलिंगन किया जाता है उसी प्रकार आप अपने हृदय को निश्चल, कोमल और ग्रहणशील बनाकर मेरी वक्तृता सुनिए।' इसी प्रकार नवें अध्याय के प्रारम्भ में सम्मुख बैठे हुए गुरु की वन्दना करके वे श्रोताओं की प्रार्थना करते हैं—'जब वक्ता और श्रोताओं के मेल की अनुकूल वायु चलने लगती है तब हृदयरूपी आकाश में वक्तृत्व के रसमेघ का संचार होता है। परन्तु यदि श्रोता लोग उदासीनता के कारण ठीक तरह से ध्यान न देंगे, तो वक्तृत्व रस का बना बनाया मेघ भी छिन्न-भिन्न हो जायगा। जैसे चन्द्रकान्तमणि को पसीजने में प्रवृत्त करने की शक्ति चन्द्रमा में ही होती है उसी प्रकार जब तक सहृदय श्रोता न हो तब तक कोई वक्ता कभी वक्ता हो नहीं सकता।' ज्यों ही संत ज्ञानेश्वर ने श्रोताओं से यह विनती की त्यों ही श्री सद्गुरु निवृत्तिनाथ ने उन्हें प्रवचन प्रारम्भ करने की आज्ञा दी। इस प्रकार प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में गुरु और श्रोताओं की वन्दना करके संत ज्ञानेश्वर गीता की टीका की वक्तृता प्रारम्भ करते हैं। वन्दना में सद्गुरु की महत्ता, आध्यात्मिक आवश्यकता, उसकी कृपा का अलौकिक

प्रभाव इत्यादि का तथा श्रोताओं की सहृदयता की आवश्यकता, महत्व, श्रवण करने की रीति, शैली इत्यादि का रसभीना एवं अलंकारों से ओतप्रोत वर्णन लगभग सात सौ ओविओं में भरा है।

ज्ञानेश्वरी की दूसरी विशेषता है कि उसमें अध्यात्म और अष्टांग योग जैसे क्लिष्ट और दुरूह विषयों का विवेचन अत्यन्त सरल, सुबोध और अलंकृत भाषा में मिलता है जिसका श्रवण साधारण जन बड़े चाव से करते हैं। उक्त अगम्य विषयों का विवेचन संत ज्ञानेश्वर अनेकानेक दृष्टान्तों द्वारा तथा उपमा-रूपकों द्वारा करते हैं। योगाभ्यास से कुंडली कैसे जागृत होती है, देखिये—'हे अर्जुन वज्रासन के ताप के कारण कुंडलिनी नाम की शक्ति जागृत होती है। जिस प्रकार नागिन का कुंकुम के समान लाल बचा कुंडली बनाकर बैठता है, उसी प्रकार यह कुंडलिनी नामक छोटी नाड़ी साढ़े तीन फेरे की कुंडली मारकर और सिर नीचे करके नागिन की तरह सोई रहती है। विद्युत् के बने हुए कंकण या अग्नि की ज्वाला की रेखा या सोने के बढ़िया घोंटे हुये पाँसे की तरह यह कुंडलिनी नाभिस्थान की छोटी-सी जगह में अच्छी तरह बन्धनों से जकड़ी हुई पड़ी रहती है पर वज्रासन का दबाव पड़ते ही उठती है। फिर जिस प्रकार कोई तारा टूट पड़ता है अथवा सूर्य का आसन छूट जाता है अथवा स्वयं तेज का बीज प्रस्फुटित होने पर उसमें कोमल गाभ निकलता है उसी प्रकार यह कुंडलिनी अपना घेरा छोड़ देती है और मानो अँगड़ाई लेती हुई नाभिकन्द पर खड़ी हो जाती है' इत्यादि। योगी का शरीर कैसा प्रतीत होता है, पढ़िए—'योगी के अंगों की कान्ति या प्रभा ऐसी जान पड़ती है कि मानो शुद्ध स्फटिक का निर्दोष स्वरूप हो या रत्न का बीज प्रस्फुटित हुआ हो और उसमें कोमल काँटे निकले हों अथवा ऐसा लगता है कि सन्ध्याकाल का रंग लेकर यह शरीर बनाया गया है या यह अन्तःस्थ चैतन्य के तेज की निर्मल प्रभा है' इत्यादि। सन्त ज्ञानेश्वर जटिल आध्यात्मिक तत्वों को कैसे सुगम करते हैं देखिए? ब्रह्म में माया कैसे उत्पन्न हुई 'जल पर जब काई बढ़ जाती है तब वह जैसे जल को ढाँक देती है अथवा निरर्थक बादल भी आकाश को छिपा देते हैं वैसे माया ब्रह्म पर आवरण होता है। पर यह रहने दीजिए, देखिए कि आँख का परदा आँख में बढ़कर आँख का देखना क्या बन्द नहीं कर देता, वैसे ही मेरी प्रतिबिम्बरूप त्रिगुणात्मक छाया परदे की तरह मुझे ही छिपाये हुए है। जैसे जल में उत्पन्न होने

वाले मोती जल में जलरूप होकर मिल नहीं जाते वैसे ही सब प्राणी मेरे ही होने पर मत्स्वरूप नहीं होते।' (अ. ७) काम-क्रोध जैसे सूक्ष्म और अवर्णनीय विकारों का वर्णन पढ़िए। 'ये काम-क्रोध बड़े ही क्रूर हैं, इन्हें काल ही समझो। ये ज्ञान निधि के साँप, विषय कन्दरा के बाघ व भजन मार्ग के घातक हैं। ये देहरूपी दुर्ग के पत्थर, इन्द्रिय ग्राम के बैरी हैं, इन्होंने सारे संसार में अज्ञानादि रूप से गदर मचा रखा है। ये बिना जल के ही डुबा देते हैं, बिना आग के ही जला देते हैं, बिना बोले ही प्राणियों को लिपटा लेते हैं। ये बिना शस्त्र के मारते हैं, ज्ञानियों की तो बाजी मारकर जान ही ले लेते हैं। उन्होंने सन्तोष बन काट डाला है, धैर्य-दुर्ग गिरा दिए हैं और आनन्द के पौधे उखाड़ फेंके हैं।' 'मया ततमिदं सर्वम्' इन पदों पर उत्तरोत्तर अधिकाधिक उत्तम दृष्टान्त या उपमा देने का उनका प्रतिभा-कौशल देखिये 'जैसे दूध का जमना ही तो दही है, वैसे मेरा ही विस्तार यह जगत् है। अथवा बीज ही जैसे वृक्ष होता है, या सोना ही अलङ्कार बनता है वैसे ही यह जगत् मेरे अकेले का ही विस्तार है।' सन्त ज्ञानेश्वर आध्यात्मिक रूपकों का कैसे कौशल से व्यवहार करते थे, पढ़िए—'अब मैं अपने हृदय को चौकी बनाकर उस पर श्री गुरुदेव के चरणों की स्थापना करता हूँ। समस्त इन्द्रियों के किञ्चित् खिले हुए फूल ऐक्य भाव से अपनी अंजली में भरकर यह पुष्पांजलि मैं अर्घ्य के रूप में श्री गुरुदेव को अर्पित करता हूँ। जो एकनिष्ठ वासना अनन्य भक्ति भाव से शुद्ध हो चुकी है उसी को चन्दन के रूप में मानकर मैं श्री गुरुदेव को इसका अखण्ड तिलक लगाता हूँ। आनन्द की सुगन्ध से सुगंधित अष्ट सात्विक भावों का खिला हुआ अष्ट-दल-कमल मैं उन पर चढ़ाता हूँ। मैं अहंकाररूपी धूप जलाकर उन गुरु चरणों के आगे सोऽहं-रूपी दीपक से आरती करता हूँ और समरस भाव से उन्हें निरन्तर आलिंगन करता हूँ। मैं अपने शरीर और प्राण दोनों के खड़ाऊँ बनाकर अपने गुरुदेव के चरणों के नीचे रखता हूँ और भोग तथा मोक्ष का राई-नोन उन पर से उतारता हूँ।' इत्यादि।

अद्वैतामृतवर्षिणी टीका:—भगवद्गीता अद्वैत का प्रतिपादन करती है और संत ज्ञानेश्वर कहते हैं कि मेरी टीका (ज्ञानेश्वरी) में अद्वैत का विवेचन ओतप्रोत है। मानो ज्ञानेश्वरी में सर्वत्र अद्वैतामृत की वर्षा हो रही है। सचमुच अध्याय सङ्गति, श्लोकों के भावार्थ अथवा स्पष्टार्थ देते हुये सर्वत्र ज्ञानेश्वर का यही

ध्यान अखण्ड रहा है। मानो अद्वैत के सूत्र में उन्होंने अठारह अध्याय पिरो दिये हैं। उनका रचना कौशल यह है कि जन्य-जनक भाव से एक अध्याय से दूसरा अध्याय आप ही आप विकसित होता है और सब ज्ञानेश्वरी को एक प्रबन्ध काव्य का स्वरूप प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण, अर्जुन, धृतराष्ट्र, संजय, सद्गुरु, शिष्य, वक्ता और श्रोताओं के स्वभावों के ऐसे यथार्थ और आकर्षक चित्र उन्होंने उन्हीं के संलापों द्वारा खींचे हैं कि ऐसा कलापूर्ण और भावरम्य स्वभाव-चित्रण गीता की अन्य किसी टीका में नहीं मिलेगा। रूक्ष टीकाग्रन्थ को प्रबंध-काव्य जैसे रसभीने और प्रभावकारी स्वभाव-चित्रण से युक्त बनाना संत ज्ञानेश्वर की अनूठी साहित्यिक यशस्विता का कार्य था।

साहित्य की परतत्वनिष्ठ व्याख्या :—गीता की व्याख्या करते समय संत ज्ञानेश्वर को अपनी कवि-प्रतिभा का जागृत भान था अन्यथा नौ हजार ओविओं में तीन हजार उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त इत्यादि अलङ्कारों का समुचित और रसोत्पादक उपयोग वे न करते। वास्तव में वे किसी भी प्रतिमान के आधार के विना मुँह से वाक्य नहीं निकालते थे। यह अलौकिक प्रतिभाशाली कवि रूपकों द्वारा ही सोचा करता था। कहते हैं कि कवि की प्रतिभाशक्ति रसोत्पत्ति करने की अपेक्षा अलंकारों की उचित योजना करने में ही प्रतीत होती है, क्योंकि अलङ्कारों की निर्मिति में और योजना में कल्पना शक्ति, स्फूर्ति, व्यावहारिक चतुरता, बुद्धि का पैनापन, अवलोकन की सूक्ष्मता इत्यादि की परीक्षा होती है। रसोत्पत्ति का स्रोत कवि की सहृदयता ही है। अतीव रसभीना काव्य अलङ्कारहीन हो सकता है तथा अलङ्कारों से भारयुक्त काव्य निरस, रसहीन हो सकता है। परन्तु सच्चा और श्रेष्ठ काव्य उसे ही कहा जा सकता है जो रस से ओतप्रोत हो और अलङ्कारों से सुशोभित हो। संक्षेप में सहृदयता और कल्पना शक्ति के संयोग से जो सृष्टि होती है वही खरा काव्य है। अतः संत ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी' में काव्य की सुन्दर व्याख्या की है—'वाणी के व्यवहारों में काव्य श्रेष्ठ है, पर उसको (काव्य को) रसिकता की संगति प्राप्त होनी चाहिये और उस रसिकता में भी परमार्थतत्व की रुचि या लालसा भरी रहना अत्यावश्यक है।' (अध्याय १८ वाँ) आप अन्यत्र भी साहित्य की व्याख्या करते हैं—'जिस प्रकार कुलीन स्त्री में लावण्य (सुन्दरता), गुण और पातिव्रत भी होते हैं, उसी प्रकार कविता की पंक्तियों में साहित्य का ललित गुण

और शांतरस दोनों ही स्पष्ट रूप से दिखाई देने चाहिये।' संस्कृत साहित्य शास्त्रज्ञों ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' माने रसभीना वाक्य काव्य कहलाता है ऐसी काव्य की सर्वमान्य व्याख्या की। उसके पूर्व कई साहित्यशास्त्रज्ञों ने अलङ्कारों को या अपूर्व निर्माण क्षमता को अथवा औचित्य को या ध्वनि (व्यञ्जकता) को अथवा रस को ही काव्य की आत्मा मानकर काव्य की व्याख्या करने का प्रपञ्च किया। परन्तु काव्य में परमार्थतत्व का किसी ने भी उल्लेख नहीं किया। संत ज्ञानेश्वर की दृष्टि से काव्य में बाह्य सौन्दर्य (अलङ्कार) होना और रसभीनापन होना आवश्यक तो है ही, परंतु इसके अतिरिक्त उस काव्य को शांतरसपूर्ण माने परमार्थनिष्ठ होना आवश्यक है। ज्ञानेश्वर केवल मनोरञ्जनवादी या कलावादी अथवा सौन्दर्यवादी कवि नहीं थे। वे कला, सुंदरता, अलङ्कार इत्यादि को साधन या भूषण मानकर उनका उपयोग काव्य के परमार्थनिष्ठ रसभीनेपन की उत्पत्ति में करना कवि का कर्तव्य समझते थे। खरे लोकमङ्गलवादी और संत कवि की यही मनोभूमिका हो सकती है। लोकमङ्गलवादी कवि निरा लोकरञ्जनवादी हो नहीं सकता। निरी लोकरञ्जनवादिता में तत्त्वभ्रष्टता और हीनता है, ध्येयशून्यता है। ज्ञानेश्वर पहले संत थे बाद में कवि बने। संतपन उनके कवित्व का स्रोत था। इसी लिए अपनी अलौकिक काव्यप्रतिभा का विनियोग उन्होंने समाज के उद्धार में किया और गीता की टीका करने में अपनी अपूर्व निर्माणक्षमता प्रदर्शित की। अठारहवें अध्याय के अंत में वे समाधान व्यक्त करते हैं—'इन पंक्तियों की रचना में मैंने ब्रह्मरस से सुंगधित किये हुए अक्षर इस प्रकार रखे हैं कि उन्हें छोटे बच्चों से लेकर बड़े तक सभी लोग बहुत सहज में समझ सकते हैं। इसके श्रवण से प्रत्येक व्यक्ति को अत्यानन्द के अनुभव का सर्वोच्च अंश प्राप्त होगा और उसकी समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट होंगी। चकोर अपनी शक्ति से चंद्रमा का उपभोग करके सुखी होता है, परंतु उस चंद्रमा की चाँदनी क्या और किसी को प्राप्त नहीं हो सकती? ठीक उसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र के अधिकारी व्यक्तियों को इसके गम्भीर रहस्य का ज्ञान होता है किंतु केवल इसकी वाक्-चातुरी से भी बहुत से जन सुखी होते हैं।' एवम् अपनी परमार्थनिष्ठ सुंदर काव्य कृति से वे कृतार्थता का अनुभव करते थे।

काव्य का प्रयोजन:—भला संत ज्ञानेश्वर आत्मसमाधान का क्यों नहीं अनुभव करते? जिस प्रयोजन से उन्होंने ज्ञानेश्वरी कही थी वह पूरा हो गया।

उनका काव्य-प्रयोजन संक्षेप में यह था—'इस रचना से पिशाच तक के अन्तःकरण में भी सात्विकवृत्ति का स्रोत उमड़ पड़ेगा और इसके श्रवण से संतों के मन की तो आत्मसमाधि ही लग जायगी। इस वाग्विलास से यह सारा विश्व गीतार्थ से ओतप्रोत हो जायगा और मैं संसार के लिये एक आनन्दमय मंदिर ही खड़ा कर दूँगा। मेरा व्याख्यान सुनकर विवेक भी बोलने लगेगा, श्रोताओं के कान और मन सार्थक हो जायँगे और इन्हीं आँखों से परमात्मतत्व के दर्शन होने लगेंगे और सबके लिये सुख का पर्व निर्मित होगा।' इतने उदात्त, पवित्र और परमार्थपरक प्रयोजन से प्रेरित होकर संत ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी कही और यदि उसकी सफल समाप्ति से उन्हें समाधान मिला होगा तो उसमें अनुचित क्या था?

ज्ञानेश्वरी की कलात्मक श्रेष्ठता या माहात्म्य:—लब्धप्रतिष्ठ अंग्रेजी साहित्यशास्त्रज्ञ वॉल्टर पेटर श्रेष्ठकला (Great Art) की एवं व्याख्या करते हैं- It is on the quality of matter it informs or controls, its compass, its variety, its alliance to great ends, or the depth of the note of revolt, or the largeness of note in it, that the greatness of the literary art depends. Given the conditions as constituting good art, then if it be devoted further to the increase of men's happiness, to the redemption of the oppressed or the enlargement of our sympathies with each other......if over and above these qualities of mind and soul, that calm and mysticperfume & that reasonable structure, it has something of the soul of humanity in it, it is undoubtedly a great art.' वह खरी श्रेष्ठ कलाकृति है जिसमें रचना कौशल, सुंदरता, रसभीनापन इत्यादि गुणों के साथ उत्पीड़ितों के प्रति सहानुभूति, सब के कल्याण की तड़पन, विश्व का उद्धार करने की तीव्र इच्छा, आत्मसाक्षात्कार का अनुभव इत्यादि प्रतीत होते हैं।' अब हम पाठकों से विनती करते हैं कि वे बुद्धिमानी से देखें कि उपर्युक्त कसौटी ज्ञानेश्वरी पर घटती है या नहीं। ज्ञानेश्वर ग्रन्थ समाप्त करने के पूर्व प्रार्थना करते हैं कि 'इस ग्रन्थ रूपी धर्म-कीर्तन की जो सुख रूप समाप्ति हुई है वह आप सब सज्जन श्रोताओं की कृपा का फल है। अब

समस्त विश्व की आत्मा वह परमेश्वर इस वाङ्मय यज्ञ से संतुष्ट होकर मुझे केवल इतना ही प्रसाद प्रदान करे कि दुष्टों की नजर सीधी हो जाय, उनके हृदय में सत्कर्मों के प्रति प्रेम उत्पन्न हो और भूत मात्रों में परस्पर हार्दिक मैत्री हो। पापों का अंधकार नष्ट हो, आत्मज्ञान के प्रकाश से सारा विश्व उज्ज्वल हो और जो प्राणी जिस बात की इच्छा करे वह उसे प्राप्त हो। समस्त मङ्गलों की वर्षा करनेवाले संत सज्जनों का जो समुदाय है, उसकी इस भूतल के भूत मात्र के साथ अखण्ड भेट हो। ये संतजन मानों कलङ्कहीन चन्द्रमा अथवा तापहीन सूर्य हैं और सभी लोगों के सदा के सगे सम्बन्धी हैं। सारांश यही है कि तीनों भुवन अद्वैत सुख से परिपूर्ण होकर अखण्ड रूप से उस आदि पुरुष के भजन में लगें और विशेषतः जो व्यक्ति अध्ययन-अध्यापन में रत हैं उन्हें ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति हो। अंत में इस ग्रंथ की पवित्र सम्पत्ति से प्राणी मात्र को उत्तरोत्तर सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति हो।' क्या वॉल्टर पेटर के कहने का प्रत्येक शब्द ज्ञानेश्वरी पर घटता नहीं है? तीन सौ वर्षों के पश्चात् संत कवि महाराज एकनाथ ने ज्ञानेश्वरी के संबंध में कहा कि यह अमृत परोस कर रखा हुआ थाल है। इसमें अपनी ओवी मिलाना अमृत में क्षार मिलाना है। सचमुच ज्ञानेश्वरी में चातुर्य समाया हुआ है, सिद्धांत सुरुचिपूर्ण बना है, सुख सौभाग्य से हृष्ट पुष्ट हुआ है, सौंदर्य पवित्रता से अधिक आकर्षक बना है, रस अधिक आस्वाद्य हुए हैं, कला कौशल अधिक हृद्य बना है, शब्द-श्री अति शोभायमान हुई है, विवेक तरु फूले हैं और अध्यात्म का बोध सुकुमार बनकर सबके लिये सुगम और सुसेव्य हुआ है और भक्ति सबकी सखी बनी है। ज्ञानेश्वरी की महिमा कौन पूरी तरह से बखान कर सकता है। ज्ञानेश्वरी का साहित्यिक मूल्याङ्कन करते समय लब्धप्रतिष्ठ साहित्य-इतिहास लेखक श्री वि० ल० भावे ने लिखा है—'ज्ञानदेव की कृति 'ज्ञानेश्वरी' ही नहीं अपितु वागीश्वरी भी है। वह जैसे एक धर्मक्षेत्र है वैसे वह काव्यगङ्गा भी है। ज्ञानदेव की प्रतिभालता के कुसुमों में वह दिव्य गुण है कि न वे कभी सूखते हैं न उनकी सुगन्ध कम हो सकती है। ऐसे अमोल पुष्पों की वाग्वैजयन्ती से ज्ञानदेव ने महाराष्ट्र शारदा को सुशोभित किया है।' संक्षेप में हम इतना ही कहेंगे कि ज्ञानेश्वरी मराठी साहित्य या भारतीय साहित्य का ही नहीं अपितु संसार के वाङ्मयोदधि का एक उज्ज्वल रत्न है।

ज्ञानेश्वरी की रचना कर संत ज्ञानेश्वर स्वयम् अपने जन्म की कृतार्थता

सम्पादित करने के आनंद में मग्न हुए थे परन्तु उनके ज्येष्ठ भ्राता और गुरु निवृत्तिनाथ ने उनको उपहास में कहा कि 'तुमने आखिर मीठा क्यों न हो परंतु जूठा ही खा लिया माने भगवान् श्रीकृष्ण के उच्छिष्ट वचनों की ही टीका की। इसमें तुम्हारी मौलिक प्रतिभा कम है अतः दूसरी ऐसी रचना करने की चेष्टा करो कि जिसमें तुम्हारी मौलिकता का पूरा दर्शन हो और वाग्विलास देखने को मिले।' संत ज्ञानेश्वर ने गुरु की सम्मति का तथा अभिप्राय का मर्म तुरंत ग्रहण किया और वे 'अमृतानुभव' की रचना करने में संलग्न हुये।

अमृतानुभव का सारः—ज्ञानेश्वरी में परतत्त्व को स्पर्श करनेवाले शांतरसपूर्ण काव्य का प्रकर्ष है किन्तु अमृतानुभव में साक्षात्कार के बल पर विवेचित तत्त्वज्ञान का प्रकर्ष है। ज्ञानेश्वर महाराज का मौलिक तत्त्वज्ञान अमृतानुभव में अधिक स्पष्ट हुआ है। तत्त्वज्ञान जैसे रूक्ष विषय को ज्ञानेश्वर ने अपनी प्रतिभा से रसभीना एवम् सुन्दर बना दिया है। यहाँ उन्होंने बौद्धों के शून्यवाद या अनात्मवाद, सांख्यों के पुरुष-प्रकृतिवाद और अज्ञानवाद का पूरा खंडन करके अपने चिद्विलासवाद या स्फूर्तिवाद की तर्कयुक्त स्थापना की है। अनेक दृष्टान्त देकर उन्होंने यह प्रस्थापित किया कि संसार मिथ्या, मायिक या अज्ञानमय नहीं है बल्कि चैतन्य का, श्रीविष्णु का विलास है। यह जगत् केवल चिद्विलास है, आनन्दमय है, वस्तुप्रभा है। ब्रह्म ने प्रकाश के कपाट खोले अर्थात् नाम-रूपात्मक जगत् विकसित हुआ। द्रष्टा और दृश्य का पूर्ण ऐक्य है। संसाररूपी दृश्य को मिथ्या, मायिक या अध्यारोपित मानने का कोई कारण नहीं है। यह संसार चिद्रूप ही है। चित्पुरुष ही अपने आप को (रूप को) देख रहा है। यह दृश्यजगत् परब्रह्म की आत्मप्रतीति है। अमृतानुभव के अन्त में उन्होंने अद्वैत में भक्ति कैसे हो सकती है यह बहुत स्पष्टता से विवेचित किया और जोर देकर कहा कि भक्ति से ही साधारण जन मुक्ति पा सकते हैं।

यह संत ज्ञानेश्वर का सर्वथा स्वतंत्र ग्रंथ है। इसके मङ्गलाचरण के प्रथम पाँच श्लोक संस्कृत में हैं। शेष ग्रंथ ओवी छंद में है। इसकी ओवीसंख्या ८०६ और अध्याय-संख्या दस है। तत्त्वज्ञान के परमोत्कर्ष का यह ग्रंथ है। यह स्वयं सिद्धानुवाद है। सिद्ध, संत एवम् महाकवि ज्ञानेश्वर के अनुभव का यह अमृत है। तत्त्वज्ञान और काव्य का ऐसा अपूर्व मनोहारी संगम अन्य ग्रंथ में नहीं मिलता।

संत ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव के अतिरिक्त हरिपाठ के सत्ताइस अभंग रचे, चांगदेव पैंसठी कही और लगभग सात सौ अभंगों की सरस रचना की। हरिपाठ के अभंग वारकरी सांप्रदायिकों की प्रातः और सायं संध्या हैं। उनकी रचना अति कोमल, नाद मधुर और सरस है। इनके द्वारा प्राकृत जनों को सगुणोपासना का प्रभावकारी उपदेश दिया गया है। संत ज्ञानेश्वर निर्गुण और सगुण को एकरूप मानते थे। उनकी दृष्टि से उनमें भेद या विरोध नहीं है। सगुण के आगे की सीढ़ी निर्गुण है। अतः हरिपाठ के सत्ताईस अभंगों में उन्होंने सगुण भक्ति के प्रेम की वर्षा की और उसकी महत्ता प्रस्थापित की। इनमें रामकृष्ण हरि या विट्ठल, विट्ठल भगवन्नाम का अहर्निश उच्चारण करना व स्मरण करना मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन बताया गया है। चांगदेव पैंसठी में केवल अष्टांग योग से (दैहिक तप से) ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती प्रत्युत अहङ्कार बढ़ता है अतः योग की सहायता के लिये भक्ति की अत्यावश्यकता है, इत्यादि का प्रभावकारी विवेचन है। उपर्युक्त विवेचन से मंजे हुये योगी चांगदेव भक्त बने। ज्ञानेश्वर महाराज के स्फुट अभंगों में कुछ निर्गुणपर हैं और बहुत सारे सगुणपर हैं। कुछ ऐसे भी अभंग हैं जिनमें योग का संकेत या पुट मिलता है। कतिपय अभंगों में अद्वैत का प्रतिपादन है। ज्ञानदेव कहते हैं कि अद्वैत में भक्ति है। यह अनुभव करने की बात है बोलने की नहीं। वे स्वयम् ऊँचे भक्त थे अतः उन्होंने अपने उदाहरण से जनता को बता दिया कि अद्वैत में सगुण भक्ति की जा सकती है। बहुतेरे अभंग श्रीकृष्ण (विट्ठल) के प्रेम से ओतप्रोत हैं। एक अभंग में वे कहते हैं 'हे प्रभु! मैं तुझे सगुण कहूँ या निर्गुण? मुझे तो एक गोविंद (विष्णु) सगुण और निर्गुण दोनों जान पड़ते हैं।' उक्त सगुण-निर्गुण रूप की उपासना को ही ज्ञानेश्वर अभेदभक्ति, अद्वैत भक्ति, ज्ञानोत्तर भक्ति और पराभक्ति आदि नामों से संबोधित करते हैं। इनके रचे हुये अभंगों में विषयवैचित्र्य भी दिखाई देता है। उन्होंने अंध पुरुष, ग्वालिन, पायक, कंबल, इत्यादि विषयों पर भी अभंग रचे। इनमें सहज भक्ति का सरस व सुंदर दर्शन होता है। संत ज्ञानेश्वर प्रेमरूप विष्णु (विट्ठल) के भक्त थे। इस प्रेमस्वरूप परमात्मा के दर्शन के लिए भक्त विरहिणी जैसा बेचैन होता है। अतः उन्होंने विरहिणी नामक अभंगों की अति कोमल और सरस रचना करके मधुरा भक्ति की धारा महाराष्ट्र में बहाई। भक्त के हृदय की व्याकुलता उक्त अभंगों में रसभीनता से भरी है। मानो परमात्मा प्रियकर है और भक्त

प्रिया है। परंतु भक्त की विरहावस्था का स्वरूप वैषयिक अथवा हीन नहीं है। वह प्रेमानुभूति की तीव्र अवस्था है। 'परानुरक्तिर्भक्तिः' तत्व के अनुसार वह शुद्ध प्रेम या भक्ति है। कोई कहता है कि यह परिणाम सूफी पंथ का है। परंतु संत ज्ञानेश्वर के पूर्व या समय में मुसलमानों का प्रवेश महाराष्ट्र में नहीं हुआ था। अतः उक्त आरोप निराधार है। भागवत में भक्तों की विरहावस्था का खूब वर्णन मिलता है। अतः वह प्रभाव भागवत का हो सकता है। संत ज्ञानेश्वर की अभंग रचना काव्य की दृष्टि से बड़ी मनोहारिणी है। उसमें भावना की व्याकुलता, आर्तता, कल्पना की विशालता और शब्दों की सुकुमारता का सुंदर समन्वय है। उनके अभंग भावी अभंगकारों के लिए स्फूर्ति का मानसरोवर बने। जैसे महाकवि व्यास के संबंध में कहा जाता है 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' वैसे ही मराठी के साहित्य जगत् में 'ज्ञानदेवोच्छिष्टम्-सर्वम्' सिद्धान्त अटल सत्य है। संत ज्ञानेश्वर ने न केवल सर्वजनहित के लिए वारकरी पंथ को सुदृढ़ किया अपितु महाराष्ट्र में संत साहित्य की गंगा बहाई। न केवल जबतक मराठी साहित्य जीवित रहेगा तब तक संत ज्ञानेश्वर का स्मरण किया जायगा प्रत्युत जबतक संत ज्ञानेश्वर का स्मरण रहेगा तबतक ही मराठी साहित्य जीयेगा। वे जितने श्रेष्ठ योगी व तत्वज्ञानी थे उतने ही श्रेष्ठ महाकवि थे। वे केवल महाकवि ही नहीं थे प्रत्युत संत कवि थे। 'कविता करके तुलसी न लसे कविता लसी पा तुलसी की कला' सुभाषित संत ज्ञानेश्वर पर पूरी तरह से घटता है।

संत ज्ञानदेव की हिन्दी में पदरचना:—हम पहले बता चुके हैं कि संत ज्ञानेश्वर ने उत्तरी भारत के तीर्थों की यात्रा की थी। अतः उनका हिन्दी भाषा से परिचय होना बिलकुल संभवनीय है। उन्होंने हिंदी में जो रचना की उसके दो पद उपलब्ध हुए हैं। वे निम्नलिखित हैं—

सब घट देखो माणिक मौला
कैसे कहूँ मैं काला धवला
पंचरंग से न्यारा होय
लेना एक और देना दोय (ध्रुवपद)
निर्गुण ब्रह्म भुवन से न्यारा
पोथी पुस्तक भये अपारा

कोरा कागद पढ़कर जाय
लेना एक और देना दोय।

अलख पुरुष मैं देखा दृष्टि
करकर आउन समार मुष्टि (?)
छाटा में कछू न होय
लेना एक और देना दोय।

खलल दिया त्रिलिका
तिरते तिरते मन न थका
इस पार न भावे कोय
लेना एक न देना दोय।

निर्गुन दाता कर्ता हर्ता
सब जुग बन मो आपहिता
सदा सर्वदा अऊचल होय
लेना एक न देना दोय॥

भगवान सब प्राणियों में समाया हुआ है। इसका कोई रूप नहीं है, उसे काला और धवल कैसे कहा जा सकता है। पोथीज्ञान से निर्गुण ब्रह्म नहीं जाना जा सकता। उस 'अलख' को अन्तर्दृष्टि से 'लखा' जा सकता है। इत्यादि। दूसरा पद है—

सोई कच्चा बे नहीं गुरु का बच्चा
दुनिया तजकर खाक रमाई, जाकर बैठा बन मों।
खेचरि मुद्रा वज्रासन मां ध्यान धरत है मन मो।
तीरथ करके उम्मर खोई जागे जुगति मो सारी।
हुकुम निवृत्ति का ज्ञानेश्वर को तिनके ऊपर जाना।
सद्‌गुरु की कृपा भई तब आपहि आप बिछाना॥

बनवास, मुद्रा, आसन, अभ्यास, तीर्थाटन और पोथीज्ञान से सच्चा वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। वह गुरु के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है और उसीसे परमार्थ-पथ प्रशस्त होता है। उपर्युक्त पदों से स्पष्ट होता है कि संत ज्ञानदेव के योगी होते

हुए भी हठयोग की क्रियाओं में उनकी आस्था नहीं थी। हम पहले बता चुके हैं कि उन्होंने हठयोगी चांगदेव को प्रेम, भक्ति के मार्ग का ही उपदेश दिया था और चांगदेव ने उसे स्वीकार भी किया था। संत ज्ञानेश्वर संसार में जल में कमल जैसे रहकर प्रवृत्ति के साथ परमार्थ (निवृत्ति) साधने के पक्ष में थे। वही संदेश उन्होंने उपर्युक्त हिंदी पदों में कहा। पहले पद की पहली पंक्ति में 'मौला' शब्द कैसे आया कहना कठिन है, क्योंकि ज्ञानेश्वर की हिंदी पर मुसलमानी शब्दों का प्रभाव होना असंभव प्रतीत होता है। मुझे तो लगता है कि 'मौला' शब्द लिपिक के या कंठस्थ करने वाले की असावधानी से आया है। अथवा उन्होंने 'धवला' के साथ यमक साधने के लिए मौलिक मोलवान का नया रूप मौला बनाया होगा। दूसरे पद में दुनिया, खाक, उम्मर, हुकुम, इत्यादि विदेशी शब्द हैं। संभव है कि दूसरा पद उत्तरी भारत में तीर्थ यात्रा करने के पश्चात् उन्होंने रचा होगा, क्योंकि तब उत्तर भारत में मुसलमानों का प्रभाव पर्याप्त बढ़ चुका था। चाहे जो कुछ हो, यह राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए गौरव तथा सौभाग्य की बात है कि महाराष्ट्र के संतश्रेष्ठ और मराठी के कविकुलशेखर ज्ञानेश्वर ने उसमें पदों की रचना की थी।

संत ज्ञानेश्वर के भाई और बहिन भी ऊँचे संत कवि थे। संतश्रेष्ठ नामदेव ने उनके सम्बन्ध में कहा 'ईश्वर की वे विभूतियाँ चली गयीं, संसार में अब उनकी कीर्ति रह गयी। कानों से वैराग्य की जो बातें सुनीं, उन्हें सुनाने वाला अब कोई नहीं मिलेगा। लोक ज्ञान का उपदेश देंगे पर निवृत्तिनाथ की जो साधना थी, वह नहीं मिलेगी। कई विद्वान अर्थ समझावेंगे परंतु सोपानदेव के एकान्त से जो परमार्थ की साक्षात् शिक्षा मिलती थी वह नहीं प्राप्त होगी। मुक्ता बाई के विषय में क्या कहूँ ? कुछ कहना ठीक नहीं है। मुक्ताबाई ! तेरी बात तेरे ही साथ चली गयी।' उपर्युक्त उद्गार से स्पष्ट होता है कि निवृत्तिनाथ, सोपान और मुक्ताबाई के वियोग से संत नामदेव अति व्याकुल हुए। अतः इनकी तथा इनकी साहित्यिक रचनाओं की संक्षिप्त जानकारी यहाँ दी जाती है।

निवृत्ति नाथ (१२७३-१२९६):—ये संत ज्ञानेश्वर के ज्येष्ठ भ्राता एवं गुरु थे। जब ये आठ वर्ष के थे तब गैनीनाथ से उनका साक्षात्कार हुआ। उस समय गैनीनाथ त्र्यम्बकेश्वर के पास गुफा में तपश्चरण में निमग्न थे। सुकुमार,

तेजस्वी निवृत्तिनाथ को देखकर गैनीनाथ फूले न समाये। इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। जैसे बाल ध्रुव को ऋषि नारद मिले वैसे निवृत्तिनाथ को गैनीनाथ मिले। गैनीनाथ ने उन्हें ब्रह्मबोध कराया और नाथ सम्प्रदाय में बाल योगी निवृत्तिनाथ का प्रवेश हुआ। गुरु गैनीनाथ ने उनको श्रीकृष्ण की उपासना बतला कर नामस्मरण का प्रचार करने का आदेश दिया। आगे चलकर निवृत्ति नाथ ने अपने भाई बहिन को नाथ पंथ में मिला लिया। वे उनके गुरु बने। निवृत्ति नाथ ने कई अभंगों की सरस और सफल रचना की। विशेषतया उन्होंने अपने अनुज एवम् शिष्य की, ज्ञानेश्वर की काव्यप्रतिभा को बहुत प्रोत्साहित किया। उनका ज्ञानेश्वर पर अगाध प्रेम था। इसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञानेश्वर के पश्चात् दो महीनों में उन्होंने समाधि ली।

सोपानदेव (जन्म सन् १२७७, समाधि सन् १२९७):—आप ज्ञानेश्वर के अनुज थे। आप एकान्तसेवी और मितभाषी थे। आपने भी कई अभंगों की रसभीनी रचना कर अभंग साहित्य समृद्ध किया।

मुक्ताबाई (जन्म सन् १२७९, समाधि सन् १२९७):—मुक्ताबाई संत ज्ञानेश्वर की छोटी बहिन थी। वह सचमुच जीवन्मुक्त थी। उसने अपना नाम सार्थक किया। वह ऊंची कवयित्री थी। उसकी काव्यप्रतिभा बाल्यावस्था में ही प्रगल्भ हुई थी। एक बार बालक ज्ञानेश्वर गुस्सा होकर गुफा में छुपे थे, क्योंकि गाँव के अन्य लड़के उसे भ्रष्ट संन्यासी का पुत्र कह कर चिढ़ाते थे। अनुजा मुक्ताबाई ने अग्रज को समझाने के लिए समयस्फूर्त दस अभंगों की अति रसभीनी रचना की जो अब भी महाराष्ट्र में अनेक को कंठस्थ हैं। आगे चलकर उसकी काव्यप्रतिभा बहुत फूली और फली। सचमुच वह देवी भक्तिम और स्थितप्रज्ञा थी। उसने हठयोगी चांगदेव को 'सत्य ब्रह्मज्ञान का उपदेश करके अद्वैतभक्तिसुख का अधिकारी बनाया। उसके कई अभंग उपलब्ध हैं। रस और अलंकारों की दृष्टि से उनकी परख की गयी है। मुक्ताबाई प्राचीन मराठी साहित्य की लब्धप्रतिष्ठा कवयित्री है। वह कहती है 'भावपूर्ण भक्ति करके वैराग्य जोड़ोगे तो ब्रह्मसुख पाओगे। ज्ञानतत्व में बैठकर यह विचार करो कि निर्गुण में निरामय आकार है। प्यारे लोगो! भवनदी का पानी बड़े वेग से खींचता है और बड़े-बड़ों को नीचे गिराता है। अतः भक्ति के सहारे उसे पार करो।'

संत ज्ञानेश्वर के पश्चात् एक वर्ष में ही मुक्ताबाई ने समाधि ली। एवम् संत ज्ञानेश्वर और उनके सब भाई-बहिनों ने प्राचीन मराठी साहित्य की कैसे श्रीवृद्धि की स्पष्ट हो गया। अब उनके ही समकालीन चांगदेव थे। उनकी रचना का यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे। कहते हैं कि हठयोगी चांगदेव ने कई सौ वर्षों तक हठ-योग की साधना की थी परन्तु उन्हें ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हुआ था। प्रत्युत वे बहुत अहंकारी बने थे। संत ज्ञानेश्वर के उपदेश के अनुसार उन्होंने जीवन्मुक्ता संतिन मुक्ताबाई से गुरुमंत्र लिया और वे भक्त बने। भक्त बनने पर उन्होंने कई अभंगों की रचना की। उनके अभंगों में आध्यात्मिक रूपकों की प्रचुरता है अतः वे दुरूह हैं। परन्तु अभंग रचना में चांगदेव ने हाथ बटाया यह सत्य है।

सातवां अध्याय

संत नामदेव (१२७०–१३५०)

संत नामदेव वारकरी सम्प्रदाय के श्रेष्ठतम प्रचारक हैं। आपकी काव्यरचना ने न केवल मराठी की अपितु हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि की। संत ज्ञानेश्वर ने ब्रह्मविद्या को लोकसुलभ बनाकर उसका महाराष्ट्र में प्रचार किया तो संतश्रेष्ठ नामदेव ने महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक उत्तर भारत में हरिनाम की वर्षा की। उन्होंने अपनी भक्तिरसभीनी अभंगरचना द्वारा साधारण जनों के हृदयों पर भक्ति का अमिट प्रभाव डाला। संत नामदेव का महाराष्ट्र में वही स्थान है जो संत कबीर अथवा भक्त सूरदास का उत्तरी भारत में है। इन्होंने वारकरी संप्रदाय अर्थात् भागवत धर्म के प्रभावकारी प्रचार के लिए कीर्तनसंस्था की स्थापना की और वे स्वयम् अत्यन्त सफल कीर्तनकार बने। जैसे आज-कल के कवि अपनी काव्यरचनाओं का स्वयम् गान करके जनता का मनोरंजन करते हैं वैसे अपने अभंगों का गान बड़ी तन्मयता से संत नामदेव कीर्तन में करते थे और आम लोगों को भक्ति का सहज साध्य मार्ग बता करके समाज में धार्मिक या आध्यात्मिक जागरण पैदा करते थे। कीर्तन के द्वारा भक्तिज्ञान का प्रचार करना उनके जीवन का महान ध्येय था जो उन्होंने पूर्णता से संपादित किया। उनकी काव्य-रचना जितनी ऊँची, शुद्ध और रसभीनी है उतना ही उनका चरित विशुद्ध एवम् महान् ही नहीं प्रत्युत अधिक उज्ज्वल था।

संत नामदेव का चरित्र :—इनका जन्म सन् १२७० में नरसी बाह्मणी नामक देहात में एक साधारण दर्जी के कुल में हुआ। उनके पिता और माता के नाम क्रमशः दामाशेट और गोणाई थे। उनके परिवार में विट्ठलभक्ति आनुवंशिक थी। दामाशेट प्रतिवर्ष पंढरपुर की वारी (यात्रा) आस्थापूर्वक करते थे। अतः पारंपरिक विट्ठलभक्ति के अंकुर बाल्यावस्था में ही नामा के मन में प्रस्फुटित हुये। कहते हैं कि एक बार दामाशेट कहीं अन्य गाँव गये थे और उनके बदले माता की अनुज्ञा से बालक नामदेव को विट्ठल मंदिर में पूजा करने जाना पड़ा। माँ ने उसे दूध का नैवेद्य श्रीविट्ठल की मूर्ति पर चढ़ाने को कहा। अनजान नामदेव

ने उसका शब्दशः पालन किया। उसने दूध का कटोरा विट्ठल के सामने रखा और बड़ी आर्तता से पीने की प्रार्थना की। परन्तु दो-तीन घंटों तक परिस्थिति ज्यों की त्यों रही। बाल नामदेव विट्ठल की मूर्ति को दूध पीने के लिए बार-बार व्याकुलता से प्रार्थना करता परन्तु ऐसा लगता है कि विट्ठल भी उसकी भक्ति की परीक्षा लेने पर उतारू थे। बहुत विलंब होने से माता गोणाई वहाँ पधारी और उसने नासमझ नामदेव को समझाने की पराकाष्ठा की। किन्तु बाल भक्त नामदेव टस से मस न हुआ। अन्ततोगत्वा उसने विट्ठल से कहा कि यदि तू नैवेद्य नहीं स्वीकार करता है तो मैं तेरे चरणों पर अपना सिर रख कर आमरण प्रायोपवेशन करूँगा। अब परमेश्वर विट्ठल उसकी आर्त भक्ति से संतुष्ट हुए और उन्होंने कटोरे का दूध पी लिया। उक्त अद्भुत या चमत्कारिक घटना का कथन नामदेव ने स्वयम् अपने आत्मकथात्मक पद में एवम् किया है—

दूध कटोरे गडवै पानी।
कपिल गाई तामै दुहि आनी॥
दूध पीउ गोविंदे राइ।
दूध पीउ मेरो मन पतिआइ॥
नाहीत घर को बापु रिसाइ।
लै नामे हरि आगे धरी॥
एक भगत मेरे हिरदै बसै।
नामे देखि नराइन हँसै॥
दूध पीआइ भगतु घरि अइआ।
नामे हरिका दरसुनु भइया॥

लोक नामदेव को उसकी उत्कट भक्ति के कारण बालभक्त कहने लगे। परन्तु उसके माता-पिता की चिन्ता बढ़ती गयी क्योंकि वे मन में समझ बैठे कि विरक्त नामदेव गृहस्थी नहीं संभालेगा। उन्होंने उसे विरक्तता से हटाने के लिए धनी गोविन्दसेठ की सुंदर पुत्री 'राजाई' के साथ उसका विवाह बड़ी धूम-धाम से कर दिया। परन्तु नामदेव का मन घर-गृहस्थी में कभी नहीं लगा। ज्यों-ज्यों दिन बीते त्यों-त्यों उसका भावुक मन विट्ठल भक्ति की ओर अधिकाधिक आकर्षित होता गया। अन्ततोगत्वा वे अपने उपास्यदेव पांडुरंग की सन्निधि में रहने के लिए पंढरपूर चले गए और समाधि लेने तक पांडुरंग के चरणों से दूर न हटे। वहाँ

वे निरन्तर भक्तिरसभीने अभंगों की रचना एवम् गान कर भक्ति में निमग्न रहते थे। उनका कीर्तन सुनने के लिए समाज सागर जैसा उमड़ पड़ता था। उनके प्रेम, राग, मैत्री और पूजा का विषय भगवान पाण्डुरंग ही बने थे मानो वे उसमें समरस हुए थे। उक्त समरसता, उत्कटता और आर्तता के स्रोत से उनके अभंगों की सृष्टि हुई जिसका विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे। संत नामदेव के चार पुत्र और चार पुत्रियाँ हुईं। उनका कुटुम्ब काफी बड़ा था। गृहस्थी कैसे तो भी चलाते थे। भावुक लोगों की कुछ सहायता मिलती थी परन्तु संत नामदेव का प्रमुख व्यवसाय भजन और कीर्तन ही था। उनकी काव्यप्रतिभा का असर उनके सब कुटुम्बियों पर हुआ। उनके सब पुत्र, पत्नी, दासी संतिन जनाबाई व चारों पुत्रवधू अभंगों की रचना करने लगे मानो सब कुटुम्ब ही कविता की रचना करने लगा। अतः संत नामदेव को **कुटुंब कवि** कहते हैं। संसार के साहित्य के इतिहास में यह अनूठा, विरला उदाहरण है। एक कुटुंब में एक समय में बारह कवि और कवयित्रियों का होना सचमुच अलौकिक और अद्भुत है। परन्तु यह सब संत नामदेव का दैवी प्रभाव था। संत नामदेव की कीर्ति दिनदूनी और रात चौगुनी बढ़ी। संत ज्ञानेश्वर उनके दर्शन के लिए पंढरपुर चले आए। संत नामदेव को देखते ही उन्होंने ही उनके चरणकमल छूए तथा संत नामदेव भी उनके चरणों पर गिरे। ब्राह्मणकुलोत्पन्न संत ज्ञानेश्वर का नामदेव के चरण छूना अपूर्व था क्योंकि उनके पूर्व किसी ब्राह्मण ने इतनी उदारता और समता नहीं प्रदर्शित की थी। इसका अपेक्षित परिणाम यह हुआ कि संत नामदेव संत ज्ञानेश्वर के होकर रहे। नामदेव ने संत ज्ञानेश्वर की प्रेरणा से विसोबा खेचर से गुरुदीक्षा ली। किंवदन्ती है कि जब वे योगी एवम् संत खेचर के पास गये तो वे मंदिर में शिव की पिंडी पर पैर रखे हुए सो रहे थे। सगुण भक्त नामदेव को यह दृश्य बहुत अप्रिय लगा। उसने पिंडीपर से पैर उठाने के लिए प्रार्थना की। खेचरजी ने उससे कहा कि तुम मेरा पैर ऐसे स्थल पर रख दो जहाँ पर पिंडी नहीं है। वहाँ अद्भुत घटना देखने में आई कि जहाँ नामदेव विसोबा का पैर रखते वहीं शिवपिंडी खड़ी हो जाती। जब नामदेव ने उनसे कारण पूछा तब उन्होंने बताया कि भगवान सर्वव्यापक है अतः उसको पिंडी में या मूर्ति में ही देखना अज्ञान है। जो कुछ भी हो, संत ज्ञानेश्वर और संत नामदेव की पक्की मित्रता हुई। संत नामदेव की आर्त और भावुक भक्ति अद्वैत ज्ञान से अधिक पुष्ट और विशाल बनी। पहले वे कट्टर

एकेश्वरवादी और पंढरपुर के विट्ठल के पूजक थे। परन्तु अब वे जहाँ-तहाँ विट्ठल का अस्तित्व देखने लगे। संक्षेप में उनकी निरी प्रेमपूर्ण भक्ति में ज्ञान का भी समावेश हुआ। नाम और ज्ञान का पवित्र संगम हुआ जिससे नाम पुष्ट हुआ और ज्ञान भाविक बना। उन्होंने संत ज्ञानेश्वर के साथ उत्तर भारत की तीर्थयात्रा की जिसका उल्लेख हम संत ज्ञानेश्वर के चरित्र में कर चुके हैं। उक्त यात्रा से लौटकर संत ज्ञानेश्वर ने आलंदी में समाधि ली। इस वियोग का बड़ा हृदयस्पर्शी चित्र संत नामदेव ने अपने 'समाधि' नामक अभंगों के प्रकरण में खींचा है। उसकी रसभीनता केवल आस्वाद्य है। वह वर्णन के परे है। इसके पश्चात् उनके जीवन में कुछ उदासीनता ने प्रवेश किया। इस समय महाराष्ट्र में मुसलमानी शासन फैल चुका था। कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्तर भारत में तो बहुत पूर्व ही मुसलमानों की निरंकुश सत्ता दृढ़मूल हो चुकी थी जिससे हिंदू धर्म का दिन प्रति दिन ह्रास हो रहा था। महाराष्ट्र में अभी तक हिंदू धर्म सुरक्षित था। भागवत, अर्थात् वारकरीपंथ ने हिंदू समाज को दृढ़ भक्ति के सहारे संभाल रखा था। परंतु उत्तर भारत में इस प्रकार के सहारे का अभाव था। उक्त सहारे की पूर्ति करने के उदात्त हेतु से संत नामदेव अपनी भजनमण्डली लेकर भक्ति मार्ग का प्रचार करते हुए पंजाब तक चले गये और वहाँ लगभग अठारह वर्षों तक रहे। **गुरुदासपुर** जिले में 'धोमान' नामक स्थान पर आज भी संत नामदेव का मंदिर खड़ा है। इस गाँव के आसपास नामदेव-सम्प्रदायी लोगों की ही बस्ती है। धोमान के स्मारक को गुरुद्वारा बाबा नामदेव जी कहा जाता है। संत नामदेव के पंजाबी शिष्यों में विष्णु स्वामी, बहारेदास, जालतो सुनार, लध्धा खत्री और केशो कलाधारी मुख्य हैं। उस हिंदीभाषा-भाषी सूबे में भक्तिमार्ग का प्रचार करने के लिए उन्होंने हिंदी में ही पद रचना की। सिखों के 'ग्रंथ साहब' में संत नामदेव के ६५ पद संगृहीत हैं। उनको 'नामदेव बानी' कहा जाता है। संत नामदेव ने पंजाब पर अमिट प्रभाव डाला। उनकी भक्तिमय वाणी ने सिख धर्म की प्रस्थापना सुगम और प्रशस्त कर दी। यही कारण है कि सिख धर्म और नामदेव के भक्तिमार्ग में बहुत साम्य दिखाई देता है। नामस्मरण और कीर्तन पर दोनों का ही समान जोर है। नामदेव-बानी का हम आगे विस्तृत विवेचन करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि पंजाब से लौटते समय नामदेव काठिया-वाड़ और गुजरात होते हुए महाराष्ट्र में पहुँचे। अब वे काफी वृद्ध हो चुके थे।

अतः अपनी आयु के ८० वर्ष में उन्होंने पंढरपुर के विट्ठल मंदिर के महाद्वार पर समाधि ली। संत नामदेव का व्यक्तित्व यथार्थ में महान् था। सिख धर्म के संस्थापक गुरुनानक ने और काठियावाड़ के सुप्रसिद्ध भक्त कवि 'वैष्णवजन तो तेणे कहिए' पद के रचयिता, श्री नरसी मेहता ने भी उनकी प्रशंसा में कुछ पद लिखे हैं। वे कहते हैं—

'पूर्वे पंढरपुर मोझार। ब्राह्मण आणी मर्तक गाय।
उई बांधी सुलतान सभाय।
नामदेव गाय संजीवन करे॥ तो तुलसी माला कंठ धरे।
ते नामदेव नी जिवाडी गाय। एवा समरथ वैकुण्ठ राय॥'

संत नामदेव ने उत्तर भारत में भक्तिमार्ग का प्रचार करके हिंदू समाज को जातिभेद की संकीर्णता, बहुदेवोपासना का सच्चा अर्थ, धर्माडम्बर और अनावश्यक आचार-विचार के संबंध में जागृत किया। वे यथार्थ में सच्चे लोक-शिक्षक थे। उन्होंने गुरुनानक, संत कबीर जैसे परवर्ती संतों का मार्ग प्रशस्त बनाने में कुछ न उठा रखा। सचमुच वे उत्तर भारत के सांस्कृतिक एवम् धार्मिक जागरण के आद्य प्रणेता थे। उन्होंने अपनी भक्तिरसभीनी वाणी से उत्तर भारत की मनोभूमि इस तरह जोत रखी थी कि सन्निकट भविष्य में उसमें सिख धर्म की और भक्तिप्रधान सांस्कृतिक जागरण की फसल इतनी लहलहाई कि उसे देखते ही बनता। संत नामदेव का व्यक्तित्व जितना पवित्र, भावुक और महान था उतनी उनकी साहित्य-रचना भी थी। अब इनकी साहित्य-रचनाओं की समीक्षा करना हम उचित समझते हैं।

संत नामदेव की अभंग-रचना :—किंवदन्ती के अनुसार संत नामदेव ने कई सहस्र अभंगों की रचना की परन्तु अभी तक उनके लगभग ३००० अभंग उपलब्ध हुए हैं। वे सब संत 'नामदेव की गाथा' नामक ग्रंथ में संगृहीत हैं। उन्होंने भगवान से निवेदन किया था कि वे करोड़ अभंगों की रचना करेंगे। हमें लगता है कि ऐसे कविवचनों का शब्दार्थ न लेकर भावार्थ ही लेना अधिक समुचित है। हो सकता है कि उनके कई अभंग कालनदी के उदर में लुप्त हुए हों। वे शीघ्र कवि थे। उनका हृदय अतीव संवेदनाशील था। उनकी भक्ति की तीव्रता कहते नहीं बनती। ऐसी दशा में उनके द्वारा प्रचुर मात्रा में अभंगों की रचना होना स्वाभाविक था और उन दिनों में मुद्रण कला के अभाव में इनका

विस्मरण होना भी स्वाभाविक था। उपलब्ध अभंगों में आत्मनिष्ठा या आभ्यंतरता ओतप्रोत है। यों कहिए कि विषयीनिष्ठ काव्य का वह आदर्श है। संत नामदेव का आत्माविष्कार वर्णन के परे है। अतः उनके अभंगों की सरसता, प्रासादिकता और मधुरता बेजोड़ है। वे आम जनता के लिए रचे गए थे अतः उनकी रचना सरल और सुगम है। इनके अभंग-काव्य को हम निम्नलिखित विभागों में बाँटते हैं—१ आत्मचरित्रपरक २ संत ज्ञानदेव के चरित्रविषयक ३ संत नामदेव की पारमार्थिक व्याकुलता ४ अंतर्मुखता ५ व्यक्तिगत चित्तशुद्धिविषयक अभंग ६ भगवन्नामस्मरण एवम् कीर्तनसम्बद्ध अभंग ७ साधक की पूर्वावस्था और उत्तरावस्था का वर्णन करनेवाले अभंग ८ संकल्प और वरयाचनापरक अभंग ९ श्रीकृष्णक्रीडा के अभंग और १० दर्शनानुभव का वर्णन करनेवाले अभंग। इसके अतिरिक्त सिखों के ग्रंथसाहिब में 'नामदेव की बानी' नामक पैंसठ हिन्दी पद हैं।

आर्तता काव्यस्फूर्ति का स्रोतः—हम पहले बता चुके हैं कि नामदेव जन्म से ही भक्त थे। जब बालक नामदेव ने भावुकता से हठ किया कि विट्ठल उनका दूध पीयें तभी उनके हृदय की स्वाभाविक आर्तता अभंगों के द्वारा प्रवाहित हुई। जैसे महाकवि वाल्मीकि के बारे में कहते हैं कि उनका 'शोकः श्लोकत्वमागतः' शोक श्लोक के द्वारा प्रकट हुआ, वैसे ही बाल भक्त नामदेव की हृत्पीडा ने काव्य का मनोहारी रूप धारण किया। नामदेव बालकवि शब्दशः थे। जैसे मछली जल के बाहर छटपटाती है वैसे भगवान के दर्शन के लिए नामदेव तड़पा करते थे। उनकी तीव्र तड़प सैकड़ों अभंगों में मुखरित हुई। एक अभंग में वे कहते हैं 'चाहे मेरा प्राण निकल जाय या रहे, मैं पांडुरंग की भक्ति दृढ़ता से करता रहूँगा। हे पांडुरंग! मुझे तेरे चरण की सौगन्ध है कि मैं उनको कभी नहीं छोड़ूँगा। चाहे आकाश भंग हो जाय, और आपत्तियों के पहाड़ मुझ पर आघात करें, मैं तेरे चरणकमल से कभी न दूर रहूँगा।' उपर्युक्त अभंग में तड़प के साथ निर्धार भी व्यक्त हुआ है। दूसरे अभंग में वे कहते हैं 'हे विट्ठल! तेरी राह देखते मेरी आँखें थक गईं। मेरा हृदय और कंठ रुँध गए। तू मेरी माता है अतः तुरंत आ। तू पक्षिनी है, मैं अण्डज हूँ। मैं क्षुधा से पीड़ित हूँ परंतु तू मुझे भूल सी गई। तू मेरी हिरनी है, मैं तेरा बच्चा हिरन हूँ। अतः दर्शन देकर मेरा भवपाश दूर कर।' उपर्युक्त अभंग में हृदय की व्याकुलता उपमाओं के द्वारा

प्रकट हुई। संत नामदेव के अभंग रसभीने होते हुए उचित अलंकारों से भूषित हैं। कभी-कभी वे अपने आराध्यदेव के प्रति रोष भी प्रकट करते हैं। जैसे 'हे विट्ठल! मैं तेरा पतित-पावन नाम सुनकर तेरे द्वार पर आया था परंतु तुझे पतित-पावन न पाकर अब वापिस जा रहा हूँ। देव! तू ऐसा उदार है कि बिना लिये कुछ देता ही नहीं। अब मैं तेरे जैसे कृपण के द्वार पर क्या याचना करूँ। हे देव! अब तू अपने पतितपावन होने के यश का अभिमान छोड़ दे। मालूम नहीं, तेरा पतितपावन नाम किसने रखा।' उपर्युक्त अभंग में प्रेम के साथ व्यंग भी प्रगट हुआ है। नामदेव का अपने आराध्य देवता के प्रति जो प्रेम (भक्ति) है उसके कई रूप हैं। वे कभी प्रेमवश होकर विट्ठल के दर्शन के लिए बिछुड़े हुए बालक जैसे छटपटाते हैं, कभी आराध्यदेव के चरणों में झुक जाते हैं, कभी उसका भक्ति-रसयुक्त गुणानुवाद करने में मग्न होते हैं, कभी प्रेमविह्वल होकर रोने लगते हैं, कभी देव के प्रति बालक जैसे रूठ जाते हैं और कभी विट्ठल से लड़ पड़ते हैं। उनके अभंगों में प्रेम के सब प्रकार सरसता से प्रगट हुए हैं। इसीलिए कहा जाता है कि नामदेव ने मराठी में प्रेममय भक्ति (Romantic Devotion) का श्रीगणेश किया। परंतु यह कहना तर्क तथा तथ्ययुक्त नहीं है। वैसे देखा जाय तो रूमानी भक्ति का प्रारम्भ संत ज्ञानदेव के विरहिणी नामक अभंगों से ही हुआ। हाँ, यह सत्य है कि संत नामदेव ने उनसे अधिक सरस और प्रासादिक अभंग रचकर मराठी का संत साहित्य अधिक समृद्ध किया।

संत नामदेव के रग-रग में आराध्य देव विट्ठल समाया हुआ था। वे उसके अनन्य भक्त थे। उन्हें विट्ठल के सिवाय इस संसार में कोई वस्तु प्रिय न थी। वे कहते हैं 'न मुझे वैकुण्ठ की चाह है, न कैलास की आकांक्षा है। मैंने अपनी सब अभिलाषाएँ विट्ठल के चरणों पर ही अर्पित की हैं। न मुझे सन्तान चाहिए, न धन-मान, मेरे लिए तो एक विट्ठल का ध्यान ही सब कुछ है।' संत नामदेव विट्ठल की आराधना में कितने समरस हो गये थे। वे कहते हैं 'हे पुरुषोत्तम! मैं तेरे प्रेम के कारण तुझ में ही लीन हो गया हूँ। तू देह है और मैं इस देह में रहने वाली आत्मा हूँ। इस प्रकार हम दोनों एक ही हैं।'

संत नामदेव विट्ठल से उनकी भक्ति अधिक श्रेष्ठ मानते थे। वे कहते हैं 'हे प्रभु! तू अविनाशी है, पर तेरे चरण तुझसे भी अधिक मधुर हैं। तू परा और अपरा से परे है; तेरे चरण तेरी महानता के प्रतीक हैं। मैं अपनेपनसहित

तेरे चरणचिन्तन के आनन्द में डूब गया हूँ और अनेक प्रयत्न करने पर भी मेरा चित्त तेरे चरणों से अलग नहीं हो सकता। मेरी वासनाएँ मिट चुकी हैं। हे विट्ठल! तू मुझे अपना सेवक स्वीकार कर।'

संत नामदेव चित्त की शुद्धि पर और विशुद्ध भक्ति पर अत्यधिक जोर देते थे। उपवास, जप, तप, अनुष्ठान, तीर्थयात्रा इत्यादि को वे अन्तःशुद्धि का साधन मानते थे। यदि उपर्युक्त धार्मिक आचारों से चित्त की शुद्धि नहीं होती तो वे उनको व्यर्थ मानते थे। वे कहते हैं 'यदि तीर्थयात्रा करके मन अवगुणों से भरा हुआ रहता है तो उससे क्या लाभ है? यदि तप से मन में अनुताप नहीं पैदा होता तो उससे क्या लाभ है?' संक्षेप में वे हृदय की पवित्रता को ही परमेश्वर की प्राप्ति के लिए प्रमुख साधन मानते थे। अन्य सब साधन व्यर्थ हैं। जो संत चित्त की शुद्धि पर और आचरण की पवित्रता पर जोर देता है वह बाह्याडम्बरों की तीव्र आलोचना करता है। उन्होंने एक चुटकीले अभंग में कहा—'बहुरूपिया और नट बन कर सिर पर जटाओं का भार बढ़ाना, भस्म लगाना, हाथ में दण्ड धारण करना, त्रिपुण्ड का तिलक लगाना, देह पर चन्दनलेप लगाना, कण्ठ में तुलसी की अनेक मालाएँ लटकाए रखना, इत्यादि सब बाह्याचार तब तक व्यर्थ हैं जब तक कि सर्वव्यापक परब्रह्म को चित्त में धारण नहीं किया। तिलक, टोपी, माला धारण कर भोले भक्त भले ही भ्रम में डाले जा सकते हैं पर वास्तव में वह सब व्यर्थ है।' नामदेव कहते हैं कि ऐसे लोगों का अनुकरण मत करो, उनके आचार से चित्त चंचल होता है।

संत नामदेव मराठी साहित्य के आद्य आत्म-चरित्रकार हैं। उक्त आत्म-चरित्र में उन्होंने अपने पारमार्थिक जीवन की तीन प्रमुख घटनाओं का विस्तृत एवम् रसीला वर्णन किया है। उनकी देवभक्ति का कुटुंब के मुखियों (पिता, माता और पत्नी) ने कैसे विरोध किया, उनकी ज्ञानेश्वर से कैसे और कहाँ पहली भेंट हुई और विसोबा खेचर से उन्होंने गुरुदीक्षा क्यों और कैसे ली इत्यादि का अतीव मनोहारी वृत्तान्त उन्होंने मधुर अभंगों में प्रगट किया है। उक्त आत्म-कथात्मक अभंगों में आत्मनिष्ठा, सत्यनिष्ठा, नम्रता और कथन-कौशल ओतप्रोत है। उनमें माता, पिता और पत्नी का करुण स्वभाव-चित्रण भी खींचा गया है। नामदेव ने अपने 'देवपागलपन' का यथार्थ चित्र खींचा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब अभंग पाठकों के मन को पकड़ लेते हैं। वैसे भी उनमें अन्य दो

घटनाओं का सरस वर्णन है। सचमुच संत नामदेव ने आत्मकथा के लेखन का आदर्श प्रस्तुत किया।

संत नामदेव जैसे सफल आत्मचरित्रकार थे वैसे ही चरित्रकार थे। संत ज्ञानेश्वर के चरित्रकथन में हमने लिखा कि संत नामदेव ने आदि, तीर्थावली, और समाधि नामक तीन प्रकरणों में संत ज्ञानेश्वर का अभंगात्मक चरित्र लिखा है। सो नामदेव संत ज्ञानेश्वर के पहले प्रामाणिक चरित्रकार हैं। चरित्र विषय (ज्ञानेश्वर) और चरित्रकार (नामदेव) परस्परानुरूप हैं। दोनों ही श्रेष्ठ संत और कवि हैं। दोनों ही एक ही देव के उपासक और पंथ (वारकरी) के समर्थक हैं। दोनों के हृदय समान थे। अतः उक्त चरित्र में समरसता उमड़ती है। प्रेमरस से वह चरित्र लबालब है। समाधि प्रकरण का करुण रस वर्णन के परे है। इसकी रसभीनता केवल स्वर्गीय है। संत नामदेव की मराठी को यह अनूठी देन है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण की क्रीडाओं का सरस और रम्य वर्णन उन्होंने कई अभंगों में किया है।

संत नामदेव ने सैकड़ों फुटकर अभंगों में देव से प्रेमकलह, अंतर्मुखता, साक्षात्कार के अनुभव, अनाहत नाद का श्रवण, नामभक्ति और कीर्तन का माहात्म्य, सहज सुलभता और आवश्यकता, नीति के अनुसार प्रपंच करने का उपदेश, गुरु का माहात्म्य इत्यादि का सरस प्रतिपादन किया है। यह सब लोक-मंगल के लिए ही था। संत नामदेव के मन में संत ज्ञानेश्वर जैसा काव्यरचना करने का भाव जागृत नहीं था। वे विद्वान् नहीं थे। उनका साहित्यशास्त्र का अध्ययन भी नहीं था परन्तु उनका हृदय स्वाभाविकता से कवि का था। वे अतीव संवेदनाक्षम थे। दूसरों के प्रति उनके हृदय में तड़पन, दया और प्रेम था। अतः उनके अभंग काव्य की आत्मा भावना हैं न कि कल्पना। भावनोद्भूत काव्य रसप्रधान होता है न कि अलंकृत। 'काव्यं रसात्मकम् वाक्यम्' के अनुसार यह श्रेष्ठ काव्य है। यह पूरी तरह से कोमल है। सुकुमारता इसकी प्रकृति है। यह भक्ति, शांत और करुण रस से ओतप्रोत है। यह उचित शब्दालंकार और अर्थालंकार भी धारण करता है परन्तु कृत्रिम अलंकारों की अपेक्षा नैसर्गिक सुकुमारता, मधुरता की ओर वह बहुत अधिक झुका है। संत नामदेव के फुटकर अभंग उनके हृदय में न समा सकने वाले भक्ति-भाव-प्रेम-रस से लबालब हैं। वे तो भक्तिरस की वर्षा से महाराष्ट्र को तरबतर करने को आतुर थे। इसीलिए

संत ज्ञानेश्वर ने कहा था कि 'नामदेव का सरल कथन भी कवित्व है और उसका रस अद्भुत और निरुपम है।' कवीश्वर संत ज्ञानेश्वर की यह उक्ति नामदेव के कवित्व की पूरी परिचायक है। क्या इससे अधिक प्रशंसा हो सकती है? गत शताब्दी के मार्मिक समीक्षक स्वर्गीय प्रोफेसर वा. ब. पटवर्धन ने बम्बई विश्वविद्यालय की विल्सन फिलालॉजिकल व्याख्यानमाला में निम्नलिखित सम्मति प्रकट की थी—

'संत नामदेव की कविता में हमें उस प्रकाश के रोमांच का अनुभव होता है जो समुद्र या धरती पर कभी नहीं उतरा। हमें उस स्वप्न के दर्शन होते हैं जो इस मिट्टी की धरती पर कभी नहीं झलका। उस प्रेम की प्रतीति होती है जिसने वासना को कभी उत्तेजित नहीं किया। उसमें तो करुणा, विश्वास और भक्ति का रोमांच है तथा मानवआत्मा का परमात्मशक्ति के प्रति आत्मसमर्पण है। उसमें हम भक्ति अथवा आध्यात्मिक प्रेम का रोमांच, हृदय का हृदय के प्रति संगीतमय निवेदन और भावातुर हृदय के सहज, मधुर और रसभीने उद्गार पाते हैं।' उनके मराठीकाव्य की आत्मा और रस उनकी हिंदी रचना में ज्यों का त्यों संक्रमित हुआ है। इसके अतिरिक्त अवस्था के अनुसार और भ्रमण, चिंतन और सामयिक परिस्थिति के अनुसार उनके विचारों में जो प्रौढता, सहिष्णुता व उदारता आ गई थी अर्थात् उनके विचारों में जो विकास हुआ था उसका निचोड़ हमें उनकी हिंदी रचना में मिलता है। अतः उसका सारग्रहण करने की ओर हम मुड़ते हैं।

नामदेव की वानी :—सिखों के 'गुरुग्रन्थ साहब' में संत नामदेव के ६५ पद संकलित हैं। उनमें मराठी पदों की ही भावधारा प्रवाहित हुई है। इन पदों की मूल पांडुलिपि अप्राप्य है। गुरु ग्रंथसाहिब का संकलन संत नामदेव के समाधिस्थ होने के लगभग ढाई सौ वर्ष बाद हुआ। अतः मूल पदों में कुछ हेर-फेर होना स्वाभाविक है। इन पर मराठी का और तत्कालीन पंजाबी हिंदी भाषा का खूब प्रभाव है। अतः उनमें खड़ी बोली के साथ व्रज, पूर्वी हिंदी और पंजाबी का भी समावेश हो गया है। इसके अतिरिक्त विदेशी (अरबी, फारसी) शब्द अनायास उनमें स्थान पा चुके हैं क्योंकि उस काल में मुसल्मानी शासन काफी दृढ़मूल और फैल चुका था। उनकी भाषा से स्पष्ट होता है कि उनके समय में खड़ी बोली का कैसा रूप था और वह कैसे विकास कर रही थी। मराठी अभंगों

से यह रचना एक दृष्टि से अधिक समृद्ध और मनोहारी है। संत नामदेव ने कई हिंदी पदों की रचना संगीत के रागों के अनुसार की है। यह इनकी विशिष्टता है। उन्होंने तिलंग, बिलावलु, गोंड, रामकली, भैरव, सारंग, मलार, कानडा इत्यादि रागों में हिंदी पदों की श्रवण मधुर और रसभीनी रचना की। आइए कुछ पदों का रसग्रहण कीजिए।

जब नामदेव ने उत्तर भारत में भ्रमण किया तो उन्हें हिन्दू और मुसलमानों में धार्मिक और सामाजिक वैमनस्य दीख पड़ा। अतः उन्होंने दोनों को उपदेश दिया है—

'पांडे तुमरी गाइत्री लोधेका खेत खाती थी।
लैकरि ठेगा टगरी तोरी लांगत लांगत जाती थी॥
पांडे तुमरा महादेऊ धऊले बलद चढ़िया भावत देखिआ था।
मोदी के घर खाणा पाका वा लडका मारिआ था॥
पांडे तुमरा रामचन्दु सो भी आवतु देखिआ था।
रावन सेती सरबर होई घरकी जोइ गवाई थी॥
हिंदू अंधा तुरकू काणा दोहांते गिआनी सिआणा।
हिंदू पूजै देहुरा मुसलमानु मसीत।
नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीत॥

ऊपर के पद से प्रतीत होता है कि नामदेव ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों स्वरूपों को मानते थे और वे हिंदू और मुसलमानों के लिए सामान्य धर्म का उपदेश देते थे।

संत ज्ञानेश्वर के शिष्य विसोबा खेचर से गुरु दीक्षा लेने के पश्चात् नामदेव योग साधना में लगे थे। इसका उल्लेख यों है—

अखण्डु मण्डलु निराकार महि अनहत बेनु बजाऊंगो।
इडा पिंगला अडऊ सुखमना पउनै बांधि रहाउगो॥
चंद्र सुरज दुई सम करि राखउ ब्रह्म ज्योति मिलि जाऊंगी॥

और—

जह अनहत सूर उजारा तह दीपक जलै छंछारा।
गुरुपरसादी जानिआ जनुनामा सहज समानिया॥

संत नामदेव भक्त के हृदय की व्याकुलता को तालाबेली शब्द से व्यक्त करते हैं। जैसे—

मोहि लागति तालावेली ।
बछरे बिनु गाइ अकेली ॥
पानीआ बिनु मीनु तलफे ।
ऐसे रामनामा बिनु बापुरो नामा ॥

यह व्याकुलता उस प्रकार की है जिस प्रकार की गाय को बछड़े के बिना या मछली को पानी के बिना होती है। कितनी समर्पक उपमाएँ दी हैं। संत नामदेव भक्त के प्रेम की तीव्रता का परिचय या अनुभूति लोकानुभूत दृष्टान्तों से कराते हैं—

जैसी भूखे प्रीति अनाज। त्रिखावंत जल सेती काज॥
जैसी पर पुरखा रत नारी। लोभी नर धन का हितकारी॥
कामी पुरख कामनी पियारी। ऐसी नामे प्रीति मुरारी॥
साई प्रीति जि आपे लाये। गुरु परसादी दुविधा जाए॥
जैसी प्रीति बारिक अरु माता। ऐसा हरि सेती मनुराता॥
प्रणवै नाम देऊ लागी प्रीति। गोविंदु बसै हमारे चीति॥

अन्य स्थल पर वे कहते हैं—

'जैसे बिखै हेत पर नारी, ऐसे नामे प्रीति मुरारी॥'

जिस प्रकार विषयी नर पर नारी से प्रेम कर तड़पता है उसी प्रकार मेरी 'तालाबेली' (परमेश्वर से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा), है। सब संस्कृत और प्राकृत कवियों की सम्मति है कि परकीया नायिका में प्रीति की व्याकुलता अत्यधिक तीव्रता से मुखरित होती है। संत नामदेव की भक्ति में माधुर्य्य भाव का पर्याप्त विकास हो चुका था। निम्नलिखित पद मधुरा भक्ति का उदाहरण है—

राग-भैरव

मै बऊरी मेरा रामु भतारु।
रचि रचि ताकऊ करऊ सिंगारु ॥
भले निंदऊ भले निंदऊ भले निंदऊ लोगु।
तनु मनु राम पियारे जोगु॥
बादु बिबादु काहू सिऊ न कीजै। रसना रामु रसाइनु पीजै॥
अब जीअ जानि ऐसी बनि आई। मिलऊ गुपाल नीसानु बजाई॥
उसतुति निंदा करै नरु कोई। नामे श्रीरंगु भेटल सोई॥

अपने राम की बावली वधू बनकर उसे रिझाने के लिए नामदेव सिंगार करते हैं। प्रेमभक्ति की छटपटाहट कैसी व्यक्त की गई है। उनको अपने प्रिय से मिलते समय लोकनिंदा का बिलकुल भय नहीं है। वे तो डंके की चोट पर उससे मिलना चाहते हैं। क्या यही भाव आगे चल कर सूरदास ने 'भ्रमरगीत' में गोपियों के मुख से नहीं प्रदर्शित किया ? परन्तु संत नामदेव का राम विश्व में भरा हुआ था। उनके अनेक नाम थे। उनको राम का दर्शन जहाँ-तहाँ होता था। पढ़िए :

राग असावरी

एक अनेक बिआपक पूरक जत देखऊ तत सोई।
माइआ चित्र विचित्र विमोहित बिरला बूझै कोई॥
सभु गोविंदु है, सभु गोविंदु है, गोविंदु बिनु नहि कोई।
सूतु एकु मणि सतसहस जैसे उतिपोति प्रभु सोई॥
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जलते भिन्न न कोई।
इहु परपंचु परब्रह्म की लीला विचरत आन न होई॥
मिथिआ भरमु अरु सुपनु मनोरथ सति पदारथु जानिआ।
सुक्रित मनसा गुरु उपदेशी, जागत ही मनु मनिआ॥
कहत नामदेऊ हरि की रचना देखहु रिदै बिचारी॥
घट घट अंतरि सरब निरंतरी केवल एक मुरारी।

नामदेव कहते हैं कि एक देव के राम, हरि, केसव, माधव, बीठुला, गोविंद आदि अनेक नाम हैं और वह परमात्मा जग में जलतरंग-न्याय के अनुसार भरा है। कितने समुचित उदाहरण देकर विश्वात्मा की अनुभूति करायी गई है।

संत नामदेव ने ईश प्राप्ति का सरल सुगम मार्ग 'नामस्मरण' बताया है। वे कहते हैं—

रागु ठोडी

कऊन को कलंकु रहिउ राम नामु लेत ही।
पतित पवित भए रामु कहत ही॥
रामसंगि नामदेव, जनकऊ प्रतथिआ आई।
एकादशी ब्रतु रहै काहे कऊ तीरथ जाई॥
भनति नामदेऊ सुक्रित सुमति भए।
गुरुमति रामु कहि को को न बैकुण्ठी गए॥

अन्य स्थल पर वे कहते हैं—

मन छोडि छोडि सगल भेद। सिमरि सिमरि गोविंद ॥
भजु नामा तरसि भवसिंध ॥

और ....

हरि हरि करत मिटे सभि भरमा।
बरिके नामु ले ऊतम धरमा ॥
हरि हरि करत जाति कुल हरी।
प्रणवै नामा ऐसो हरी ॥
जासु जपत मै अपदा टरी।

और.............................

गंगा जऊ गोदावरि जाइए कुम्भि
जऊ केदार जाइए, गोमति सहसगऊ दानु कीजै।
कोटि जऊ तीरथ करै तनु जऊ हिवाले
गारै राम नाम सरितऊ न पूजै ॥

....

राग भैरऊ

रे जिहवा करऊ सत खण्ड।
जासि न उचरसि श्री गोविन्द ॥
रँगीले जिह्वा हरि के नाइ।
सुरंग रँगीले हरि हरि धिआइ ॥
मिथिआ जिहवा अवरे काम।
निरबाणु पऊइकु हरि को नाम ॥
असंख कोटि अन पूजा करी।
एक न पूजसि नामै हरी ॥
प्रणवै नामदेऊ इहु करणा।
अनन्त रूप तेरे नारायणा ॥

संक्षेप में उपर्युक्त पदों में नामस्मरण और कीर्तन पर बहुत जोर दिया गया है और व्रत, तीर्थ, आदि बाह्याडम्बरों की आलोचना की गई है। जनसाधारण के लिए इससे अधिक सरल और सुगम मार्ग क्या हो सकता था?

नामस्मरण से भ्रमों का नाश होता है और जाति-पाँति का भेद नष्ट होता है। रामनाम की बराबरी तप, दान और तीर्थ भी नहीं कर सकते! साथ ही सन्त नामदेव ने आचरण की शुद्धि पर बहुत जोर दिया। वे कहते हैं—

'परधन परदारा परहरी। ताकै निकटि बसै नरहरी॥
जो न भजते नाराइणा। तिनका मैं न करऊ दरसना॥
जिनके भीतरि है अन्तरा। जैसे पसु तैसे उइ नरा॥
प्रणवति नामदेऊ नाकहि बिना। ना सोहै बतीस लखना॥

वह नर परमेश्वर का प्रिय होता है जो परनारी और परस्त्री की ओर देखता भी नहीं, उनकी मन में अभिलाषा भी करता नहीं। ऐसे सदाचारी के सन्निकट परमेश्वर रहता है। परन्तु केवल सदाचारी होने से भी नहीं चलता। सदाचारी व्यक्ति को भगवद्भक्ति करनी चाहिए। जैसे सुन्दरता के बत्तीस लक्षण होने पर भी यदि नाक का दोष है तो वह व्यक्ति सुन्दर नहीं कहलाता वैसे भगवद्भक्ति के बिना सदाचार शोभा नहीं पाता। बाह्याडम्बरों का विरोध कर शुद्ध चित्त से नाम स्मरण करने से परमेश्वर की प्राप्ति होती है ऐसा सन्त नामदेव ने बार-बार कहा परन्तु चित्त की शुद्धि और परमार्थ की ओर प्रवृत्ति गुरु के बिना नहीं हो सकती ऐसा भी उनका विश्वास था। उन्होंने अनेक पदों में गुरु की महत्ता कई बार कही। उन्होंने ४० पंक्तियों का पद रचकर गुरुकृपा की आवश्यकता एवं अनिवार्यता प्रतिपादित की। उसकी कुछ पंक्तियाँ हैं—

राग भैरऊ

जऊ गुरदेऊ त मिलै मुरारि।
जऊ गुरदेऊ त ऊतरै पारि॥
जऊ गुरदेऊ त नामु द्रिडावै।
जऊ गुरदेऊ त अम्रित बानी॥
जऊ गुरदेऊ त पर निंदा त्यागी।
जऊ गुरदेऊ त संसा टूटै॥
बिनु गुरदेऊ अवर नही जाई।
नामदेऊ गुर की सरणाई॥ इत्यादि।

गुरुग्रन्थसाहिब में सङ्गृहीत 'नामदेव बानी' में लगभग सौ बार गुरु की अनिवार्यता और आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। इस प्रकार गुरु का माहात्म्य और नामस्मरण का सर्वसुलभ साधन बताकर सन्त नामदेव ने शिखधर्म की प्रस्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। गुरु की प्राप्ति होने पर वे निम्नलिखित पद में समाधान प्रकट करते हैं—

सफल जनमु मोकउ गुरु कीना।
दुख बिसारि सुख अंतरि लीना॥
गिआन अंजनु मोकउ गुरु दीना।
राम नाम बिनु जीवनु मन हीना॥
नामदेइ सिमरनु करि जाना।
जगजीवन सिउ जीऊ समाना॥

काव्यालङ्कार की दृष्टि से भी सन्त नामदेव के इन हिन्दी पदों का उत्कर्ष उनके साक्षात्कार के कथन में है। नामदेवजी कहते हैं कि मुझे परमेश्वर ने दर्शन दिया था—

अब जीअ जानि ऐसी बनि आई। मिलऊ गुपाल नीसानु बजाई॥
उसतुति निंदा करै नऊ कोई। नामे श्रीरंगु भेटल सोई॥

और—

राग सोरठी

जब देखा तब गावा। तउ जन धीरज पावा॥
नादि समाइलो रे सतिगुर भेटिले देवो॥
जह झिलिमिलि कारु दिसंता।
तह अनहद सबद बजंता॥
जोति जोति समानी। मै गुरपरसादी जानी॥
रतन कमल कोठरी। चमत्कार बिजुल तही॥
नेरे नाही दूरि। निज आतमै रहिआ भरपूरि॥
जह अनहत सूर उजारा। तह दीपक जलै छंछारा॥
गुर परसादी जानिआ। जनु नामा सहज समानिया॥

उपरिनिर्दिष्ट पद में उन्होंने बताया कि मुझे ईश्वर का दर्शन हुआ और झिलमिल प्रकाश दिखाई देने लगा। अनहद नाद सुनाई दे रहा था। मेरी

आत्मज्योति उस परमात्मज्योति में समा गई। अन्तःकरण की कोठरी रत्न के प्रकाश से जाज्वल्यमान हो उठी। वहीं बिजली भी चमकने लगी। भगवान की दूरी नहीं रह गई। आत्मा उसी से आपूर हो गई। असंख्य दीपक की ज्योति को मन्द करनेवाले सूर्य का प्रकाश छा गया। नामा उसी में सहज समा गया। इसी प्रकार 'उन्मनी अवस्था' में उन्हें 'लययोग' की जो अनुभूति हुई उसका वर्णन उन्होंने पद संख्या ७७ में दिया। नामदेव के परवर्ती संतों ने– जैसे संत कबीर ने—उक्त अनहद नाद का और उन्मनी अवस्था का विस्तृत वर्णन किया है। इससे स्पष्ट होता है कि वे सिद्ध बने थे। जो सिद्धावस्था में पहुँचता है उसे सर्वव्यापी परमात्मा जहाँ-तहाँ प्रतीत होता है। जैसे वे कहते हैं—

ईभे बीठलु, ऊभै बीठलु, बीठल बिनु संसार नहीं।
थान थानंतरि नामा प्रणवै पूरि रहिउ तू सरब मही॥

विट्ठल अणुरेणु में व्याप्त है और उसका दर्शन चाहे जब हो सकता है। वे कहते हैं—

नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीद॥

मैं उस परमेश्वर की मानस पूजा करता हूँ जो मंदिर में और मसजिद में नहीं है। सचमुच नामदेव अभेद भक्ति का माने अद्वैत का पूरा आस्वाद ले रहे थे। वे कहते हैं—

बदहु कीन होड माधऊ मोसिहु।
ठाकुर ते जनु जन ते ठाकुरु खेलु परिउ है तोसिऊ॥
आपन देऊ देहुरा आपन आप लगावै पूजा।
जलते तरंग तरंग ते है जल कहन सुनन कऊ दूजा॥
आपहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तूरा।
कहत नामदेऊ तू मेरे ठाकुर जनु ऊरा तू पूरा॥

उनका सेव्य—सेवक भाव भी जाता रहा। वे कहते हैं—

प्रणवै नामा भए निहकामा। को ठाकुर को दारा रे॥

आगे वे कहते हैं कि मैं अपने मन की भिन्नावस्था भी भूल गया हूँ। मेरे हृदय में पूर्णतया प्रभु का वास्तव्य है। मेरे रग-रग में राम भरा है। मेरा मानसिक द्वंद्व और भ्रम बिलकुल नष्ट हुआ हैं। मैं राम में समा गया हूँ।

मन की बिरथा मनु ही जानै।
कै बुझल आगै कहिए॥
अंतरजामी रामु रमाई।
मै डरु कैसे चाहिए॥
गुरु कै सबदि राहु मनु राता।
दुविधा सहजि समाणी॥

संक्षेप में संत नामदेव ने अपनी सिद्धावस्था में अनुभूत अद्वैतानंद का अच्छा वर्णन किया। इन ६१ पदों में कई स्थानों में नामदेव ने निर्गुण भक्ति का भी प्रतिपादन किया है। हम पहले कह चुके हैं कि महाराष्ट्र के संत सगुण और निर्गुण भक्ति में विरोध नहीं देखते थे। परंतु पंजाब स्थित संत नामदेव ने सामयिक धार्मिक परिस्थिति को मद्दे नजर रखकर निर्गुण भक्ति पर अधिक जोर दिया। हिंदी पद संत नामदेव के आध्यात्मिक परमोत्कर्ष के परिचायक हैं।

जैसी उनकी आध्यात्मिक योग्यता बढ़ी वैसी ही उनकी काव्य-प्रतिभा प्रौढ़ हुई। वे आध्यात्मिक रूपकों से कविता को सजाने लगे। यहाँ उनके दो पदों को उद्धृत करने का मोह संवरण नहीं किया जाता। बढिया रूपकों का आस्वाद लीजिए-

मन मेरे गजू जिह्वा मेरी काती।
मपि मपि काटउ जम की फासी॥
कहा करउ जाती कह करउ पाती।
राम को नामु जपउ दिनराती॥
रांगिनि रागउ सीवनि सीवउ।
राम नाम बिनु घरीअ-न-जीवउ॥
भगति करउ हरिके गुन गावउ।
आठ पहर अपना खसमु धिआवउ॥
सुइने की सूई रूपे का धागा।
नामे का चित्तु हरि सउ लागा॥

संत नामदेव दर्जी थे अतः उन्होंने दर्जी के व्यवसाय से सम्बद्ध समुचित रूपक ऊपर के पद में भर दिया है। वे कहते हैं कि मनरूपी गज और जिह्वारूपी कैंची की सहायता से यम का फाँस धीरे धीरे काट रहा हूँ। अब मेरा जाति

पाँति से कोई संबंध नहीं रहा। कपड़े सीने का तथा रंगने का व्यवसाय मैं दिन-रात करता हूँ परन्तु राम नाम का स्मरण किए बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकता। मैं अपनी सूई सोने की बनी मानता हूँ और धागे को चाँदी का मानता हूँ। मेरा मन हरि की ओर लगा है। नीचे के पद में अधिक सरस रूपक का आस्वाद कीजिए—

लोभ लहरि अति नीझर बाजै। काइआ डूबै केसवा॥
संसारु समुंदे तारि गोविंदे। तारिलै बाप बीठुला॥ रहाऊ
अनिल बेडा हऊ खेवि न साकऊ। तेरा पारु न पाइआ बीठुला॥
होहु दइआलु सतिगुरु मेलि तू मोकऊ पारि उतारे केसवा॥
नामा कहै हऊ तार भी न जानऊ।
मोकऊ बाह देहि बाह देहि बीठुला॥

ऐ प्रभो! संसाररूपी सागर में लोभरूपी लहरें इतनी भयानक हैं और उनकी आवाज इतनी भीतिदायक है कि मेरी नाव को उनमें डूबने का भय है। इत्यादि कितने समुचित रूपकों द्वारा नामदेव अपना आशय व्यक्त करते हैं।

वैसे ही निम्नलिखित पद में उपमाओं की सुंदरता देखिए—

राग कानडा

ऐसो रामराई अंतरजामी। जैसे दरपन महि बदन परवानी॥
बसै घटाघट लीपन छीपै। बंधन मुकता जातुन दीसै॥
पानी माहि देखु मुखु जैसा। नामे को सुआमी बीठुल ऐसा॥

परमेश्वर सर्वव्यापी है परन्तु जैसे शीसे में देखनेवाले को अपना मुँह प्रतिबिंबित हुआ दिखाई देता है वैसे ही ब्रह्मज्ञानी को सर्वत्र परमेश्वर का दर्शन होता है। सिद्ध की अथवा ब्रह्मज्ञानी की जाति की ओर ध्यान देना व्यर्थ है। वह जाति-पाँति के बंधन के परे होता है। जैसे जल में अपना प्रतिबिम्ब दिख पड़ता है वैसे ही सब प्राणियों के हृदय में बंधन मुक्त को परमात्मा दिखाई देता है। कम से कम नामदेव तो अपने स्वामी का विट्ठल का दर्शन सब जगह करता है। अभेद भक्ति की अनुभूति कितनी बढ़िया उपमाओं के द्वारा करायी गई है। संत नामदेव जितने ऊँचे भक्त थे उतने ऊँचे कवि भी थे।

संत नामदेव की साहित्यिक और सांस्कृतिक सेवा:—अंत में डॉ॰ आचार्य विनय मोहन शर्मा जी की अनमोल सम्मति उद्धृत करके हम यह

प्रकरण समाप्त करते हैं। आचार्य शर्मा जी लिखते हैं—'संत नामदेव के पद उत्तर भारत में इतने अधिक प्रचलित हो गए थे कि उनके भावों की प्रतिध्वनि हमें उनके परवर्त्ती संत कवियों में बार बार सुन पड़ती है। उत्तर भारतीयों को सर्व-प्रथम निर्गुण भक्ति का मधुर रस पान कराने का श्रेय इसी महाराष्ट्रीय संत कवि को है। उनके पूर्व सिद्धों और नाथों ने तो भक्तिविरहित निर्गुण मत का ही प्रचार किया था। यह सत्य है कि कबीर के समान नामदेव की हिन्दी रचनायें प्रचुर मात्रा में नहीं मिलतीं परन्तु जो कुछ प्राप्य हैं उनमें उत्तरी भारत की संत परम्परा का पूर्व आभास मिलता है और उनके परवर्ती संतों पर निश्चय ही उनका प्रभाव पड़ा है जिसे उन्होंने सर्व भाव से स्वीकार किया है। ऐसी दशा में उन्हें उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का प्रवर्त्तक मानने में हमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए। संभवतः हिन्दी जगत तक उनके संबंध में पर्याप्त जानकारी न पहुँच सकने के कारण उन्हें वह स्थान नहीं प्राप्त हो सका, जिसके वे अधिकारी हैं। संत नामदेव का व्यक्तित्व सचमुच महान् था। उन्होंने उत्तर भारत में प्रवेश कर जनता को बहुदेवोपासना, कृत्रिम आचार विचार, जाति भेद आदि के प्रति सजग किया। उन्होंने जैसा कि ऊपर कहा गया है, कबीर और अन्य परवर्ती संतों का मार्ग प्रशस्त कर दिया। संत नामदेव ने जहाँ उत्तर भारत में युगानुरूप विचारों से क्रांति की चिनगारी प्रज्ज्वलित की वहाँ हिन्दी साहित्य की दृष्टि से खड़ी बोली के पद्य को विभिन्न राग-रागिनियों की पदशैली भी प्रदान की। संक्षेप में संत नामदेव हिन्दी के अपने समय के (१) निर्गुण भक्ति के प्रथम प्रचारक और (२) हिन्दी में गीत-शैली के प्रथम गायक कहे जा सकते हैं। संत नामदेव की लोकप्रियता का प्रमाण इसी से सिद्ध होता है कि निम्न परवर्ती संत कवियों ने श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण किया है।

गुरु परसादी जैदेव, नामा। प्रगति के प्रेम इन्हहि है जाना।

(संत कबीर)

नामा, कबीर सुकौन थे कुन रांका बाँका।
भगति समानी सब धरनि तजि कुल कानाका॥

(रज्जबजी)

जैसे नाम कबीर जी यों साधु कहाया।
आदि अंत-लौ आइकै राम-राम समाया॥ (स्वामी सुंदरदास)

नामदेव कबीर जुलाहो जन रैदास तिरै।
दादू वेगि बार नहि लागै हरि सौं सबै सरै॥
(दादू दयाल)

ध्रू, पहलाद, कबीर, नामदेव पाषंड कोई न राख्या।
बैठि इकंत नांव निज लीया वेद भागोत यूं भाख्या॥
(बषनाजी)

नामदेव, कबीर, तिलोचन सधना सैनु तरै।
कहि रविदास सुनहु रे संतो हरि जीउ ते सभै सरै॥
(रैदास)

इसमें संदेह नहीं कि संत नामदेव की वाणी ने हिंदी संतसाहित्य में एक अपूर्व मिठास भर दी।

नामदेव के कुटुम्बियों की अभंग रचनाः—नामदेव के चार पुत्र थे और वे सब कवि थे। उनके नाम थे नारायण, विठोबा, गोविंदा, महादेव। इनकी पत्नियाँ भी कवियित्री थीं। नामदेव की माता का नाम था गोमाई और पत्नी का राजाई। इन्होंने भी अभंगों की सरस रचना की। नामदेव की दासी थी संतिन जनाबाई। यह सुप्रसिद्ध कवयित्री है। इसकी रचना का विस्तृत बर्णन आगे दिया जायगा। नामदेव की भगिनी आऊबाई भी कवियित्री थी। उसके केवल दो अभंग उपलब्ध हैं। संत नामदेव ने सबके हृदय में भक्ति के साथ काव्यप्रतिभा के बीज बो दिए थे। संसार के साहित्यिक इतिहास में यह बेजोड़ कवि कुटुम्ब था। प्रथम पुत्र नारोबा (नारायण) के तेरह अभंग उपलब्ध हुए हैं। द्वितीय पुत्र विठोबा के नब्बे अभंग प्राप्त हुए हैं। तृतीय पुत्र गोविंदा (गोंदा) के उन्नीस अभंग मिले हैं उनमें निम्नलिखित एक हिंदी अभंग है।

गजानन गौरी खूब लाल अंग पर अमूल।
तरे मुरख वचनामृत उस जमदूत भागत है॥
बिभा भई तन्दुल पेट उसपर साप की लपेट।
विघन करत है चपेट पकड़ फेंट कालि की॥

इस अभंग में वे गणपति का वर्णन करते हैं। मराठी का अभंग छंद इन्होंने हिंदी में प्रयुक्त किया है। नामदेव के सब कुटुम्बी (संतिन जनाबाई को छोड़कर)

साधारण कवि थे। उनकी रचनाओं में नामदेव के प्रतिभा-लक्षण दृग्गोचर नहीं होते। माता गोणाई और पत्नी राजाई की रचनाओं में व्याकुलता ओतप्रोत है। वे दोनों भी विट्ठल से व्याकुल हृदय से प्रार्थना करती हैं कि नामदेव का 'देव पागलपन' कैसे भी दूर करो। तड़पन से उनके अभंग रसभीने बने हैं। ऊपर निर्दिष्ट कुटुम्बियों के लगभग तीन सौ अभंग उपलब्ध हैं।

कवियित्री जनाबाई की सरस रचना :—जनाबाई का जन्म गोदावरी अर्थात् दक्षिण गंगा के किनारे पर बसे गंगाखेड नामक देहात में एक गरीब परिवार में हुआ था। माता-पिता की दुःखद मृत्यु हुई थी। अतः नामदेव के जन्म के पूर्व वह उसके घर कुटुम्बिया बन कर रहने लगी। वह साधारण नौकरानी के रूप में (दासी) कार्य करती थी। परंतु संत नामदेव का उस पर भविष्य में ऐसा प्रभाव हुआ कि वह दासी जनी की अमर संत कवयित्री जनाबाई बनी। उसने नामदेव का लालन-पालन किया। उसको अपने अंग पर बढ़ाया। उसको हठी बालक से दृढ़ भक्त होते हुए देखा। उसका उस पर छोटे भाई जैसा प्रेम था। वह स्वयम् आजन्म अविवाहिता रही अतः नामदेव और उसके लड़के-बच्चे उसके प्रेम के विषय बने। जैसे-जैसे नामदेव की भक्ति का और काव्यप्रतिभा का विकास होता गया वैसे-वैसे जनी पर उसका अपेक्षित असर होता गया। फलतः नामदेव के सत्संग से उसके भावुक हृदय में विट्ठल भक्ति की धारा उमड़ पड़ी और वह अपनी भक्ति-भावना रसभीने पदों के द्वारा प्रकट करने लगी। जनी स्वयम् अशिक्षित थी परंतु उसका हृदय भक्ति से संस्कृत बना था अतः उसकी काव्य-रचना उसके संस्कृत हृदय का स्वाभाविक आविष्कार है। उसका आराध्य देव विट्ठल ही था अतः उसके प्रति उसने जो कई भक्तिपूर्ण अभंग रचकर अर्पित किये, उनकी मधुरता वर्णन के परे है। उनकी गिनती लगभग डेढ़ सौ है। संत ज्ञानेश्वर का दर्शन होने पर उसके काव्य में प्रौढ़ता आ गई। उसके अभंगों में नामदेव की आर्तता और ज्ञानेश्वर की योगानुभूति का सुंदर संगम है। इसके अतिरिक्त उसकी रसानुभूति उसमें सम्मिलित हुई है अर्थात् जनाबाई की रचना त्रिवेणी जैसी पवित्र है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जनाबाई के कुछ अभंग इतने सरस हैं कि उनमें और नामदेव के अभंगों में भेद बतलाना बहुत कठिन हो जाता है। दोनों के हृदय समान ही थे। श्रीकृष्णलाल शरसोदेजी ने अपने 'मराठी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ में यथार्थ कहा है कि जनाबाई की काव्य सरिता के एक तट

पर भक्ति का माधुर्य, दूसरे तट पर योग का गुञ्जन और दोनों तटों के बीच प्रासादिक प्रेम का प्रवाह है।'

जनाबाई के ३५० पद उपलब्ध हैं जो इतने सुंदर हैं कि उन्हें बार-बार गाने पर भी तृप्ति नहीं होती। उसकी विमल भक्ति के प्रवाह में हृदय सहसा बहने लगता है और मन-मयूर उसके आनंद घन कृष्ण के दर्शन कर थिरक उठता है।

जनाबाई ने आत्मनिष्ठ अभंगों के अतिरिक्त कई अभंग रचे हैं जिनमें प्राचीन भक्त ध्रुव, प्रह्लाद, शुक, शबरी इत्यादि का सरस गुणगान किया है। वह समकालीन भक्तों को वैसे ही आदर से देखती थी अतः उसने कई अभंगों में तत्कालीन भक्त संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, गोरा कुम्हार, सेना नाई, चोखा मेला, सोपानदेव और निवृत्तिनाथ की रसभीनी प्रशंसा की। एक अभंग में वह कहती है 'भगवान विट्ठल अनेक पुत्र-पुत्रियों का पिता है। जब वह चलता है तब उसके साथ बालक-बालिकाओं का एक मेला ही रहता है। उसके कंधे पर निवृत्तिनाथ है और वह सोपानदेव का हाथ पकड़े हुए है। उसके आगे ज्ञानेश्वर और पीछे मुक्ताबाई चल रही है। उसकी जंघा पर गोरा कुम्हार है और उसी की बराबरी में चोखा मेला तथा जीवा है। बंका महार उसकी गोद में है और नामदेव उसकी अंगुली पकड़े हुए है।' कितना बढ़िया जनाबाई ने भगवान विट्ठल के परिवार का शब्दचित्र खींचा है! समकालीन संतों का कितना समीचीन वर्णन किया है। धन्य है कवयित्री जनाबाई जो अपने विट्ठल से बातचीत करने में भी सफल रही। उसकी संत नामदेव पर अटूट और अपार श्रद्धा थी। उसका विश्वास था कि वह जन्म-जन्मांतर से उसके साथ रहती है।

हम पहले कह चुके हैं कि कालान्तर से उसके अभंगों में प्रौढता आ गई। यद्यपि वह सगुणोपासक थी पर निर्गुण ब्रह्म की उसे अनुभूति हो गयी थी। वह स्वानुभव से अद्वैतवादी बनी थी। एक अभंग में वह कहती है 'आज मैंने पंढरपुर के चोर को (विट्ठल को) पकड़ लिया है और उसे प्रेम की रस्सी से बाँध लिया है। नाम स्मरण (शब्द) के योग से अपने को विट्ठल से संलग्न किया और उसके पैरों में बेड़ी डाल दी। इस प्रकार उसे कैद कर जब मैंने उस पर 'सोहं' शब्द की मार लगानी शुरू की तब वह खुशामद करने लगा पर इससे क्या? मैं जब तक जीवित हूँ तब तक कभी भी उसे अपने हृदय के कारागृह से मुक्त न करूँगी। प्रिय

पाठको ! क्या जनाबाई का उपर्युक्त अभंग साहित्य की दृष्टि से सुंदर नहीं है ? क्या उसमें काव्यकल्पना, रूपक और स्नेहपूर्ण अनन्य भक्ति की भावना का आकर्षक चित्र नहीं खींचा गया है ? क्या उसमें निर्गुण ब्रह्म की उपासना का मनोहारी कथन नहीं है ? हमें तो लगता है कि संत ज्ञानेश्वर की काव्य प्रतिभा का यह सफल अनुकरण है। कवयित्री मुक्ताबाई (ज्ञानेश्वर की बहिन) और जनाबाई की भेंट हुई थी। कुछ समय वे एकत्र रही थीं। दोनों ही समयस्फूर्त रचना करने में निपुण थीं। एक समय दोनों ने विट्ठल के प्रति समयस्फूर्त पद गाये। दोनों के पदों की मधुरता व रसभीनता ने श्रोताओं को मुग्ध किया था परंतु कहते हैं कि मुक्ताबाई ने जनाबाई को बड़ी बहिन मानकर सादर प्रणाम किया था और वास्तव में अवस्था की दृष्टि से जनाबाई मुक्ताबाई से लगभग पंद्रह वर्ष बड़ी थी। ईश्वर की कृपा से उसे आयु भी बहुत लम्बी मिली थी। कहने का तात्पर्य यह है कि उसकी काव्यप्रतिभा का उचित मूल्यांकन समकालीन कवियों ने किया था। संक्षेप में जनाबाई संत ज्ञानेश्वरकालीन संत कवयित्री और कवियों में संत नामदेव को छोड़कर प्रथम स्थान रखती है। उसकी भक्ति, ज्ञान, विरक्तता, योगानुभूति और सरस काव्यप्रतिभा ने उसे प्राचीन मराठी साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करा दिया है।

आठवाँ अध्याय

संतमंडली

हम पहले निवेदन कर चुके हैं कि संत ज्ञानेश्वर के धर्मजागरण के फलस्वरूप हिंदू समाज में आध्यात्मिक प्रजातंत्र स्थापित हो गया था और भक्ति की लहर समाज के तल तक जा पहुँची थी। जैसे वसंत ऋतु में बड़ी या छोटी सब लताएँ नई पत्ती और फूल धारण करती हैं वैसे भक्ति के उक्त वसंत में हिंदू समाज की सब जातियों ने संतकविरूपी गंधयुक्त फूल धारण किए थे। उन संत कवियों में प्रमुख थे सेना नाई, गोरा कुम्हार, सांवता भक्ति, चोखामेला धेड, नरहरी सोनार, बिसोबा खेचर, बंकी धेडीन, सच्चिदानंद बाबा, जगमिल नागा, जोगा परमानंद, परिसा भागवत इत्यादि। सचमुच मराठी भाषा के इतिहास में यह सुवर्णकाल था और हमें लगता है कि शायद ही अन्य भाषा के इतिहास में इसके समान काल हो। सब महाराष्ट्र भक्तिपरक काव्य से गूंज उठा था। सामाजिक जीवन में अभंग कीर्तन अर्थात् कविता का भक्तिपूर्ण गान अनिवार्य अङ्ग बना था। प्रतिदिन रात्रि में भोजन करने के पश्चात् भावुक देहाती मंदिर में या अन्य प्रशस्त स्थान में इकट्ठा होकर तन्मयता से अभंग गाते थे और प्रसन्न चित्त से भगवान का स्मरण करते हुए सो जाते थे। प्रत्येक गाँव में अभंग की मधुर और रसीली ध्वनि सुनाई पड़ती थी। आइए, हम संत कवियों के जीवनचरित्रों का तथा काव्य-रचनाओं का संक्षेप में अध्ययन करें।

गोरा कुम्हार (सन् १२६७–१३०९)—इनका जन्म तेरढोकी नामक गाँव में कुम्हार के कुल में हुआ था। इनकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता ध्यान में रखकर सब संत उन्हें गोरोबा काका कहते थे। इनकी दो पत्नियाँ थीं। एक पत्नी ने विनोद में कहा—'तुम मुझे स्पर्श करोगे तो तुम्हें भगवान बिठोबा की सौगंद है।' इसके पश्चात् उन्होंने उक्त पत्नी के प्रति बहिन जैसा बर्ताव किया। उसके साथ वे भी विट्ठल की भक्ति में मग्न रहने लगे। कुछ दिनों के पश्चात् उक्त संतिन ने वंशवृद्धि के लिए गोरोबा का विवाह अपनी छोटी बहिन रामी के साथ करा दिया। इन्होंने प्रपंच किया पर वे सदा भक्ति में ही मग्न रहते थे। अपना चरितार्थ का

व्यवसाय करते समय विट्ठल का नाम स्मरण करते थे और हृदय के भाव अभंगों के द्वारा प्रगट करते थे। कहते हैं कि मिट्टी को पैरों से कुचलते वे इतने नामस्मरण में तल्लीन हुए थे कि उनका एक डेढ़ वर्ष का पुत्र उनसे गीली मिट्टी में कुचला गया था। उसके रक्त से कीचड़ लाल हो गया परन्तु इनका कुचलना जारी था। जब उनकी पत्नी ने यह देखा तब वह सहसा रो पड़ी। गोरोबा काका ने उससे कारण पूछा। कारण बताने पर उन्होंने समचित्त से कहा कि भगवान् विट्ठल की इच्छा पूरी हुई। वे आत्मानुभवी थे। उन्होंने ही नामदेव को कहा था कि तू आत्मानुभव में कच्चा है, निरा भावुक भक्त है। आत्मानुभव के बिना भक्ति अधूरी रहती है। इसके पश्चात् संत ज्ञानेश्वर के आदेशानुसार नामदेव ने विसोबा खेचर से गुरुदीक्षा ली। आगे चल कर, नामदेव की प्रगति देखकर उसके प्रति इनके मन में श्रद्धा बढ़ी। अतः उन्होंने नामदेव की प्रशंसा कई सरस अभंगों में की। किंवदन्ती है कि मिट्टी का काम करते समय एकाएक परकोटा इन पर गिर पड़ा। वे उसके नीचे पूरी तरह दब गए, परन्तु उनके 'विट्ठल विट्ठल' नामस्मरण के पवित्र शब्द कुछ देर तक लोगों को सुनाई देते रहे। एवम् नामस्मरण करते हुए वे स्वर्गवासी हुए। इन्होंने कई भक्ति-रसभीने अभंगों की रचना की।

सांवता माली (सन् १२५०-१२९५)—ये अरणभेंडी नामक देहात में रहते थे। अपना जातीय व्यवसाय करते हुए सदा विट्ठल का नाम स्मरण करते थे। कहते हैं कि इनकी कीर्ति सुनकर संत ज्ञानेश्वर इनसे मिलने गए थे। वे अपने व्यवसाय में ही विट्ठल का दर्शन करते थे। निम्नलिखित अभंग उनका अच्छा परिचायक है। 'प्याज, मूली, भाजी इनमें मैं अपने विट्ठल को ही देख रहा हूँ। लहसन, मिर्च, धनिया, ये सब मेरे हरि के ही रूप हैं। मोट, नाड़ा, कुँवा और डोरी सभी में मेरा बदरीनाथ व्याप्त है।' इस प्रकार के इनके तेईस अभंग उपलब्ध हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे सरस हैं।

नरहरि सुनार:—ये पंढरपुर में रहते थे। परन्तु कट्टर शिव भक्त होने के कारण ये विट्ठल का दर्शन नहीं करते थे। अपने जातीय व्यवसाय में बहुत कुशल थे। एक धनिक व्यक्ति ने इनसे विट्ठल की मूर्ति के लिये करधनी बनवाई परंतु वह मूर्ति कमर में कभी बड़ी होती या छोटी। अतः शिवभक्त होने के कारण इन्होंने अपनी आँखों पर पट्टी बाँधकर विट्ठलमूर्ति की कमर का नाप

लेने का प्रयत्न किया। वे विट्ठल का (हरि का) दर्शन नहीं करना चाहते थे। परंतु चमत्कार यह हुआ कि उनको विट्ठल की मूर्ति में शिव की मूर्ति की प्रतीति होने लगी। आँखोंकी पट्टी खोल कर देखा तो वहाँ विट्ठल की मूर्ति थी। पुनः आँखों पर पट्टी बाँधकर मूर्ति का नाप लेने लगे तो शिव की प्रतिमा की प्रतीति हुई। तब उन्हें ज्ञात हुआ कि हरि और हर (विष्णु और शिव) दो पृथक् देवता नहीं अपितु एक ही महान् परब्रह्म के दो रूप हैं। उनकी द्वैत भावना जाती रही। उनकी कट्टर शिवोपासना समाप्त हुई और वे वारकरी बने। आगे चलकर इन्होंने कई अभंगों की सरस रचना की। अपने जातीय व्यवसाय के अनुरूप कुछ रूपक बनाकर अपने अभंगों में उनका समुचित उपयोग कर इन्होंने अभंग काव्य समृद्ध किया। उनके हरिहरैक्यपरक एक अभंग का आशय है—'संसार के वे स्त्री-पुरुष धन्य हैं, जो शिव और विष्णु को एक ही रूप समझकर सदैव प्रेम से हरि हरि का जप करते हैं। इन दोनों में कोई भेद नहीं है पर द्वैत के कारण मनुष्य के हृदय में भेद का भाव उत्पन्न होता है। मुझे तो इन दोनों में कोई भेद नहीं जान पड़ता। मैं इन दोनों में एक ही प्रभु का रूप देखता हूँ।' आगे चलकर वे कहते हैं—'खरे तत्वज्ञाता जानते हैं कि सगुण और निर्गुण एक ही है।' इन्होंने सन् १३१३ में पंढरपुर में समाधि ली।

सेनानाई:—इनके गाँव का तो पता नहीं लगता परंतु ये ज्ञानेश्वरकालीन संत थे इसमें कोई संशय नहीं है। नाभाजी ने 'भक्तमाला' में सेनानाई का उल्लेख किया पर वह उत्तरी भारत के संत सेना नाई का दिखता है। नरहरि सुनार जैसे इन्होंने अपने जातीय व्यवसाय सम्बद्ध अन्वर्थक रूपकों का अपने अभंगों में सफल प्रयोग किया और मराठी का अभंग काव्य पुष्ट किया। नमूने के तौर पर एक अभंग का आशय यहाँ उद्धृत करता हूँ—'हम पतली हजामत बनायेंगे, विवेक का दर्पण दिखायेंगे, वैराग्य का चिमटा हिलायेंगे, भावार्थ की बगल साफ करेंगे, शांति के जल से सिर भिगायेंगे, अभिमान की चोटी दबायेंगे, काम-क्रोध के नाखून काटेंगे और चारों वर्णों की सेवा करेंगे।' विज्ञ पाठक समझ सकते हैं कि सेना नाई के द्वारा की जाने वाली यह 'दार्शनिक हजामत' कितनी संतोषदायक है। कवि ने एक ही रूपक में अपनी सारी बातें कितनी सरसता से प्रगट कीं। कौन कह सकता है कि अपढ़ सेना नाई की काव्यप्रतिभा अलौकिक नहीं थी। अलंकारों की समीचीन योजना द्वारा ही तो प्रतिभा अपना आविष्कार

करती है। हजामत जैसी तुच्छ करनी पर इतना प्रौढ़ एवम् आध्यात्मिक रूपक बनाना साधारण कवि का काम नहीं है। सेना नाई ने कई अभंगों में भगवान् कृष्ण की भक्ति तथा संतों की महिमा बहुत तल्लीनता से गायी। उनमें भक्ति और नम्रता ओतप्रोत है। एक अभंग में इन्होंने बतलाया कि वे संत ज्ञानेश्वर के शिष्य थे। परंतु संत नामदेव के साथ ये पंजाब भी गए थे। सेना के 'ग्रंथ साहिब' में उद्धृत पदों से ज्ञात होता है कि उस पर संत नामदेव की भाषा का काफी प्रभाव था। उन्होंने हिंदी में कुछ अभंगों की रचना की। उनका एक हिंदी पद है—

वेदहि झूठा, शास्त्रहि झूठा,
भक्त कहां से पछानी।
ज्या, ज्या, ब्रह्मा तू ही झूठा,
झूठी साके न मानी॥
गरुड चढे जब विष्णु आया,
सांच भक्त मेरे द्रोही।
धन्य कबीरा, धन्य रोहिदास,
गावे सेना न्हावी॥

कोई कहते हैं कि सेना नाई उत्तर भारत का निवासी था परंतु उसके मराठी अभंग विशेषतया गौलणं शीर्षक पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वह महाराष्ट्र का ही निवासी था। इतना खरा है कि उसने हिंदी में भी कुछ पदों की रचना की।

चोखामेला:—ये जाति के धेड़ थे। ये मंगलवेठा नामक गाँव के निवासी थे। विट्ठल के कट्टर भक्त होने के कारण प्रतिवर्ष पंढरपुर की वारी करते थे। वहाँ संत नामदेव के भजन-कीर्तन में तल्लीन होते थे। नीचतम जाति का होने के कारण इन्हें अनेक बार अपमानित होना पड़ा पर ये भक्ति से विचलित नहीं हुए। कहते हैं कि भगवान् विट्ठल ने इनकी दृढ़ भक्ति पर प्रसन्न होकर इन्हें दर्शन दिया था। संत नामदेव की दासी जनाबाई ने इनकी श्रेष्ठता का ऐसा वर्णन किया- 'और सब भक्त हैं परंतु उनमें चोखामेला भक्तराज है। चोखामेला ऐसा भक्त है कि जिसने अपनी भक्ति के बल पर परमेश्वर को भी भ्रम में डाल दिया। जगदीश्वर स्वयम् उनके बदले मृत पशुओं को ढोने का तुच्छ काम करते हैं। यह है चोखामेला की भक्ति का प्रताप।' संत चोखामेला ने कई भक्तिरसयुक्त

अभंगों की सफल रचना की। इनके अभंग प्रासादिक और सरस होने के कारण श्रोताओं एवम् पाठकों को तत्काल प्रभावित करते हैं और उनके हृदय भक्तिरस से प्लावित करते हैं। संत चोखामेला अनुरूप उपमा और उपयुक्त प्रतीकों की समुचित योजना करते हैं। एक अभंग में वे कहते हैं—ऊख उपर से देखने में भद्दा लगता है परंतु उसका रस मधुर और पुष्टिदायक होता है। नदी के किनारे तिरछे होने से असुंदर लगते हैं परंतु उनमें मधुर और पवित्र जल का प्रवाह बहता है। वैसे ही चोखामेला नीचतम धेड जाति में पैदा होने से गंदा प्रतीत होता है परंतु उसके हृदय में भक्ति की मधुर एवं पवित्र धारा समायी हुई है।' कितना रसपूर्ण आत्माविष्कार ऊपर के अभंग में भरा है। वारकरी सम्प्रदाय की अद्वैत भक्ति चोखामेला के खून में कूट-कूटकर भरी थी। वे भजन-कीर्तन करते पंढरपुर जाते थे। उन्होंने सबको आर्त हृदय से कहा—'पंढरपुर को भजन-कीर्तन करते हुए और ताली बजाते हुए जाओ। वहाँ पताकाओं की भरमार से सारा विट्ठल मंदिर सजा है और पावनकारी भीमा नदी के किनारे पर जय-जयकार हो रहा है। पंढरपुर ऐसा स्थान है जहाँ नटखट से नटखट, पापी से पापी मनुष्य आवे तो वह भी शुद्ध होकर लौटता है, कारण, यहाँ विट्ठल-भक्ति की पवित्र दुंदुभि सदैव बजती रहती है।' सचमुच चोखामेला का जीवन विट्ठलमय बना था। जैसे नामदेव के प्रभाव से उसका पूरा कुटुम्ब भक्त और कवि बना था वैसे ही संत चोखामेला का परिवार संत और कवि बना। उसकी पत्नी सोयरा बाई, बहिन निर्मला बाई और पुत्र कर्ममेला भगवद्भक्त और कवि थे। पुत्र का एक भी अभंग प्राप्त नहीं परंतु पत्नी सोयराबाई का नीचे के आशय का अभंग उपलब्ध है। वह कहती है—'हे प्रभु! तेरे दर्शन कर मेरे हृदय की सब वासनाएँ नष्ट हो गयीं, भेदभाव मिट गया, और मेरा हृदय पूर्णतया शुद्ध हो गया। अब न छुआछूत का भाव रहा और न अहंकार रहा। सांसारिक शरीर के मोह के बंधनों की डोरी टूट गई और मैं जीवन्मुक्त हो गयी।' कितनी प्रौढता उक्त अभंग में भरी है। सोयराबाई कहती है कि वह जीवन्मुक्त हो गयी। कितनी आध्यात्मिक ऊँचाई तक वह पहुँची थी। क्या यह वारकरी सम्प्रदाय के यश की कसौटी नहीं है। एक अपढ़ धेड़िन जीवन्मुक्त दशा की अनुभूति वर्णन करती है। क्या यह मराठी के संत साहित्य का शिखर नहीं है? धन्य था संत चोखामेला और उसका कुटुंब! कहते हैं कि परकोटे के नीचे दबने से उनकी (सन् १३३८ में) मृत्यु हुई।

संत नामदेव ने उनके फूल पंढरपुर लाये और पांडुरङ्ग के मन्दिर के सिंहद्वार के समीप संत चोखामेला की समाधि बनायी जो अभी वहाँ मौजूद है। जो वारकरी पंढरपुर जाते हैं वे उपर्युक्त संत चोखामेला की समाधि का दर्शन किए बिना अपनी यात्रा (वारी) कृतार्थ नहीं मानते। हम इसमें वाराकरी सम्प्रदाय का अलौकिक यश देखते हैं।

जगामित्र नागा :—ये जन्म से लक्षाधीश ब्राह्मण थे परंतु दुर्दैव की मार से भिक्षाधीश बने। इनकी दृश्य और दुनियाई दौलत जाती रही पर भक्ति की सम्पद आप होकर इनके चरणों में गिरी। निर्धनता में संतुष्ट रहकर ये रात दिन भगवन्नाम स्मरण करते थे। ये बैजनाथ क्षेत्र के निवासी थे और उसी गाँव में हरिस्मरण करते हुए भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करते थे। समकालीन संतों के समान ये अद्वैतवादी सगुणोंपासक थे। इनके श्रीकृष्ण पर रचे हुए कई अभंग अति रसभीने और मधुर हैं। एक अभंग में बालकृष्ण की माखनचोरी का अति भावपूर्ण और सरल शब्दचित्र खींचा है। इनका हृदय बहुत प्रेमभरा और मृदु था। वे यथार्थ में जग के (सबके) मित्र थे। इन्होंने सन् १३३० में समाधि ली।

विसोवा खेचर :—ये पैठण के आसपास के निवासी थे। आगे चलकर ये औंढे नागनाथ नामक क्षेत्र में जाकर रहे। इन्होंने वाणिज्य में काफी धन प्राप्त किया था। ये योगाभ्यासी थे। संत ज्ञानेश्वर से इन्होंने गुरुदीक्षा ली थी। ये संत ज्ञानेश्वर की तीर्थयात्रा में सम्मिलित थे। इन्होंने योगबल से आकाश में उड़ने की सामर्थ्य प्राप्त की थी अतः इन्हें खेचर कहते थे। ये अद्वैतवादी भक्त थे। हम पीछे कह चुके हैं कि संत नामदेव को इन्होंने गुरुमंत्र दिया। इनके अभंग वैराग्य और भक्ति से ओतप्रोत हैं। इनका 'हरिश्चंद्राख्यान' भी उपलब्ध हुआ है। परंतु वह बहुत संक्षिप्त है। ये सन् १३०९ में समाधिस्थ हुए।

परिसा भागवत :—ये कट्टर भगवतानुयायी ब्राह्मण थे। इनके मूल नाम का पता नहीं चलता परंतु इनके सदा 'भागवत पढ़ो और सुनो' कहने से लोग इनको परिसाभागवत कहकर पुकारने लगे। इनकी संत नामदेव के प्रति गाढ़ी श्रद्धा थी। संत ज्ञानेश्वर की तीर्थयात्रा में ये सम्मिलित थे। इन्होंने कई भावपूर्ण अभंगों की रचना कर संत-काव्य समृद्ध किया।

[illegible] बाबा :—ये ज्ञानेश्वरी के लेखक के रूप में ही प्राचीन मराठी

साहित्य में अधिक प्रसिद्ध हुए। इन्होंने कुछ अभंगों की रचना भी की परंतु वे मामूली हैं।

राका कुम्हार :—गोरोबा कुम्हार के समय ये भी संत कवि अपनी कुम्हार जाति की शोभा एवं प्रतिष्ठा बढ़ा रहे थे। इनकी दो पत्नियाँ थीं। वे भी कवयित्री थीं। इनकी कुछ रचना उपलब्ध हुई है परंतु काव्य की दृष्टि से वह साधारण है।

जोगा परमानंद :—इनकी जाति का पता नहीं लगता परंतु ये ऊँचे संत और कवि थे। इनका नाम था जोगा और परमानंद थे इनके गुरु। ये जब मंदिर में देवदर्शन करने जाते थे तब मार्ग में नमस्कार करते थे और गीता के श्लोक कहते थे। इनका अधिक समय भगवद्भजन में बीतता था। इन्होंने कई सरस अभंग, पद और आरतियों की सफल रचना कर संत साहित्य में योग दिया है।

बंका धेड़ :—ये संत चोखामेला की पत्नी के भाई थे। इन्होंने भी अपनी भक्ति के बल से धेड़ जाति को ऊपर उठाया। इन्होंने कई भावपूर्ण अभंगों की रचना की जिसमें संत ज्ञानेश्वर के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा प्रगट की।

मराठी के साहित्यकारों ने उपरिनिर्दिष्ट संतों के समूह को 'संतमेला' कहा है। इस संत मेले में सभी जाति के स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे। वे बिना किसी भेदभाव को मन में रखते हुए अराध्यादेव विट्ठल का नामस्मरण एवम् कीर्तन करते थे और अपने भावों को अभंगों द्वारा व्यक्त करते थे। उन्होंने मराठी के अभंग काव्य का केवल श्रीगणेश ही नहीं किया प्रत्युत उसकी इतनी श्रीवृद्धि की कि उनके काल को अभंग साहित्य का 'स्वर्णयुग' कहा जाता है। उक्त संतमेले के संबद्ध मराठी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार कै० ल० रा० पांगारकर अपने 'मराठी साहित्य का इतिहास भाग पहले में लिखते हैं—'इस वैष्णवों के मेले में पुरुष हैं, महिलाएँ हैं, ब्राह्मण हैं, ब्राह्मणेतर हैं, अछूत हैं, तत्त्वज्ञानी हैं, योगी हैं और अपढ़ भावुक हैं। परंतु ये सब संत जाति कुलों के अहंकार से परे थे। उनके भावुक हृदयों में वर्ण और जातिविषयक संकीर्णता को स्थान नहीं मिल पाया था। भक्ति के सुख के सामने और परस्पर प्रेम के सामने वे सब कुछ तुच्छ मानते थे। संत ज्ञानेश्वर और उनके भाई बहिनों को छोड़कर सब संत प्रपंची, गृहस्थाश्रमी थे और उन्होंने अपनी गृहस्थी को परमार्थनिष्ठ बनाया था। उनका जीवन और प्रपंच

ब्रह्मनिष्ठ हो गया था। वे अपनी जातियों के अनुसार व्यवसाय करते हुए भक्ति में मग्न होकर फुटकर अभंगों की प्रसंगानुसार रचना करते थे। उनका परस्पर इतना प्रेम था कि एक संत दूसरे संत के अभंग कंठस्थ कर उसका जनता में गान करता था। वर्णसंकर या जातिसंकर न करते हुए एक ही भगवान् विट्ठल की सब संतान हैं ऐसा मानकर वे प्रेम से रहते थे और परस्पर आध्यात्मिक उन्नति में सहयोग देते थे। संत ज्ञानेश्वर ने जिस सगुण भक्ति का बीज बोया था उसको अंकुरित होते हुए उन्होंने देखा। आगे चलकर इस अङ्कुर को अन्य संतों ने खूब सींचा और वह पौधा होकर फूला और फला। उसमें अमृत जैसे मधुर फल लगे जिनका रसास्वाद यावच्चन्द्रदिवाकरौ मराठी भाषा-भाषिक करते रहेंगे।

दूसरा खण्ड

पहला अध्याय

दो शताब्दियों का साहित्य

(१३५०—१५५०)

सन् १३२५ में महाराष्ट्र के स्वातंत्र्य-सूर्य का अस्त हुआ। स्वराज्य के नष्ट होते ही स्वधर्म, संस्कृति और स्वभाषा पर विधर्मियों के आक्रमण होने लगे। अलाउद्दीन खिलजी के मलिकाफूर नामक बहादुर सरदार ने महाराष्ट्र में मुसलमानों का शासन स्थापित करके उर्दू-फारसी भाषा को राजभाषा बनायी। अब से तीन शताब्दियों तक मुसलमानों का निरंकुश शासन मराराष्ट्र में चल रहा था। उनमें दो सौ वर्ष का दीर्घकाल अत्यधिक कष्ट, अत्याचार, दैवी प्रकोप इत्यादि से व्याप्त रहा। इस भयानक संकट काल में महाराष्ट्र के निवासियों पर सुलतानी तथा आसमानी आफत्ताओं ने बारबार क्रूर आक्रमण किया। ऐसा भय उत्पन्न हो गया था कि समूचा महाराष्ट्र प्रदेश उजाड़ हो जावेगा। हमें तो लगता है कि केवल भगवत्कृपा के बल पर ही उक्त अति भयंकर सत्वपरीक्षा में महाराष्ट्र जीवित रह सका। पहले मानवी विपत्ति का स्वरूप जान लेना उचित है। जैसा कि उत्तर भारत में हुआ वैसा ही मुसलमानों के शासन का भयावह दुष्परिणाम महाराष्ट्र में हुआ। उन्होंने मंदिर ध्वस्त किए, हजारों ग्रंथ जला दिए, कीर्तन करना बंद कर दिया, मेले लगना मुश्किल कर दिया, सैकड़ों महिलाओं को बलात् भ्रष्ट किया और जिधर देखो उधर इस्लाम का बोलबाला शुरू हुआ। लोग भय से आक्रान्त होकर धर्मपरिवर्तन करने लगे। मुसलमानों की संख्या चंद वर्षों में दसगुनी बढ़ी। कई उच्चवर्णीय ब्राह्मण और क्षत्रिय प्रलोभन के शिकार बनकर मुसलमान बने और अपने पुराने हिंदू बंधुओं को बदला लेने की दृष्टि से खूब सताने लगे। मुसलमानों का शासन होने से सरकार-दरबार में कचहरी में फारसी भाषा चलने लगी। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि शासकों की भाषा, वेष और रहन-सहन का प्रभाव शासित लोगों पर अत्यधिक और अति

शीघ्र होता है। जीवित रक्षा और प्रतिष्ठा के लोभ से उच्चवर्णीय लोग शासकों की हर बात का स्वेच्छा से अनुकरण करते हैं। ऐसी दशा में फारसी-उर्दू भाषा का प्रभुत्व शीघ्र ही जहाँ तहाँ होने लगा। परतंत्रता का स्वाभाविक दुष्प्रभाव होता है कि पराधीन बने हुए लोगों को अपनी हर वस्तु हीन प्रतीत होती है किंतु शासकों की प्रत्येक वस्तु आदरणीय और अनुकरणीय प्रतीत होती है। अतः उपर्युक्त अत्याचारी शासनकाल में कई हिंदुओं ने फारसी अदब, रहन-सहन तथा फारसी भाषा के शब्दों का उपयोग करना शुरू किया जिससे मराठी भाषा की प्रकृति पर कठोर आघात होने लगे। उर्दू-फारसी के सरकारी भाषा होने से शासन के प्रत्येक विभाग में उसका प्रयोग होने लगा। मराठी के शब्द बलात् हटाये गये और उनके बदले फारसी शब्दों का प्रयोग करना अनिवार्य बन गया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राज-कारोबार की भाषा में तथा व्यवहार की भाषा में उर्दू-फारसी शब्द व मुहावरों की भरमार हुई। उच्चवर्णीय लोग शासनकर्ताओं की भाषा सीखने में रुचि लेकर गौरव प्राप्त करने की चेष्टा करने लगे। इसका दुष्परिणाम मराठी पर हुए बिना कैसे रह सकता था। अब मराठी भाषा की शुद्धता की रक्षा करने का भार बेचारे सन्तों पर, कीर्तनकारों पर, प्रवचनकारों पर, महिलाओं पर और राजधानी से तथा शहरों से दूर रहने वाले ग्रामीण लोगों पर पड़ा क्योंकि वे शासन के कार्य के संपर्क में बहुत कम आते थे। उनकी बोलचाल की भाषा पर फारसी-उर्दू का बहुत कम असर हुआ था, यों कहिये कि नहीं के बराबर हुआ था। उन्होंने अपना सांस्कृतिक और भाषाविषयक कर्तव्य पूरी तरह से निभाया और मराठी भाषा की केवल रक्षा ही नहीं की अपितु उसका जी-जान से संवर्धन भी किया। दो सौ वर्ष के मुसलमानी शासन के दीर्घकाल में तत्कालीन बोलचाल की और लेखन-व्यवहार की मराठी भाषा में लगभग साठ प्रतिशत उर्दू-फारसी शब्दों की भरमार थी। मराठी वाक्य की रचना फारसी के अनुसार होने लगी। संक्षेप में उपर्युक्त सुलतानी आफत से मराठी भाषा को जीवित रखने का दुष्कर कार्य सन्तों को और साधारण लोगों को करना पड़ा और वह कार्य उन्होंने बड़ी सफलता से किया। उन्होंने मराठी भाषा की जी जान से रक्षा करते हुए उसके साहित्य को कैसे पुष्ट किया यह जानने के पहले महाराष्ट्र पर दैवी आपत्ति ने जो प्रहार किया उसका भयानक स्वरूप और प्रभाव जान लेना आवश्यक है।

दुर्गादेवी का अकाल :—'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' अर्थात् एक विपत्ति अनेक विपत्तियों का कारण होती है। इस सुभाषित के अनुसार पंद्रहवीं शती के प्रारंभ में महाराष्ट्र का मध्य प्रदेश भयानक दुष्काल का शिकार बना। कहते हैं लगातार बारह वर्ष तक अवर्षण था। पहले ही से महाराष्ट्र के मध्य भाग में वर्षा का औसत प्रमाण कम है। वहाँ प्रतिवर्ष बीस इंच से पच्चीस इंच तक वर्षा होती है। प्रायः गर्मी के दिनों में नदियाँ सूख जाती हैं। भूमि ऊबड़-खाबड़ होने के कारण नहरों का प्रबंध करना मुश्किल है। अब वैज्ञानिक सुधार होने से वहाँ नलकूप बनाए गये हैं परंतु पाँच सौ वर्ष पूर्व वहाँ की जनता सर्वथा निसर्ग की कृपा पर ही जीवनयापन करती थी। ऐसी दशा में बारह वर्ष के अवर्षण ने कैसा भयानक अकाल पैदा किया होगा इसकी हम कल्पना भी अब नहीं कर सकते। वर्षा न होने से फसल बिलकुल नहीं हुई। लोग वृक्षों की पत्तियाँ भक्षण कर रहने लगे। सब नदियाँ सूख गई थीं। जहाँ मनुष्यों को खाने के लिए एक दाना नहीं था वहाँ जानवरों की क्या भयंकर दुर्दशा हुई होगी। मांसभक्षी लोगों ने अपने बैल, गाय इत्यादि काटकर खा डाले। पीने के लिए पानी न मिलने से हजारों की तायदाद में जानवर मरे। अंततोगत्वा वृक्षों की पत्तियाँ भी समाप्त हो गईं। जहाँ-तहाँ भोंड़े पेड़ दिखाई देने लगे। जनता अकाल से बिलकुल त्रस्त हो गई थी। सर्वत्र मृत्यु का तांडव नृत्य हो रहा था। ऐसी दुःस्थिति में मध्य महाराष्ट्र के निवासियों को मजबूर होकर अपना प्रदेश छोड़कर अन्य समीपवर्ती प्रदेशों में सहारा लेना पड़ा। लाखों की संख्या में लोग कर्नाटक, गुजरात, मालवा, विदर्भ, राजस्थान और तेलंगान में जा बसे। कई लोग हिंदीभाषी प्रदेशों में जाकर रहे। कहते हैं कि लगभग पचास-साठ वर्ष तक ये लोग अमराठीभाषी प्रदेशों में रहे और जब पुनः मध्य महाराष्ट्र पर निसर्ग की कृपा हुई, खूब वर्षा होने लगी, नदियाँ वेग से बहने लगीं, फसलें अच्छी तरह से उगने लगीं तब ये लोग मध्य महाराष्ट्र में पुनः आ बसे। अमराठी भाषी प्रदेशों में दीर्घ निवास होने से उन्होंने वहाँ की प्रादेशिक भाषा में कुछ न कुछ प्रगति अवश्यमेव की होगी। उनका अन्य भाषाओं से काफी परिचय हुआ होगा और उन्होंने उन भाषाओं के कई शब्द अपनाये होंगे, कई मुहावरे स्वीकार किये होंगे। संक्षेप में उनकी मराठी भाषा पर उन भाषाओं का कुछ न कुछ असर हुआ ही होगा और होना स्वाभाविक भी था। इसका बड़ा अच्छा परिणाम यह हुआ कि मराठी

भाषा में सैकड़ों कन्नड़, तेलगू, व्रज, हिंदी, गुजराती शब्दों की भरमार हुई। मराठी-भाषाभाषी अनेक भाषाओं के ज्ञाता बने। वे अनेक भाषाओं में अपने विचार और मंतव्य प्रगट करने में समर्थ हुए। उन्होंने अन्य भाषाओं के साहित्य से लाभ उठाया और उसकी सहायता से अपना साहित्य अधिक समृद्ध किया। संक्षेप में उपर्युक्त आसमानी आफत का मराठी भाषा पर बहुत कुछ इष्ट प्रभाव पड़ा। हानि बहुत थोड़ी हुई, क्योंकि जो लोक अमराठी-भाषी प्रदेशों में जाकर बसे थे उनकी मातृभाषा थोड़ी अपभ्रष्ट हुई। उसकी मूल शुद्धता थोड़ी जाती रही। ऐसी सुलतानी और आसमानी आफतों में भी मराठी की बेल फूलती और फलती रही। भला ऐसे निर्घृण और संहारक काल में कौन ऐसा निर्बुद्धि है कि जो जगच्चालक परमात्मा की प्रार्थना कर उसके आश्रय का सहारा न लेना चाहेगा? अतः ऐसी विषम परिस्थिति में परमार्थनिष्ठ एवम् भक्तिपूर्ण रचना की सृष्टि होना स्वाभाविक है। आइए, उक्त काल की साहित्यिक रचनाओं की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कीजिये।

महानुभावों की साहित्य-साधना :—महाराष्ट्र पर मुसलमानों का आक्रमण होने के पश्चात् कुछ ही वर्ष में अपने धार्मिक ग्रन्थों की रक्षा करने के हेतु उक्त पंथ के तीसरे आचार्य कवीश्वर भास्कर भट्ट बोरीकर ने कोंकण प्रदेश में निवास किया। उनके पलायन काल में ग्रन्थों की मूल पाण्डुलिपियाँ खो गईं। अतः उन्होंने कंठस्थ पाठों से उनकी प्रतिलिपियाँ बनाईं। इन प्रतिलिपियों में पाठभेद होना सर्वथा स्वाभाविक ही था। उनके पश्चात् परशराम जी पंथ के चतुर्थ आचार्य बने। आंतरिक मतभेद से उक्त पंथ तेरह दलों (आम्नायों) में विभाजित हुआ। प्रत्येक दल अपनी विशेषता की रक्षा एवम् प्रदर्शनी करने में व्यस्त रहा। संकीर्णता बढ़ती चली। विशिष्ट आचारधर्म पर अत्यधिक जोर देने से असहिष्णुता का खूब प्रचार हुआ। जैसे-जैसे असहिष्णुता बढ़ती गई वैसे-वैसे महानुभाव पंथ अप्रिय बनता गया। अन्ततोगत्वा महानुभाव पंथ इतना अप्रिय और संकीर्ण बन गया कि उसको अपने ग्रन्थों की रक्षा करने के लिए नई और स्वतंत्र लिपियों का आविष्कार करना पड़ा। सन् १३५३ से सन् १४०३ तक उक्त पंथ के अनुयायियों ने लगभग पचीस लिपियों में अपने ग्रन्थों का प्रणयन करना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपने पंथ के धार्मिक ग्रन्थों का संशोधन, संकलन, संपादन और विवरण बहुत अच्छी तरह से किया। परंतु कवीश्वर भास्कर भट्ट बोरीकर और

कवि नरेन्द्र तथा पंडित दामोदर की 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' पंथ से जाती रही। गुर्जर शिव व्यास ने पंथ के लक्षण, आचार और विचार पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखा और मुनि व्यास ने स्थान पोथी नामक ग्रंथ लिखा। उक्त ग्रंथ में महात्मा चक्रधर ने जिन तीर्थों पर लीलाएँ की थीं उनका सरस वर्णन है। उक्त ग्रंथ गद्यमय थे। परन्तु नवरस नारायण ने श्लोकबद्ध तीर्थमालिका रची। ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से ये ग्रंथ महत्व रखते हैं। पंडित भीष्माचार्य नामक विख्यात भाष्यकार हुए। उन्होंने संस्कृत और मराठी में लगभग बत्तीस टीका ग्रन्थों की रचना की। इनकी विशेषता और श्रेष्ठता इसमें दिखाई देती है कि उन्होंने नामविभक्ति और पंचवार्तिक नामक दो व्याकरणविषयक ग्रन्थ उस विषम काल में लिखे। वे मराठी के प्रथम व्याकरणकार थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने छंदःशास्त्रविषयक मार्गप्रभाकर नामक ओवीबद्ध ग्रन्थ की रचना की। आपने संस्कृत के 'गीतगोविंद' पर 'महाराष्ट्र सुबोधिनी' नामक सरस टीका भी रची। आपके संस्कृत ग्रन्थ भी विद्वत्ता से ओतप्रोत हैं। इससे पं० भीष्माचार्य की बहुमुखी प्रतिभा की तथा प्रकांड विद्वत्ता की कुछ कल्पना हम कर सकते हैं। निःसंदेह पं० भीष्माचार्य ही इस काल के सिरमौर महानुभाव ग्रंथकार हैं। अपवाद के लिए नृसिंह कवि ने रुक्मिणी-स्वयंवर नामक प्रबंधकाव्य का प्रणयन किया, अन्यथा महानुभावों का सब साहित्य रूक्ष तथा भाष्य स्वरूप का है। भिन्न लिपियों में लिखने पर भी उन्होंने मराठी के गद्य साहित्य की समृद्धि की यह बात माननी होगी।

सत्यामल नाथ (सन् १२७८-१३५८):—संत ज्ञानेश्वर की नाथ परंपरा उनके नाथपंथीय शिष्य सत्यामल नाथ चला रहे थे। आपने सिद्धान्तरहस्य या ललित प्रबंध नामक बारह हजार ओवियों का काव्यग्रन्थ लिखा' इसमें गुरु (संत ज्ञानेश्वर) का सरस जीवनचरित्र मिलता है। इसमें अध्यात्म, योग और भक्ति का विवेचन है। विषय विवेचन में सरलता के साथ प्रौढ़ता है। शैली आकर्षक है। जहाँ-तहाँ लालित्य का भी दर्शन होता है। ऐसा लगता है कि रचयिता ने गुरु का सफल अनुकरण करने की चेष्टा की है।

बहिरापिसा की सरस भागवत टीका:—'न हिन्दुर्न यवनः' ऐसी स्थिति में रहने वाले बहिरापिसा नामक कवि ने संकटहरणी, शिवग्रन्थ, संतमालिका, अभंग और पदों के अतिरिक्त 'भैरवी' नामक भागवत टीका रची।

यह 'भागवत' के दशम स्कंध पर पहली मराठी टीका है। कहते हैं कि उसकी ७५००० ओविएँ थीं परंतु केवल १६२८४ ओविएँ अब उपलब्ध हैं। इसके ६० प्रकरण हैं। महानुभावों की श्रीकृष्णचरित्रविषयक रचनाओं को छोड़कर यह पहली विशाल और रसभीनी मराठी भागवत टीका है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह लोकप्रिय श्रीकृष्णचरित्रपरक ग्रन्थ है। इसके पठन और श्रवण से साधारण जनों को श्रीकृष्णचरित्र की रुचि लगी और भविष्य में कई सरस कृष्ण-जीवनियाँ रची गयीं। बहिरापिसा जातवेद भी कहलाते थे क्योंकि वे वेदों के अच्छे जानकार थे। उनके जीवन में संत तुलसीदास जी के समान गृहत्याग से संबंधित चमत्कार पाये जाते हैं।

कवि चोंभा (१३७८):—कविवर चोंभा की 'उषाहरण' रचना अत्यंत सुंदर, सरस और अपनापन लिये हुई है। उपलब्ध काव्य में कुल ५७५ ओवियें हैं परंतु मराठी के संशोधक एवं लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार कै० ल० रा० पांगारकर और राजवाड़े इनके मतों के अनुसार उक्त काव्य की २५०० ओवियें होनी चाहिये। उषाहरण का संशोधन एवं संपादन करके कै० राजवाड़े ने उसे सन् १९०७ में प्रकाशित किया। कवि चोंभा ने तद्भव मराठी शब्दों का ही प्रयोग उक्त काव्य में किया। अनिवार्यता में कहीं कहीं तत्सम शब्दों से भी काम लिया। कवि चोंभा की यह विशेषता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि चोंभा पर ज्ञानेश्वरी का बहुत प्रभाव था। आपने 'यमक' शब्दालंकार का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया। उषाहरण का मूल कथानक पौराणिक होते हुये भी कवि चोंभा ने अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल पर उसे पूर्णतया मौलिक बनाकर एक कलापूर्ण काव्य की सृष्टि की। कविवर युद्धवर्णन में सिद्धहस्त थे। अतः यह काव्य वीररस से ओतप्रोत है। कहीं कहीं वर्णन की सरसता, मधुरता और प्रभावोत्पादकता वर्णन के परे है, वह केवल पठनीय और आस्वाद्य है। रंगनाथ स्वामी निगडीकर और शेख महम्मद कवियों ने अपनी 'संतमालिका' में चोंभा की खूब प्रशंसा की है।

कान्हू पाठक और नामा पाठक:—संत ज्ञानेश्वर के प्रिय और कृपापात्र व्यक्तियों में संत कान्हू पाठक थे। उनके कुछ अभंग और गीतासार नामक संक्षिप्त प्रकरण उपलब्ध हैं। इनके वंशज नामा पाठक रससिद्ध कवि थे। इनके कई सरस अभंग और नामरत्नमाला, भरतभेंट, अश्वमेध इत्यादि छोटे-बड़े काव्यग्रंथ उपलब्ध हैं। उनमें अश्वमेध सबसे श्रेष्ठ और प्रदीर्घ काव्य है। इसमें प्रभु रामचंद्र

तथा पांडवों के अश्वमेध का पूरा और हृद्य वर्णन है। इसकी रचना अति सरल होते हुए सरस है। आगे चलकर कवि श्रीधर के अति सरस और प्रासादिक 'अश्वमेध' काव्य ग्रंथ की रचना करने के कारण उक्त ग्रंथ उपेक्षित हुआ। नामा पाठक ने उक्त ग्रंथ में लिखा कि 'यह व्यासोच्छिष्ट अमृत है और इसके सेवन से संकटों से मुक्ति मिलती है।' मराठी के युगप्रवर्तक कवि संत एकनाथ जी ने सन्निकट भविष्य में नामा पाठक का उल्लेख 'संतमाला' में बड़े आदर से किया। इस वंश में निर्मल पाठक तीसरे प्रसिद्ध कवि थे। इनका 'ओविबद्ध पंचतंत्र' ग्रंथ उपलब्ध है। इससे स्पष्ट होता है कि इन्होंने एक पुराने गद्यात्मक पंचतंत्र का काव्यबद्ध अनुवाद किया।

कवयित्री कान्होपात्रा:—बीदर राज्य में मंगलवेढा नामक नगर की यह वेश्यापुत्री थी। कान्होपात्रा ने अपनी श्यामा माता के भ्रष्ट जीवन का भयानक चित्र अपनी आँखों देखा था जिसका परिणाम हुआ कि वेश्या के पतित जीवन के प्रति उसे तीव्र घृणा हो गई थी। अतः उसने उक्त पापी जीवन का त्याग करके शुद्धतापूर्वक भक्तियुक्त जीवन व्यतीत करने का दृढ़ निश्चय किया। वास्तव में कान्होपात्रा अपनी माता से बहुत अधिक सुन्दर तथा गायन एवं नृत्यकला में निपुण थी। यदि वह भोग का जीवन चाहती तो ऐश-आराम के सागर में डूब कर रह सकती थी। परंतु उसके हृदय में भक्ति का आलोक फैल चुका था। उसकी माता ने उसकी वृत्ति ध्यान में लेकर उसका विवाह अनुरूप पति से कर देना चाहा। परंतु कुमारी कान्होपात्रा ने कहा कि जब तक मुझसे अधिक सुन्दर, सुशील और गुणवान् पति न मिलेगा तब तक मैं विवाह करने की बात नहीं सोचूँगी। उसकी माता ने योग्य वर ढूँढने में कुछ न उठा रखा परंतु सब व्यर्थ। कान्होपात्रा के मन की हुई। अन्ततोगत्वा भक्तहृदया कान्होपात्रा पंढरपुर चली गई और वहाँ विट्ठल के भजन में मग्न रहने लगी। उसकी वृत्ति भक्तिन मीराबाई जैसी बन गई। उसने सरस और मधुर अभंगों की रचना करके अपने कोयल सदृश गायन के बल पर भगवान् विट्ठल को प्रसन्न करने की जी-जान से चेष्टा की। वह भगवान् के संमुख गायन तथा नृत्य में सदा मग्न रहती थी। कहते हैं कि उसके मधुर गायन तथा कुशल नृत्य की प्रशंसा सुनकर बीदर के बादशाह उसके प्रति आकर्षित होकर उसकी प्राप्ति के लिये अतिउत्सुक हो गए। उस काल में मुसलमान बादशाह के लिये क्या दिक्कत हो सकती थी? उसने तुरंत कुछ सिपाही कान्होपात्रा को

लाने के लिये पंढरपुर भेजे। उसके अस्वीकार करने पर सिपाहियों ने उसे बलात् ले जाने की इच्छा प्रगट की। कान्होपात्रा ने भगवान् विट्ठल की आर्तहृदय से प्रार्थना की-'हे भगवान् मेरा अन्त न देखिये। आज मेरे प्राण पूरी तरह से आपत्ति-ग्रस्त हैं। हे देव, आज मेरी अवस्था शेर के पंजे में फँसे हिरण के बच्चे के समान है। तेरे सिवाय मेरे लिये त्रिभुवन में कोई दूसरा आश्रय स्थान नहीं है, तू तुरंत दौड़कर मेरी रक्षा कर। मैं सारी आशा छोड़कर उदास बनी हूँ और तेरे ही चरणों में शरण आई हूँ। हे विट्ठाबाई माता ! तू अपने हृदय में मुझे स्थान दे।' तत्काल चमत्कार हुआ कि भक्तिन कान्होपात्रा के प्राणपखेरू उड़ गये और वह भक्त के रूप में अमर हो गई। संतिन कान्होपात्रा ने कई भक्तिरसपूर्ण अभंगों की सफल रचना कर संत-साहित्य समृद्ध किया।

भक्त दामाजी पंत:—हमने दुर्गादेवी के भयानक एवं दीर्घ अकाल का पहले ही उल्लेख कर दिया है। उक्त अकाल के समय में दामाजी पंत मंगलवेढा में थानेदार थे। उनसे गरीबों का हजारों की तादाद में भूखों मरना न देखा गया। उनका कोमल हृदय उमड़ आया और उन्होंने अपने अधिकार में बड़े बड़े कोठार लुटवा दिये और गरीबों को भूख से मरने से बचाने की जहाँ तक बन सकी वहाँ तक कोशिश की। उन्होंने लोगों का इतना उपकार किया कि शोलापुर के गजेटियर में उक्त अकाल का नाम 'दामाजी पंत का दुष्काल' लिखा मिलता है। उनका उपर्युक्त उपकार सुनकर बीदर के बादशाह उन पर बहुत क्रुद्ध हुए और उनको कैद कराकर बीदर लाया गया। बादशाह ने लुटवाए हुए अनाज के कोठारों का मूल्य देने का आदेश दिया अन्यथा नियत मियाद के बाद उनको फाँसी पर चढ़ा देने की धमकी दी। बेचारे दामाजी पंत क्या कर सकते थे ? वे कारागार में आर्तहृदय से भगवान् विट्ठल की प्रार्थना करने लगे। भगवान् अपने भक्त की उपेक्षा कैसे कर सकते ? भगवान् ने चमत्कार करके दामा जी को बचाया। कहते हैं कि दामा जी पंत के पास बिठया नामक धेड नौकर था। यह बिठया और कोई नहीं परंतु उनका उपास्य देव विट्ठल ही था जो अपने परम भक्त की रक्षा करने के हेतु धेड के रूप में उनके साथ सदा रहता था। उक्त बिठया ने लुटे हुए अनाज के कोठारों का मूल्य राज-दरबार में नियत अवधि में देकर रसीदें प्राप्त कर भक्त दामाजी को फाँसी से बचा लिया। लगभग अस्सी वर्ष के पश्चात् संत एकनाथ ने उक्त घटना का एवम् वर्णन किया है—'विट्ठल प्रभु ने

दामाजी के हृदय में भक्ति का भाव देखकर स्वयं बिठया धेड का रूप धारण किया था। वह द्रव्य लेकर निकला और बादशाह के पास जाकर जोहार किया। भक्त-रक्षक विट्ठल ने बादशाह को लुटे हुए अनाज का मूल्य देकर रसीद ली और वह अपने भक्त की रक्षा करने के हेतु उसके पीछे-पीछे दौड़ता रहा।' कहते हैं कि भक्त दामाजी तथा उच्च राज्याधिकारी इस चमत्कार या रहस्य से पूरे अनभिज्ञ थे। चाहे जो कुछ हुआ हो, इतना सत्य था कि भक्त दामा जी कैदखाने से मुक्त हो गये थे। इस घटना के बाद सरकारी नौकरी छोड़कर भक्त दामाजी पंढरपुर में रहने लगे। वहाँ आपने कई सरस एवम् भक्तिपूर्ण अभंगों की रचना की। उन्होंने उक्त चमत्कारपूर्ण घटना का उल्लेख कई अभंगों में किया और उपास्य भगवान विट्ठल के प्रति प्रगाढ़ कृतज्ञता प्रदर्शित की। आगे चलकर महासंत कवि तुकाराम ने और 'भक्तिविजय' के लेखक संत महीपति ने भक्त दामाजी का जीवन वर्णन करते समय उपर्युक्त रहस्यपूर्ण घटना का बड़े आदर से उल्लेख किया। भक्त दामाजी की अभंग रचना थोड़ी है परन्तु सरस है।

संत भानुदास :—ये भक्त दामाजी के समकालीन थे। इनका जन्म विट्ठल-भक्त परिवार में होने के कारण बाल्यावस्था से ही इनकी स्वाभाविक वृत्ति विट्ठल-भक्ति की थी। जब वे पाठशाला में पढ़ते थे तब एक दिन एकाएक पाठशाला से भाग निकले और देहात के बाहर वे एक मंदिर के तलघर में सूर्य की उपासना में मग्न होकर रहने लगे। बहुत कष्ट के पश्चात् माता-पिता ने इन्हें ढूँढ़कर पाया। इनका मूल एवम् वास्तविक नाम कुछ और था परंतु सूर्य के उपासक होने के कारण लोग इन्हें भानुदास कहने लगे और वे इसी नाम से प्रसिद्ध हुए। पिता जी के बहुत आग्रह करने पर ये विवाहित हुए। जीवनयापन करने की दृष्टि से इन्होंने कपड़े की दुकान खोली थी परंतु भक्ति में रत हुआ उनका मन व्यवहार में रुचि न ले सका और वह दुकान चंद दिनों में ही घाटे में उतर गई। भक्त भानुदास दरिद्रता में रहने के लिए मजबूर हुए किन्तु उनकी भक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती ही गई। कुछ समय के पश्चात् उनका भाग्य चमक उठा और उनकी दूकान अच्छी तरह चलने लगी। फलतः वे धनी और सुखी बने। उन दिनों विजयानगर के राजा कृष्णदेव राय विट्ठल-भक्ति से अति प्रभावित होकर पंढरपुर की विट्ठल-मूर्ति विजयानगर ले आए थे। संत भानुदास वारकरी होने के कारण पंढरपुर की यात्रा नियमित रीति से करते थे। जब उन्हें

उक्त वार्ता मालूम हुई तब वे स्वयम् विजयानगर गए और अत्यन्त व्याकुल हृदय से उन्होंने भगवान विट्ठल की निम्नलिखित प्रार्थना की—'हे भक्तवत्सल विट्ठल ! तेरा सारा भक्त-समुदाय अत्यंत विह्वल है। किसी के मुँह से शब्द भी नहीं निकल पाते। क्या कष्टदायक चमत्कार है कि माता रुक्मिणी उदास हो गई है और भक्त पुंडलिक भी मौन है। हे भगवन् विट्ठल ! आपने पंढरपुर में ही निवास करने का वचन दिया था अतः अपने पुराने वचन का स्मरण कर मेरे साथ पंढरपुर चलने की कृपा कीजिये।' यह आर्ततायुक्त प्रार्थना सुनकर विट्ठल उनके साथ पंढरपुर चलने के लिये राजी हो गये। बीच में कुछ अद्भुत चमत्कार हुआ और राजा कृष्णदेव राय ने संत भानुदास की खरी योग्यता पहचान कर उनसे क्षमा प्रार्थना की और बड़े सम्मान और प्रेम के साथ विट्ठल की मूर्ति पंढरपुर भिजवा दी। एवं भगवान् की मूर्ति साथ लेकर संत भानुदास पंढरपुर लौटे। महाभक्त होने के साथ ही उन्होंने महाराष्ट्र का यह महत्तम उपकार किया कि भगवान् विट्ठल की पंढरपुर में पुनः स्थापना करके वारकरी सम्प्रदाय के आराध्य देवता का स्थान महाराष्ट्र में ही बना रखा। अब वे अपने व्यवसाय से सदा के लिए निवृत्त हुए और रात-दिन ईश्वर के भजन में मग्न रहने लगे। भक्ति की तन्मयता में उनके मुख से अनायास अनेक अभंग निकले। एक भक्तिपूर्ण अभंग में वे कहते हैं—'बैठकर रामनाम लो। राम का ध्यान करो। उसी में मन को दृढ़ करो। एकविध भाव में मग्न होकर रहने की अपेक्षा अधिक अच्छा कोई साधन नहीं है। परद्रव्य और परदारा को अछूत मानो। इससे अधिक पवित्र कोई तप नहीं है। भानुदास नम्रता से कहता है कि इस कलियुग में रामनाम की पताका फहरा दो।' आप पंढरपुर के विट्ठल की प्रशंसा करते हैं-'जो अनादि परब्रह्म निजधाम है वही यह ईंट पर खड़ी हुई मूर्ति मेघश्याम है। जिसे श्रुति नेति-नेति कहती हैं वही परब्रह्म मूर्ति इस ईंट पर स्थित है। ज्ञानियों का जो ज्ञान है, मुनिजनों का जो ध्यान है, वही ईंट पर खड़ा परब्रह्म विद्यमान है। पुंडलीक के तप से यह अलौकिक वस्तु मिली है। भानुदास की यही याचना है कि हे भगवन् ! यही वर दो कि मैं तेरी सेवा करूँ।' संत भानुदास के कई भक्तिरसभीने अभंग हैं। नाम-संकीर्तन का प्रेम और परमात्मा-प्राप्ति का आनंद उनके अभंगों में ओतप्रोत है। एकादशी का व्रत और पंढरपुर की यात्रा (वारी) का नियम उन्होंने बड़ी निष्ठा से आमरण

निभाया। ईंट पर खड़े हुये विट्ठल के दर्शन में उन्हें बड़ा आनंद प्राप्त होता था और इस सगुण भक्ति के आनंद का उन्होंने कई रसपूर्ण अभंगों में सरस वर्णन किया। वे सदा सबको उपदेश देते थे कि विट्ठल के सगुण रूप पर काया, वाक् और मन अर्पित करो। उन्होंने भगवान से बार बार प्रार्थना की कि जन्म-जन्मान्तर में मैं सदा भगवन्नाम लेता रहूं और मुझे सदा संतों का समागम प्राप्त हो ऐसा वरदान दीजिये। संत भानुदास की भक्ति का निरंतर विकास होता गया। अंततोगत्वा पैठण में एक रात्रि में हाथ में वीणा लिये हुए संत भानुदास भजन करते समय भगवान् के ध्यान में तन्मय हो गये। उनकी ऐसी सायुज्य समाधि लगी कि वे पुनः उठ नहीं सके। मराठी के युगप्रवर्तक कवि संत एकनाथ इनके पडपोता थे। संत भानुदास के पावन कुल में उनका जन्म हुआ इसे संत एकनाथ अपना महद्भाग्य कहते थे। एकनाथ अपने रुक्मिणी-स्वयंवर प्रबंधकाव्य में लिखते हैं—'भानुदास के पवित्र वंश में मेराजन्म हुआ जिससे मुझे हरिभक्ति प्राप्त हुई। मेरे पूर्वज और समधी सब संत थे और मेरा कुल श्रीकृष्ण को अर्पित रहा।'

संत भानुदास की हिंदी रचना:—संत भानुदास श्रीकृष्णचन्द्र के अनन्य भक्त थे। पंढरपुर के विट्ठल श्रीकृष्ण का ही तो अवतार या दूसरा नाम है। उनके दो हिंदी पद उपलब्ध हैं। दोनों ही श्रीकृष्णपरक हैं। पहले पद में माता यशोदा बालक कृष्ण को प्रभाती गाकर जगा रही हैं—

उठो तात मात भये प्रात रजनी सो तीमीर गई।
मीलत बाल सकल गुवाल सुंदर कन्हाई ॥ १ ॥

जागो गोपाललाल जागो गोविन्दलाल जननी बलि जाई ॥२॥

संगी सब फिरत विमन तुम बिन नहीं छुटत दयन।
त्यजो शयन कमलनयन सुंदर सुखदाई ॥ ३ ॥

मुखते पट दूर कीजौ जननी कु दर्ष दीजो।
दधी खीर मांग लीजो खीर खांड मिठाई ॥ ४ ॥

जपत जपत शाम राम सुंदर मुख सदा राम।
थाटी की छुट कछु भानुदास पायी ॥

(२)

जमुना के तट धेनु चरावत राखत है गैयां मोहन मेरो सैयां।
मोरपत्र सिर छत्र सुहाये, गोपी धरत बहियां।
भानुदास प्रभु भगत को वत्सल, करत छत्र छइयां ॥

उपर्युक्त पदों में कितना प्रवाह है। ऐसा लगता है कि संत भानुदास ने मथुरा वृन्दावन की यात्रा की होगी और वे वहाँ कई दिनों तक रहे होंगे। अन्यथा व्रजभाषा में उनकी इतनी अच्छी प्रगति होना असंभव था।

श्री दत्त संप्रदाय और उसका साहित्य:—श्री पाद श्रीवल्लभ दत्त संप्रदाय के संस्थापक थे। किंवदन्ती के अनुसार इनको श्री दत्त का अवतार माना गया है। इनकी जन्म तथा समाधितिथि का निश्चित पता नहीं लगता परंतु यह ऐतिहासिक तथ्य है कि ये सन् १३५० से १४०० तक जीवित थे। पीठापुर नामक देहात में आपाल राजा की सुमता नामक पत्नी की कोख से इनका जन्म हुआ। कहते हैं कि श्री दत्त की कृपा का वह फल था। सात वर्ष की अवस्था में इनका जनेऊ हुआ। तत्पश्चात् इनको सिद्धि की प्राप्ति हुई। सिद्धि के बल पर इन्होंने अपने दो मूढ़ एवम् लंगड़े बंधुओं को विद्वान् तथा चलने में समर्थ बनाया। ये माता की अनुज्ञा से हिमालय में तपाचरण के लिए गये। वहाँ कठोर तपश्चर्या करके ये कुखपुर में पधारे। यहाँ इन्होंने कई चमत्कार करके लोगों को मुग्ध किया। इन्होंने एक धोबी को वरदान दिया कि अगले जन्म में वह मुसलमान बादशाह के कुल में पैदा होगा और वे स्वयम् पुनः नृसिंह सरस्वती का नाम धारण करके अवतार लेंगे और उसे दर्शन देंगे। इसके पश्चात् चंद दिनों में श्री पाद वल्लभ अदृश्य हो गए। अपने आश्वासन के अनुसार इन्होंने सन् १४०८ में पुनः अवतार धारण किया।

श्री नृसिंह सरस्वती (१४०८-१४५८):—अब श्रीपाद श्रीवल्लभ श्री नृसिंह सरस्वती बने। यह दत्त संप्रदाय की दूसरी ऐतिहासिक विभूति है। इनका जन्म विदर्भ प्रदेश के कारंजा नामक नगर में एक पवित्र एवम् धर्मनिष्ठ ब्राह्मण कुल में हुआ। इनके पिता का नाम माधव और माता का नाम भवानी था। सात वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। ये तब तक ओम् के सिवा दूसरा उच्चारण नहीं कर सकते थे। परंतु

जनेऊ का संस्कार समाप्त होते ही, किंवदन्ती है कि इन्होंने चारों वेद कह सुनाये और लोग इनको श्रीदत्त का अवतार मानने लगे। तुरन्त उन्होंने तीर्थयात्रा तथा भिक्षाटन के लिये प्रस्थान करने की इच्छा प्रगट की परन्तु माता के आग्रह से तीन-चार वर्ष तक घर में वेदाध्ययन करते रहे। तत्पश्चात् ये वाराणसी में पधारे। यहां श्रीकृष्ण सरस्वती नामक वृद्ध संन्यासी से गुरु दीक्षा लेकर ये संन्यासी बने। यहां से वे बदरीनाथ केदार की ओर गये। हिमालय में कई वर्षों तक तपाचरण कर वे महाराष्ट्र लौटे। अब वे अद्भुत चमत्कार करके भक्तों की पीड़ा दूर करने लगे। कहीं दरिद्र ब्राह्मण की निर्धनता दूर करना, कहीं मृत पुरुष को जीवित करना, एक ही स्थान में सब तीर्थों के दर्शन कराना, असाध्य रोगों से रोगियों को मुक्त करना इत्यादि अलौकिक घटनाएँ वे अपनी सिद्धि के बल पर घटित कर दिखाते थे। इन्होंने ब्रह्मेश्वर गांव में सायंदेव नामक ब्राह्मण को पेट की तीव्रतम वेदना से तुरन्त बचाया। भविष्य में सायंदेव के वंशज ने ही दत्त सम्प्रदाय के पूजनीय 'श्रीगुरुचरित ग्रंथ' की रचना की। जनता की पीड़ा दूर करते समय वे गृहस्थों को शुद्ध आचार धर्म का उपदेश करते थे। ये बारह वर्ष तक नरसोबा की वाड़ी नामक देहात में रहे। इनके दर्शन के लिये प्रतिदिन सैकड़ों भक्त आते थे। अतः नरसोबा की वाडी क्षेत्र बन गई। इस स्थान के पांच नदियों के संगम पर होने से इसकी श्रेष्ठता और भी बढ़ी। ये वर्णाश्रम धर्म के कट्टर समर्थक थे अतः इनके क्षेत्रों में वर्ण व जाति भेद के अनुसार बर्ताव करना अनिवार्य था और है। बाद में ये गाणगापुर में रहने लगे। यहां भी अपनी सिद्धि की सामर्थ्य उन्होंने प्रकट की। चंद दिनों में यह भी क्षेत्र बना। सैकड़ों रोगी रोगमुक्ति के लिए इनके दर्शन के लिए आते थे। जो भक्त जिस कामना से आता था, प्रसन्न होकर लौटता था। बीदर के बादशाह अलाउद्दीन पांव में विषाक्त फोड़ा होने से मरणोन्मुख थे। वे गाणगापुर में श्री नृसिंह सरस्वती के दर्शन के लिए लाये गए और चंद दिनों में ही स्वस्थ होकर लौटे। यहां भी वर्णाश्रमधर्मानुसार आचार-शुद्धि पर अत्यधिक जोर था। परन्तु नृसिंह सरस्वती की सिद्धि से लाभ उठाने के सकाम हेतु के कारण दर्शक उपर्युक्त आचार के अनुसार पूर्णतया बर्ताव करते थे। श्री नरसिंह सरस्वती ने स्वयम् संन्यासाश्रम का उत्कट आदर्श उपस्थित कर अपने गृहस्थाश्रमी शिष्यों को आदर्श अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थ बनने का उपदेश दिया। इन्होंने सन् १४५७ में समाधि ली। संक्षेप में नरसिंह सरस्वती ने वर्णाश्रम के अनुसार

शुद्धाचरण करने पर अत्यधिक जोर देकर तत्कालीन ब्राह्मण समाज में धर्मसंबंधी जो शिथिलता व उदासीनता प्रसृत हो गई थी उसे दूर करने का सक्रिय उपदेश दिया। इनके प्रमुख सात संन्यासी शिष्य थे–बाल सरस्वती, कृष्ण सरस्वती, उपेन्द्र सरस्वती, माधव सरस्वती, सदानंद सरस्वती, ज्ञानज्योति और सिद्ध। वैसे ही प्रमुख गृहस्थाश्रमी शिष्य थे—सायंदेव, नंदीकवीश्वर, नागनाथ, नरहरी इत्यादि। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्णाश्रम की शुद्धता पर अत्यधिक जोर देने से वे सब ब्राह्मणों के सिवा अन्य हो ही नहीं सकते थे।

दत्त सम्प्रदाय का कार्यः—नृसिंहजी के पश्चात् इन शिष्यों ने उनका पंथ चलाया। उन्होंने जो पवित्र स्थान बनवाए थे उनकी शुद्धता की निर्धारित रीति से रक्षा की। दत्त सम्प्रदाय का प्रचार अधिकतर उच्च वर्णों में हुआ और अभी है। यह मानना होगा कि ब्राह्मण की रक्षा करने में दत्त सम्प्रदाय कुछ सफल हुआ। मुसलमानों के शासन में अपना अध्ययन-अध्यापन का धर्मविहित कर्तव्य छोड़कर ब्राह्मण विधर्मियों की सेवा करने में मग्न हुये थे अतः उनको जगाने की दत्त सम्प्रदाय ने चेष्टा की परंतु इसमें उसको अपेक्षित यश नहीं मिला क्योंकि दत्त सम्प्रदाय के श्रेष्ठ कवि और संत जनार्दन स्वामी स्वयम् दौलताबाद के किलेदार थे। हाँ, यह मानना होगा कि उन्होंने अपनी आध्यात्मिक योग्यता के बल पर मुसलमानों में भी हिंदू के श्री दत्तदेव के प्रति आदर और निष्ठा निर्मित की थी। कहते हैं कि संत एकनाथ महाराज को श्रीदत्त का प्रथम दर्शन मुसलमानों के फकीर के रूप में हुआ था। दत्त संप्रदाय के उपर्युक्त सब तीर्थ मुसलमानों के राज्य में थे और यह भी स्वीकार करना होगा कि उनकी पवित्रता और मर्यादा पर मुसलमानों की ओर से आक्रमण नहीं हुआ था। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त संप्रदाय कुछ अंश में हिंदू और मुसलमानों में धार्मिक सहिष्णुता प्रस्थापित करने में समर्थ रहा। परन्तु वारकरी संप्रदाय ने जो किया था उसके विरुद्ध इसका कार्य रहा। कहाँ वारकरी संप्रदाय की धार्मिक उदारता और सहिष्णुता और कहाँ दत्त संप्रदाय की संकीर्णता और असहिष्णुता। वारकरी संप्रदाय ने महाराष्ट्र में आध्यात्मिक क्षेत्र में समता प्रस्थापित की और उससे जाति-बंधन में शिथिलता आने लगी। किन्तु दत्त संप्रदाय ने वर्ण और जाति को पुनः दृढ़ कर वारकरी संप्रदाय की सुधारवादी नीति पर आक्रमण किया और

फिर से परंपरावादिता, संकीर्णता और सनातनीपन का पुनरुद्धार किया। इस दृष्टि से निस्संदेह दत्त संप्रदाय सुधार-विरोधी था। इसीलिए वह हिंदू समाज में अधिक फैल नहीं सका। इसके अतिरिक्त जहाँ वारकरी संप्रदाय ने निरपेक्ष भक्ति पर अत्यधिक जोर दिया, यहाँ तक कि भक्ति की तुलना में मोक्ष या मुक्ति को भी हीन बताया वहाँ दत्त संप्रदाय ने अंध श्रद्धा, सकाम भक्ति और चमत्कार को अत्यधिक महत्व देकर सामाजिक नीति को नीचे गिराया। वारकरी संप्रदाय ने कर्मयोग के आचरण पर जोर देकर हिंदू समाज को कर्तव्योन्मुख बनाया किन्तु दत्त संप्रदाय ने कर्मकाण्ड पर अत्यधिक जोर देकर उच्च-नीच की विषमता को अधिक पुष्ट किया और संकीर्णता को बल दिया। संक्षेप में दत्त संप्रदाय का यश व बल उसके अद्भुत चमत्कार करने की सिद्धि में समाया था और है ही। इसके गांडगापुर, नरसोबा की बाडी, औदुम्बर, माहूर इत्यादि प्रमुख क्षेत्र हैं और वे अभी अपनी विशिष्टता लिए हुए हैं।

दत्त संप्रदाय का साहित्य :—महानुभाव और वारकरी संप्रदायों की तुलना में दत्त संप्रदाय का साहित्य बहुत अल्प तथा साहित्यिक गुणों से निकृष्ट है। तो भी यह मानना होगा कि अन्य संप्रदायों जैसी इस संप्रदाय ने भी लोक-भाषा में मराठी में ही प्रधानतया अपनी रचनाएँ कीं। उनमें सरस्वती गंगाधर का 'गुरुचरित्र' ग्रंथ सर्वश्रेष्ठ है जिसका विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे। अन्य ग्रंथों में अनन्त सुत का 'दत्तप्रबोध' वामनबोवा का 'गुरुलीलामृत', वासुदेवानंद सरस्वती का 'दत्तपुराण' और 'दत्तमहात्म्य' महत्व के ग्रन्थ हैं। उक्त संप्रदाय के श्रेष्ठ ग्रन्थकार तीन हैं—सरस्वती गंगाधर, जनार्दन स्वामी और दासोपंत। उनके जीवनचरित्रों तथा ग्रन्थों का अवलोकन करना यहाँ उचित है।

सरस्वती गंगाधर :—इन्होंने 'गुरुचरित्र' ग्रन्थ की रचना सन् १५३८ में पूरी की। इनकी जन्मतिथि एवम् समाधि की तिथि के बारे में विवाद है परंतु ग्रंथरचना के विषय में संशोधकों का एक मत हो गया है। गुरुचरित्र के प्रारंभ में ग्रन्थकार ने अपनी कुल-परंपरा का कथन किया है। उसके अनुसार नृसिंह सरस्वती के शिष्य सायंदेव ब्राह्मण के ये पड़पोता थे। संक्षेप में दत्त संप्रदाय के कुल में जन्म लेने के कारण बचपन से ही इनकी वृत्ति दत्तभक्ति की ओर झुकी थी। धीरे-धीरे वह वृत्ति अध्ययन व अनुष्ठान से अधिक पुष्ट होती गई। फलतः पक्व दत्तभक्ति का आविष्कार 'गुरुचरित्र' के रूप में मराठी में हुआ। वास्तव में

इनकी मातृभाषा कन्नड़ थी परन्तु संप्रदाय के प्रचार के हेतु इन्होंने मराठी अपनायी। यह ग्रंथ दत्त संप्रदाय का 'वेद' या 'ग्रन्थसाहब' है। इसका प्रतिदिन भक्तियुक्त मन से अध्ययन करना दत्त संप्रदाय का धर्म-नियम है जिसका पालन प्रत्येक अनुयायी करता है। इसके कुल ५३ अध्याय हैं जिनमें कुल ७३०० ओविएँ हैं। ५३वें अध्याय में पहले के ५२ अध्यायों में विवेचित विषयों की सूची ही है और एक सप्ताह में सब ग्रंथ का पारायण कैसे करना चाहिए, बिगतवार बताया है। इसकी शैली संवादात्मक है अर्थात् शिष्य गुरु से शंकाएँ करता है और गुरु उनका समाधान करता है। कथन की रीति रोचक है। भाषा सरल, प्रासादिक और उचित अलंकारों से युक्त है। पहले पाँच अध्यायों में श्री दत्त देवता की पौराणिक महिमा वर्णन की गई है। अध्याय पाँच से दस तक श्रीपाद वल्लभ जी की जीवन-लीलाओं की जानकारी दी गई है। अध्याय ११ से ५२ तक श्री नृसिंह सरस्वती का विस्तृत जीवनचरित्र एवम् अद्भुत चमत्कारों का रसभीना विवेचन है। महानुभावों ने जैसे अपने आद्य आचार्यों की लीलाओं का गान किया वैसे सरस्वती गंगाधर ने भी किया। इसके अतिरिक्त योग, कर्मकाण्ड, वेदों का विस्तार, कर्म-मीमांसा, गृहस्थाश्रम, व्रतकथा, शिवरात्रि कथा और बार-बार गुरु की महत्ता और आवश्यकता इत्यादि विषयों का विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थकार काशीवर्णन, गाणगापुर-वर्णन और रुद्राक्षों का माहात्म्य वर्णन करने में भी रस लेता है। संक्षेप में 'गुरुचरित्र' ग्रंथ में गुरु के महात्म्य के साथ कर्मकांड एवम् आचार-धर्म का विस्तृत कथन है। उक्त ग्रंथ के परायण की फलश्रुति भी उसमें स्पष्ट रूप से निवेदित है। अभी हजारों साम्प्रदायिक भक्तियुक्त हृदय से प्रतिदिन स्नानोत्तर उसकी पूजा और पाठ करते हैं। इसमें ब्राह्मणों के आचार पर अत्यधिक जोर होने से प्रायः ब्राह्मण ही इसका नित्य पाठ करते हैं।

जनार्दन स्वामी (सन् १५०४-१५७५):—ये दत्त सम्प्रदाय के विशिष्ट एवम् महान साधु थे। ये बम्बई राज्य में चालिसगांव के निवासी और वहां के देशपाण्डे थे। ये स्वभावतः बड़े वीर, नियमी और तेजस्वी व्यक्ति थे। कहते हैं कि इनको अपने उपास्य देव (दत्तात्रय) के सगुण रूप का दर्शन हुआ था। इसके अतिरिक्त उन्हें नृसिंह सरस्वती के संपर्क में आने का सौभाग्य मिला था। अपने काम में दक्ष होने के कारण ये एक साधारण देशपाण्डे पद से बढ़ते-बढ़ते देवगढ़ या दौलताबाद के बड़े हाकिम हुए। दत्त सम्प्रदाय के होते हुए इन्होंने

विधर्मी मुसलमान बादशाह की नौकरी ईमानदारी से और कठोर कर्तव्यपरायणता से की और इसके कारण वे बादशाह के विश्वासपात्र सलाहकार भी बने। उस समय में इनके जैसा प्रभावशाली अन्य हिंदू अधिकारी नहीं था। मुसलमानों के हाकिम होते हुए भी इन्होंने अपनी दैनिक धार्मिक दिनचर्या में तनिक भी भ्रष्टता नहीं आने दी। वे प्रतिदिन ब्राह्म मुहूर्त पर जगकर मध्याह्न तक स्नान संध्या, पूजा, समाधि और श्री दत्त सेवा में मग्न रहते थे। तत्पश्चात् भोजन करके कचहरी का काम देखते थे। मुसलमानों के शासन में इनका बड़ा दबदबा था अतः इनको छेड़ने की कोई हिम्मत नहीं कर सकता था। शाम तक राज्यकार्य दक्षता से करने के पश्चात् वे सायं-संध्या आदि करके पूर्व रात में ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव का ऐसा रसभीना और आकर्षण निरूपण करते थे कि श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते थे। ये प्रतिदिन एकान्त में योग-समाधि के द्वारा उपास्य देव श्री दत्तात्रय के दर्शन किया करते थे। योग-समाधि लगाने का स्थल देवगढ़ पर अभी सुरक्षित है। ये जैसे दयालु थे वैसे न्यायनिष्ठ भी थे अतः सब पर उनकी समान धाक थी। इनकी अलौकिक साधुता से प्रभावित होकर बादशाहों ने देवगढ़ की सब सरकारी काररवाई प्रति गुरुवार (गुरु दत्त के दिन) को छुट्टी देकर बंद कर दी थी। संस्कृत में सुभाषित है कि—'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'। सेवा धर्म योगियों के लिए भी अगम्य है। परंतु जनार्दन स्वामी ऐसे अद्वितीय साधु थे कि विधर्मी बादशाह की सेवा करते हुए उन्होंने स्वधर्म के आचरण में तिल के बराबर भी न्यूनता नहीं आने दी। वे प्रपंच और परमार्थ की साधना में अत्यधिक निपुण एवं यशस्वी थे। सचमुच वे स्थितप्रज्ञ थे। समता, शांति और अनासक्ति उनके आचरण में सदा प्रतिबिम्बित होती थी। भला ऐसी भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की मूर्ति को हिंदू तथा मुसलमान सभी पूजनीय क्यों नहीं मानते? जनार्दन स्वामी के जीवनचरित्र की अत्यन्त महत्वपूर्ण दो-तीन घटनाएँ हैं। उनमें पहली है उन पर भगवान् दत्त का अनुग्रह होना। इस संबंध में उनके प्रधान शिष्य एकनाथ महाराज लिखते हैं कि—'जब जनार्दन स्वामी को सद्गुरु-प्राप्ति की ऐसी धुन लगी कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में इनके सिवा उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं था तब भावभक्ति के भोक्ता भगवान् दत्तात्रेय साक्षात् प्रगट हुये और उनके सिर पर हाथ रखकर उन्होंने उपदेश दिया कि कर्म करके भी अकर्ता रहो, अपना कर्म करते हुये आत्मानुसन्धान न छोड़ो।' उक्त उपदेश

के अनुसार वे कर्मयोगी भक्त बने। जनार्दन स्वामी ने कई भक्तिप्रेमयुक्त फुटकर अभंगों की सरस रचना की। अभी इनका एक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है। वह है पंचीकरण अथवा आत्मानात्म-विवेकसार। यह ओविबद्ध ग्रंथ है। इसमें अध्यात्मविषय का अति सूक्ष्म एवं गंभीर विवेचन है। इसकी रचना आत्मानुभव केवल पर होने के कारण इसकी प्रामाणिकता संदेह के परे है। यह जनार्दन स्वामी की महाराष्ट्र एवं मराठी भाषा को सर्वश्रेष्ठ देन है। महाकवि एकनाथ उनके श्रेष्ठ शिष्य थे। ऐसे विरले साधु पुरुप ने देवगढ़ की चोटी पर समाधि ली जो अभी दर्शनीय है।

दासोपंत देशपांडे (सन् १५५१-१६१५):—वास्तव में ये एकनाथ महाराज से छोटे पर समकालीन थे। यहाँ दत्त सम्प्रदाय की साहित्यिक सृष्टि की जानकारी सिलसिलेवार वर्णन करने के लिए हम इनके विषय में श्री एकनाथ से पहले लिख रहे हैं। ये प्रकाण्ड ग्रंथकार थे। इन्होंने साहित्य का सागर निर्मित किया। लगातार पचास वर्षों तक लेखन कार्य करके इन्होंने पचास से अधिक ग्रंथों का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई संस्कृत ग्रंथ भी लिखे। इनका मराठी भाषाभिमान अत्यन्त ज्वलन्त था। ये कट्टर दत्तभक्त थे। किंवदन्ती के अनुसार इनके पिता दिगम्बर पंत को समय पर रसद न देने के अपराध के कारण बादशाह के क्रोध का शिकार होना पड़ा। बादशाह ने बालक दासोपंत को कैद कर उसके पिता को धमकी दी कि यदि एक महीने में वे धन न देंगे तो उनका पुत्र बलात् मुसलमान बनाया जावेगा। पिता भयाक्रान्त हुए पर बालभक्त दासोपंत ध्रुव जैसी निश्चल भक्ति कैदखाने में करते रहे। उसकी स्वाभाविक भक्ति पर श्रीदत्त प्रभु प्रसन्न हुए। किसी तरह से अकस्मात् दिगम्बर पंत को धन मिल गया और उन्होंने रसद देकर अपने पुत्र को कैदखाने से मुक्त करा लिया। इसके पश्चात् उनकी दत्तभक्ति अधिक पुष्ट हुई क्योंकि श्री दत्त की कृपा से ही उनके निर्धन पिता रसद अदा करने में समर्थ बने। उन्होंने अपने ग्राम का त्याग किया और वे आंबेजोगाई नामक देहात में जा बसे। वहां समाधि लेने तक वे दत्तभक्ति और अखण्ड साहित्य सृष्टि में लगे रहे। दासोपंतकृत पचास ग्रन्थों की उपलब्ध सूची इस प्रकार है—(१) गीतार्णव, (२) ग्रन्थराज, (३) वाक्यवृत्ति, (४) पंचीकरण, (५) दत्तात्रयमाहात्म्य, (६) अवधूतराज, (७) दत्तात्रयसहस्रनाम, (८)

दत्तात्रयशतनामस्तोत्र, (९) दत्तात्रयषोडशनाम, (१०) अनुगीता, (११) स्थूलगीता, (१२) अवधूतगीता, (१३) प्रबोधोदय, (१४) गीताभाष्य (१५) सार्थगीता, (१६) गुरुस्तोत्र, (१७) दत्तात्रयनामावली, (१८) षड्गुरुयंत्र, (१९) षोडशदलयंत्र, (२०) अत्रिपंचक प्रधान यंत्र, (२१) आगम निगम, (२२) शिवस्तोत्र, (२३) सहस्रनामटीका, (२४) मंगलमूर्तिपूजा, (२५) महापूजा, (२६) मानसिक पूजा, (२७) गीतास्तोत्र, (२८) मंत्रपूजा इत्यादि। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत में दशोपनिषद्भाष्य और दत्तात्रयमाहात्म्य नामक ग्रंथ लिखे। उनके सैकड़ों सरस अभंग, पद और आरतियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। संक्षेप में उनकी साहित्य-सृष्टि सागर जैसी विशाल और गहरी है। उसमें फुटकर रसभीने एवम् भक्तियुक्त अभंगों की मनोहर लहरियाँ उठती हैं। ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थों में लगभग बीस श्रीदत्त के विषय में हैं जिससे हम सहज में कल्पना कर सकते हैं कि दासो पंत ने दत्त सम्प्रदाय का साहित्य कैसे और कितना समृद्ध किया था। वे निरे दत्तभक्त ही नहीं थे, उनका शास्त्राध्ययन, चिंतन और मनन विशाल था। अन्यथा वे गीता पर पांच ग्रन्थ और वेद-उपनिषदों पर दो-तीन ग्रन्थ न लिख सकते। उन्हें आत्मदर्शन तथा आत्मानुभव का आनन्द प्राप्त हो चुका था और इसीके बल पर उन्होंने पंचीकरण और प्रबोधोदय जैसे प्रौढ़ अध्यात्मविषयक ग्रन्थों की सफल रचना की। वे जितने प्रौढ़ भाष्यकार थे उतने ही भावुक कवि भी थे, अन्यथा वे सैकड़ों भक्तिरस-युक्त फुटकर अभंगों की, पदों की और आरतीयों की सरस और नादमधुर रचना कदापि न कर सकते। संक्षेप में दासो पंत की काव्य-प्रतिभा बहुमुखी थी।

अब हम उनके दो-तीन प्रमुख और लोकप्रिय ग्रन्थों की संक्षेप में जानकारी देने की चेष्टा या समालोचक की दृष्टि से उनका विवेचन करेंगे। वे ग्रंथ हैं 'गीतार्णव' 'ग्रन्थराज' और 'पंचीकरण'। 'गीतार्णव' नाम से स्पष्ट होता है कि यह गीता की सागर जैसी विशाल टीका है। यह सवालाख ओवियों में लिखा महान ग्रन्थ है। हमें तो लगता है कि इतनी विशाल काव्यबद्ध टीका कदाचित् ही संसार की किसी अन्य भाषा में उपलब्ध हो। गीता जैसे इसके कुल अठारह अध्याय हैं जिनमें पहले और दूसरे अध्याय ही क्रमशः ३१३३ और ५६५५ ओवियों के हैं। अठराहवें अध्याय की १६००० ओविएँ हैं। ग्रंथकार ने किसी विशिष्ट मत के प्रचार के लिए उक्त विशाल भाष्य नहीं लिखा। वे तो साधारण

जनता को गीता का रहस्य समझाने की दृष्टि से ही प्रवृत्त हुए थे। अतः भाषा-शैली बहुत सरल, सुबोध और प्रवाही है। जहाँ-तहाँ परिचित दृष्टान्तों की सहायता से रहस्य विवेचित किया गया है। इसमें ज्ञानेश्वरी जैसी काव्य-प्रतिभा की उड़ान अथवा कल्पना का स्वैर विहार या अलंकारों की भरमार नहीं है। परन्तु भाषा प्रवाहयुक्त और आकर्षक है जिससे वाचक इसके पठन या श्रवण में तन्मय हो जाता है। संत ज्ञानेश्वर श्रोताओं का अनुनय करते हैं। वे उनकी रुचि और बौद्धिक क्षमता के अनुसार अपनी विवेचन शैली मोड़ते हैं परंतु दासोपन्त श्रोताओं की या वाचकों की उपेक्षा करके विवेचन करते हैं। संत ज्ञानेश्वर ने साधारण श्रोताओं के सम्मुख गीता पर काव्यबद्ध प्रवचन दिए जो ज्ञानेश्वरी में संगृहीत हैं। इसके विरुद्ध दासोपंत लिखते हैं कि 'मैंने गीतार्णव लिखते समय श्रोताओं का मुँह नहीं देखा और न किसी दूसरे भाष्य का आधार लिया है। इसमें मैंने आत्मानुभव और चिंतन ही भर दिया है। जिसे सुनना हो वह सुने, जिसे मानना हो वह माने और जिसे पसंद न हो वह अपने दोनों कान बंद कर ले।' श्रोताओं के प्रति उनकी कितनी उदासीन और निरपेक्ष वृत्ति थी। इसका अपेक्षित परिणाम यह हुआ कि श्रोता और वाचक उनकी महान् कृति के प्रति उदासीन बन गए। स्वान्तःसुखाय लिखने वाला भी इतनी कठोर वृत्ति धारण नहीं कर सकता परन्तु 'स्वभावो दुरतिक्रमः' अर्थात् स्वभाव के लिए कोई औषध नहीं है। उक्त ग्रंथ में जहाँ-तहाँ विषय-प्रतिपादन के विस्तार देखने में आते हैं। जैसे केवल 'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ' का अर्थ विवेचित करने के लिए ग्रन्थकार ने ९०० ओविएँ रचीं। इसी तरह 'वेदवादरतः' को स्पष्ट करने के लिए १२४३ ओविएँ लिखीं। उक्त ग्रन्थ में ग्रन्थकार का सजग मातृभाषाभिमान भी जहाँ-तहाँ दृग्गोचर होता है। कहीं-कहीं मार्मिक सुभाषित मिलते हैं। उदाहरणार्थ चिन्ता पर लिखा एक सुभाषित है—'चिन्ता पुरुषों के लिए एक बंधन है। यह जीते जी ही मृत्यु के समान है। चिन्ता सुखों का नाश करके पीड़ा देने वाली है। चिन्ता हृदय का अन्धकार और जीवन का कृष्ण पक्ष है। इस चिन्ता का नाश करने वाला ही खरा गुरु और संसार का त्राता है। चिन्ता बिना अग्नि के जलाती है और सुख को निगल जाती है। समस्त भूमण्डल में चिन्ता के समान दुष्ट और कोई नहीं है।' कितना बढ़िया और व्यवहारोपयोगी सत्य ऊपर के सुभाषित में ओतप्रोत है। निःसंदेह दासोपन्त ने स्वानुभव तथा मनन का अमृत गीतार्णव में भर दिया

है। इस प्रकार दासोपन्त ने किसी ग्रंथ का आधार लिए बिना ही सागर सदृश टीका लिख कर अपनी विशेषता प्रगट की।

दासोपन्त का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'ग्रन्थराज', जिसमें अध्यात्म का बारीकी से विवेचन मिलता है। इसकी लेखन शैली संवादात्मक है। शिष्य गुरु से अध्यात्मविषयक कई प्रश्न पूछता है और गुरु अनेक परिचित दृष्टान्त देकर उनका समाधान करता है। इसके आठ अध्याय हैं और उनमें बारह हजार ओविएँ हैं। पहले पाँच अध्यायों में गुरु और शिष्य के लक्षण, प्रतीति, स्थूल, शरीर, अष्ट देह, आशंकाओं का स्वरूप और उनके निरसन का सुलभ विवेचन है। शेष सात अध्यायों में पंचीकरण, योग, उपासना इत्यादि का अति विस्तृत विवेचन मिलता है जिसका आधार ग्रन्थकर्ता की आत्मप्रतीति ही थी। दासोपन्त ने मानव के स्वभाव का सूक्ष्म निरीक्षण किया था। यद्यपि उनकी वृत्ति निस्पृह थी तो भी मानव समाज के सुख-दुःख से वे काफी परिचित थे और उसके प्रति सहानुभूति रखते थे। यद्यपि वे लोकानुरंजन के लिए बिलकुल नहीं लिखते थे परंतु वे लोकविमुख कवि नहीं थे सदुपदेश देकर लोकमंगल साधने की उनकी प्रबल कामना थी। इसीलिये उन्होंने उक्त ग्रन्थ में जहाँ तहाँ मानवीय स्वभाव का यथार्थ चित्रण किया है। वैसे ही आपने अध्यात्म का अति सरस, सुलभ और आकर्षक प्रतिपादन किया है। वे योगसाधकों को लक्ष करके कहते हैं—'जो कोमलता और कठोरता में अंतर नहीं मानता, जो शीतोष्णता समान रूप से सहन करता है और जिसने देह से प्रेम करना छोड़ दिया है, केवल वही योगी है। बाह्य दर्शन (स्वरूप-दर्शन) योग-साधना के मार्ग में बाधक है। अतः योगाभ्यासी को अपनी दोनों नेत्ररूपी आलमारी बंद कर लेनी चाहिये जिससे वह भीतर ही देखे। रूपदर्शन अवश्य ही त्याग देना चाहिए क्योंकि योगी के लिए रूपदर्शन शत्रु है।' इसी प्रकार वे स्थितप्रज्ञ के लक्षण वर्णन करते हुए लिखते हैं—'जिसे अपने शरीर का कोई ध्यान नहीं और जिसकी शरीरविषयक बुद्धि नष्ट हो गई वही स्थितप्रज्ञ योगी है।' संक्षेप में ग्रंथराज अपनी कोटि का विशिष्ट ग्रंथ है। ऐसा दीख पड़ता है कि आगे चलकर समर्थ रामदास जी ने इसका अनुकरण या इससे प्रभावित होकर अपने सुप्रसिद्ध 'दासबोध' की रचना की है।

दासोपंत की तीसरी प्रसिद्ध रचना है 'पंचीकरण'। इसकी अनूठी विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ अढ़ाई हाथ चौड़ी और चार हाथ लम्बी दोहरी

चादर पर लिखा है। प्रतिदिन दस घण्टों तक कष्टप्रद लेखन कार्य करके कई महीनों में उक्त ग्रन्थ की रचना हुई। प्रतिदिन दासोपंत को एक बड़ी दवात भर स्याही लगती थी। अक्षर मोटे और सुवाच्य हैं। अभी लगभग पौने चार सौ वर्षों के बाद उक्त अनूठा ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। पाठक इसको भली भाँति पढ़ सकते हैं और एक अनूठी कृति को देखने का आनंद प्राप्त कर सकते हैं। भावुक भक्तों का विश्वास एवं श्रद्धा है कि रोगी को उक्त दोहरी चादर से छुवा जल पिलाने से वह रोगमुक्त होता है। अन्धश्रद्धा को छोड़ दीजिये परंतु यह मानना होगा कि पंचीकरण ग्रन्थ के लेखन में कवि ने अनूठेपन का आविष्कार किया। उक्त 'दोहरी चादर' दासोपंत के भक्तों ने बड़ी श्रद्धा से अभी तक सुरक्षित रखी है। कोई भी उसको देख और पढ़ सकता है।

दासोपन्त जैसे प्रौढ़ भाष्यकार थे वैसे भावुक कवि भी थे। उनके लगभग १६०० अभंग, पद और आरतियाँ उपलब्ध हैं। ये सब कवि के भाव सौंदर्य से ओत-प्रोत हैं। जब जो भाव प्रबल होकर जगा तब उसको कवि ने भाव-काव्य में प्रगट किया। ये सब फुटकर हैं अतः उनका क्रमबद्ध कथन करना कठिन है। निःसन्देह इन पदों में जो माधुर्य, सौंदर्य और भाव-कोमलता भरी है वह उनके प्रौढ़ ग्रन्थों में नहीं दिखाई देती। किसी भी कवि की खरी काव्य-प्रतिभा जितनी स्फुट कविताओं में निखर आती है उतनी विषय-विशेष पर रचना करने में नहीं, क्योंकि विषय की मर्यादा में उसकी प्रतिभाशक्ति सीमित रहती है। प्रत्युत स्फुट रचनाओं का स्रोत ही स्वतंत्र और प्रबल भावनाएं होती हैं। इस दृष्टि से दासोपन्त की फुटकर रचनाएँ बहुत रसभीनी और अलंकार-समृद्ध हैं। एक पद में वे शब्द की महत्ता का वर्णन करते हैं। 'शब्द से पर्वत पिघल जाता है, चन्द्र और सूर्य गति भूल जाते हैं, पृथ्वी कांपने लगती है और तीनों लोक तन्मय हो जाते हैं।' इसकी सार्थकता हम संसार के इतिहास में अनुभव करते हैं। क्या फ्रांसीसी क्रांति रूसो और हालातियर के ज्वलन्त लेखों का परिणाम या फल नहीं थी? दूसरे पद में दासोपन्त की आत्म समर्पणता का अनुभव कीजिए। वे आर्तता से कहते हैं— 'हे परम आनन्द-नंदनंदन! तू सदा मुझे अपना प्रेम दे। मैं तो तुझे आत्मीय रूप में ही जानता हूं। अतः योग-साधना मुझे कैसे रुचेगी? तू तो पूर्ण ब्रह्म, पुरातन पुरुष और परमात्मा है। मैं तुझमें कैसे भेद करूँ? मैं तेरे सगुण और निर्गुण रूप

में अन्तर नहीं समझता और न मुझे वह अन्तर करने की क्रिया में रुचि है। मुझे तो तेरा सदैव स्मरण करते रहना ही अधिक पसंद है।' महाराष्ट्र के वारकरी संत के जैसे ही दासोपन्त सगुण और निर्गुण में भेद नहीं मानते थे। वारकरी और दत्त सम्प्रदाय में यह समानता है। उनके कई अभंगों में और पदों में सगुण और निर्गुण की एकता का सरस प्रतिपादन मिलता है। एवम् मराठी का साहित्य सब तरह से समृद्ध करके सन् १६१५ में दासोपन्त ने समाधि ली। निःसंदेह दासोपन्त दत्त संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवि थे।

दूसरा अध्याय

युगप्रवर्तक संत एकनाथ

(सन् १५३३-१५९६)

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

(गी० अ० ६ श्लो० ४३)

उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुये 'ज्ञानेश्वरी' में संत ज्ञानेश्वर जी कहते हैं—'जिस प्रकार सूर्य का उदय होने से पहले उसका प्रकाश प्रकट होता है उसी प्रकार प्रौढ़ावस्था आने के पहले ही और बिना पक्व वयस की अपेक्षा किए ही बाल्यावस्था में ही उसमें (योगभ्रष्ट में) सर्वज्ञता का संचार हो जाता है। उसकी बुद्धि पक्व होने पर उसको सब विद्याओं का प्रसाद आप से आप मिल जाता है और उसके मुख से सब शास्त्र स्वभावतः ही प्रगट होते हैं।' यह सिद्धान्त सन्त एकनाथ जी पर ठीक घटता है। उनकी टक्कर का बहुमुखी सर्जनशील प्रतिभा का कवि महाराष्ट्र में अभी तक नहीं पैदा हुआ। वे जितने ऊँचे कवि थे उससे अधिक ऊँचे सन्त थे। सचमुच वे अपूर्व सन्त थे। प्रवृत्ति और निवृत्ति का ऐसा अनूठा एवम् विलोभनीय समन्वय संसार में कदाचित् ही किसी अन्य सन्त ने संपादित किया हो। उनके पहले संत नामदेव और पश्चात् संत तुकाराम भी गृहस्थ थे परन्तु उन की रुचि गृहस्थी में नहीं थी। वे विवाहबद्ध होने के कारण विवशता से गृहस्थी निभा रहे थे। इसके अतिरिक्त उनकी गृहस्थी दरिद्रता से और तत्सम्बद्ध विपदाओं से ओतप्रोत थी। अतः वे दोनों गृहस्थी से सदा उचाट ही रहे। परन्तु संत एकनाथ ने गृहस्थाश्रम में पूरी सात्विक एवम् धर्मिक रुचि लेते हुए परमार्थ की सफल साधना की। उन्होंने गृहस्थाश्रम को कभी न परमार्थ पंथ का हत्यारा अनुभव किया और न कहा। वे जैसे आदर्श गृहस्थ थे वैसे ही भक्त थे। संतिन बहिनाबाई ने अपने एक अभङ्ग में ठीक ही कहा—

ज्ञानदेव ने ज्ञानबल डाली जो बुनियाद
नामदेव ने नामवश रचो भव्य प्रासाद।
एकनाथ ने भागवत दिया स्तंभ और।
उसी भक्ति पर धर्म का तुकाराम सिरमौर ॥

महाराष्ट्र में भागवत धर्मरूपी प्रासाद है। संत ज्ञानदेव ने उसकी नींव डाली और संत नामदेव ने नामस्मरण के बल पर उसका प्रचार किया, अर्थात् संत ज्ञानेश्वर उक्त प्रासाद की नींव हैं और संत नामदेव दीवार हैं। संत एकनाथ को उसका स्तम्भ कहा है और अतंतोगत्वा संत तुकाराम उसके शिखर बने। भागवत धर्ममन्दिर के स्तम्भ बनने का महागौरव संत एकनाथ को प्राप्त हुआ था। यह सूर्यप्रकाश जैसा स्पष्ट है कि जिस कार्य का श्रीगणेश संत ज्ञानेश्वर ने तीन सौ वर्ष पूर्व किया था उसको पूरा करने में संत एकनाथ ने अपनी सारी आयु अर्पित कर दी। इसीलिये महाराष्ट्र की भावुक जनता उन्हें संत ज्ञानेश्वर का अवतार मानती है। आइए, हम संक्षेप में पहले उनका जीवनचरित्र देखें ताकि उनकी महती साहित्य-सृष्टि का सम्यक् रहस्य आगे चलकर सहज में समझ सकें।

संक्षिप्त जीवनी:—दक्षिण कासी पैठन में संत भानुदास के पवित्र कुल में सन् १५३३ में एकनाथ उत्पन्न हुए। ये संत भानुदास के पौत्र थे। इनके पिता सूर्यनारायण थे और माता रुक्मिणी थी। संत तुलसीदास जी के समना इनका जन्म मूल नक्षत्र में होने के कारण चन्द महीनों के बाद माता-पिता की दुःखद मृत्यु हो गई। अतः दादा चक्रपाणि इन्हें बचपन में लाड़ से एका (अकेला) कहकर पुकारते थे। प्रौढावस्था में उन्होंने अपने 'एकनाथ' नाम में छिपा आध्यात्मिक व्यंग्य एक अभंग में बड़ी मार्मिकता से स्पष्ट किया। वे कहते हैं—'मूल के मूल में ही एकनाथ पैदा हुआ, जिससे माँ-बाप डर गये। यह मूल नक्षत्र ऐसा आ पड़ा कि मैंने दोनों को निर्मूल कर दिया। उन्होंने नक्षत्र की शान्ति की सो वे स्वयं ही शान्त हो गये और मैं मूल में लगकर अपना नाम सार्थक करने लगा। एका जनार्दन की शरण में जाकर मूल की वार्ता में पहुँचा और मा (माया=प्रकृति) सहित बाप (ब्रह्म) को घोंटने लगा।' इसका सरल आशय है 'मूल नक्षत्र के कारण माँ-बाप डर गए और उन्होंने नक्षत्र की शांति करायी परन्तु उनका देहान्त होकर रहा किन्तु एकनाथ मूल में ही लगे रहे, इससे शुद्ध आत्मस्वरूपाकार हो गये परन्तु इससे अधिक गंभीर व्यंगार्थ इसमें है

कि 'मा माने प्रकृति और बाप माने पुरुष को प्राप्त करके जो त्रिगुणातीत परब्रह्म है उसमें एकनाथ मिल गये।' कौन कह सकता है कि उनका उपर्युक्त विधान असत्य था? बालक एकनाथ स्वभावतः श्रद्धावान् और बुद्धिमान् थे। राम-कृष्ण-हरि का नामोच्चरण करते हुये वे ऐसे तल्लीन होते मानो समाधि लगा लेते थे। वे पूजा में अपने दादा की श्रद्धायुक्त हृदय से सहायता करते। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' सुभाषित के अनुसार लोग कहते थे कि 'यह संत भानुदास का पौत्र उनका यश दसों दिशाओं में फैलावेगा।' बालक एकनाथ सब सद्गुणों की मूर्ति था अतः वह सब पैठणनिवासियों का प्रिय बना। छठे वर्ष उसका जनेऊ हुआ और उसे ब्रह्मकर्म की अच्छी शिक्षा मिली। उसकी बुद्धि अति तीव्र थी। गुरु जो विषय उसे पढ़ाते थे उसे वह तुरन्त ग्रहण करके कंठस्थ कर लेता था। गुरु से ऐसे मार्मिक प्रश्न पूछता था कि उनसे उत्तर देते न बनता। अन्ततोगत्वा एक सरल हृदय के गुरु ने उसके दादा चक्रपाणि से स्पष्ट कहा—'मैंने तो पेट के लिये कथा कहना सीखा किन्तु आपका पौत्र ऐसे जटिल प्रश्न करता है कि उनका समाधान मैं नहीं कर सकता।' इस प्रकार केवल बारह वर्ष की अवस्था में एकनाथ ने रामायण, महाभारत तथा अनेक पुराणों का अध्ययन समाप्त कर लिया। अलौकिक पुरुष का सब कुछ अलौकिक ही होता है। अब वे अलौकिक गुरु के दर्शन के लिये व्याकुल हुये। एक दिन रात में एकनाथ अकेले शिवालय में बैठे राम-कृष्ण-हरि का मन्त्र जपते थे। उन्हें एकाएक आत्मिक प्रेरणा हुई कि देवगढ़ जाकर जनार्दन स्वामी के चरणकमलों में गिरो। वे तत्काल देवगढ़ की ओर चल पड़े। उन्होंने अपनी वृद्ध दादी और दादा की अनुमति भी नहीं प्राप्त की क्योंकि सद्गुरु के दर्शन के लिये वे अति बेचैन हो गए थे। तीसरे दिन प्रातःकाल वे देवगढ़ पहुँचे। वहाँ उन्हें सद्गुरु जनार्दन स्वामी के दर्शन हुये। गद्गद होकर उन्होंने अपनी देह गुरुचरणों में अर्पित की। इस समय उनकी अवस्था तेरह वर्ष की थी। सद्गुरु को सच्छिष्य मिला और सच्छिष्य को सद्गुरु मिला। दोनों कृतार्थ हुए। गुरु-शिष्य का जिस शुभ दिन वह मिलाप हुआ वह दिन महाराष्ट्र के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा गया।

जनार्दन स्वामी की ब्रह्मनिष्ठा, विद्वत्ता, सदाचार, भक्ति और कोमलता देखकर भावुक एकनाथ की चित्तवृत्ति उनके चरणकमलों में भँवर जैसी संलग्न हुई। लगातार छः वर्ष तक उन्होंने बड़ी भावुकता से उनकी अव्यभिचारिणी

सेवा की। गुरुसेवा करते-करते उनके सब मनोविकार शान्त हो गये और चित्तशुद्धि भी हो गई। वे चन्द वर्षों में ही गुरुप्रसाद के लिए योग्य बन गए। ऐसी निर्मल चित्तवृत्ति में रहते हुए उन्होंने साक्षात् गुरुमुख से ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ सुने और उनका आत्मबोध जागृत हो गया। जैसे शरत्पूर्णिमा की रात में पूर्णचन्द्र का पूर्ण प्रतिबिम्ब मानसरोवर के स्वच्छ जल में सुहावना दिखाई देता है वैसे ही जनार्दन स्वामी का आध्यात्मिक ज्ञान शुद्ध हृदय के एकनाथ में संपूर्णता से संक्रमित हुआ। गुरु ने प्रसन्न होकर उन्हें श्रवण, मनन, निदिध्यास और साक्षात्कार आदि विधियों द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करना सिखाया। एकनाथ कृतार्थ हुए। हम पहले लिख चुके हैं कि जनार्दन स्वामी संत होते हुए देवगढ़ के उच्चाधिकारी थे और अपने व्यवसाय एवं व्यवहार में बहुत कुशल थे। अब उन्होंने एकनाथ को व्यवहार में निपुण करने के हेतु उन्हें देवगढ़ के हिसाब-किताब का काम सौंपा। एकनाथ ने उसे गुरुसेवा समझकर सहर्ष स्वीकार किया। प्रतिदिन अत्यन्त दक्षता से वे हिसाब-किताब करते थे। परन्तु एक दिन हिसाब में एक पाई की भूल रह गई। बड़ों का सब काम बड़ा होता है। भला एकनाथ वह भूल कैसे सह सकते थे? वह भूल ढूँढ़ निकालने के लिए वे हिसाब की मोटी बही लेकर मन्द रोशनी वाली बत्ती के सामने डटकर बैठ गए। घंटों बीत गए पर भूल न मिली। महान् पुरुष कर्तव्य के लिए कर्तव्य करते हैं। उसके सामने अपना सुख और जीवन तुच्छ समझते हैं। ढाई पहर रात बीत गई फिर भी हिसाब न मिल सका। एकनाथ उसको मिलाने में जी-जान से लगे हुए थे। तीन पहर रात बीतने पर गुरु जनार्दन स्वामी एकाएक जागे और उन्हें एकनाथ आसपास कहीं नहीं दिखाई दिया। उन्होंने तुरंत ताड़ लिया कि वह हिसाब करता होगा। अतः उन्होंने पास के कमरे में झाँककर देखा। योगायोग से उसी क्षण हिसाब मिल गया, भूल स्पष्ट हुई और हर्ष के आवेग में एकनाथ ने जोर से ताली बजायी। गुरु को भी बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने प्रेम से पूछा—'यह हर्ष किस बात का हो रहा है?' एकनाथ ने सारी कथा कह दी। तब गंभीर होकर जनार्दन स्वामी ने उसको यह उपदेश दिया—'नाथ! एक पाई की भूल का पता लगते ही जब तुम्हें इतना हर्ष हो रहा है तब संसार की जो बड़ी भूल तुम्हारे हाथों हुई है उसका पता लगने से भला बताओ तुम्हें कितना आनन्द होगा? प्रिय शिष्य, यदि ऐसी

ही तन्मयता श्रीदत्त-चिंतन में कर दो तो भगवान् क्या तुमसे कहीं दूर है।' बस, एकनाथ को भगवत्प्राप्ति की ताली मिल गई। उक्त छोटी-सी घटना ने उसके हृदय में क्रांति भर दी। भाग्य से ही ऐसे सद्गुरु का संपर्क प्राप्त होता है।

श्री दत्तकृपा और अनुष्ठान :—इसके पश्चात् सद्गुरु की सहायता से एकनाथ ने भगवान् दत्त का दर्शन किया। वे स्वयम् एक अभंग में लिखते हैं— 'एका (एकनाथ) ने जनार्दन की शरण जाकर, आत्मदृष्टि पाकर परब्रह्ममूर्ति भगवान दत्त को इन आँखों से देखा।' उक्त प्रसंग के विषय में उनके कई अभंग हैं। कहते हैं कि भगवान् दत्त ने आशीर्वाद दिया था कि एकनाथ महाभागवत होगा और भागवत पर अपूर्व ग्रंथ लिखकर जड़ जीवों को भक्तिपन्थ में लगा देगा।' भविष्य में श्री दत्त का आशीर्वचन सार्थक हुआ। एकनाथ को दत्त का सगुण दर्शन हुआ और भगवान् का वर प्रसाद भी प्राप्त हुआ। तब सद्गुरु ने सोचा कि इससे निर्गुण का भी साक्षात्कार होने के लिए अनुष्ठान कराना चाहिये। अतः उन्होंने उसे देवगढ़ के पास शूलभञ्जन पर्वत पर आसन लगाकर श्रीकृष्ण का ध्यान करने की आज्ञा दी। एकनाथ तप के लिये स्थिर आसन लगाकर रहने लगे। एक दिन जब वे समाधि में संलग्न थे तब एक बड़ा भारी काला सर्प उनके मस्तक पर फण फैलाकर झूमने लगा। संयोग से एक किसान ने वह भयानक दृश्य देखा और वह तत्काल बड़े जोर से चीख उठा। शीघ्र ही नाथ समाधि से जाग उठे और उन्होंने साँप को जाते हुए देखा। सामने का दूध का लोटा उठा-कर उन्होंने समचित्त से उसके सम्मुख रख दिया। साँप दूध पीकर चला गया। उक्त प्रसंग पर उनका अभंग है कि-'हमें दंश करने के लिए काला नाग आया था परन्तु कृपालु होकर गया। यह अच्छी जान-पहचान हो गई। इससे चित्त अच्युत में जा मिला। देह में जो संदेह था वह दूर हो गया और काल ही अव-काश हो गया। 'एका' की जनार्दन से जो भेंट हुई उससे आने-जाने के चक्कर से ही मुक्ति मिल गयी।' अनुष्ठान से उन्हें पूरा ब्रह्मबोध हुआ। सगुण और निर्गुण एक ही है यह भागवत धर्म का महासिद्धान्त उन्हें पूरी तरह से जँच गया। कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति ये सब साधन हैं और साध्य तो भगवान श्रीकृष्ण ही है, इस सिद्धान्त की इन्हें प्रतीति हुई। अब सद्गुरु ने सोचा कि एकनाथ का देवगढ़ पर उनकी सान्निधि में रहने का कार्य समाप्त हो गया। अतः उन्होंने एकनाथ को

तीर्थयात्रा करने की आज्ञा दी ताकि वह देशाटन में अनेक सन्तों का सत्संग करे और श्री दत्त के वर के अनुरूप भागवत धर्म का महान प्रवर्तक बने।

एकनाथ की तीर्थयात्रा :—सद्‌गुरु जनार्दनस्वामी शुष्क, निरे उपदेशक नहीं थे, वे स्वयम् उसके साथ तीर्थयात्रा करने के लिए चल पड़े। वे प्रथम नासिक त्र्यंबकेश्वर गए। मार्ग में एक रात वे एक विद्वान् तथा भागवत ब्राह्मण के आश्रम में टिके। उस समय उन्होंने उस ब्राह्मण की सरस वाणी से चतुःश्लोकी भागवत का मार्मिक एवम् प्रभावोत्पादक निरूपण सुना। उसे सुनकर गुरु ने प्रतिभाशाली शिष्य को चतुःश्लोकी भागवत पर मराठी के ओवी छंद में सरस भाष्य लिखने को आज्ञा दी। दूसरे दिन वे नासिक पंचवटी पहुँचे और उसी रात में राममन्दिर में एकनाथ ने स्वरचित भागवत-कथा कही। एकनाथ जी की यह पहली रचना है। इसके विषय में हम विस्तृत वर्णन आगे करेंगे। यह अपूर्व रचना सुन करके सद्गुरु प्रसन्न हुए। वे आगे चलकर त्र्यंबकेश्वर पहुँचे। वहाँ संत ज्ञानेश्वर के ज्येष्ठ भ्राता एवम् गुरु निवृत्तिनाथ की समाधि का दर्शन करके वे कृतार्थ हुए। यहाँ से सद्गुरु देवगढ़ लौटे परंतु उन्होंने तीर्थयात्रा कैसे करनी चाहिए और कौन से तीर्थों का दर्शन करना आवश्यक है, एकनाथ को बता दिया।

एकनाथ ने लगातार चार-पाँच वर्षों तक भारतवर्ष की यात्रा की। उन्होंने बारहों ज्योतिर्लिंगों के दर्शन किए। गोकुल, मथुरा, वृंदावन आदि कृष्णभक्ति से गूंजनेवाले क्षेत्रों में भक्ति का सुखानुभव करके उन्होंने प्रयाग, काशी और गया की त्रिस्थली यात्रा की। वे अयोध्या की यात्रा करके बदरिकाश्रम गये। वहाँ से नाथद्वारा होते हुए वे द्वारका गये। महान भक्त नरसी मेहता के जूनागढ़ का दर्शन करके वे महाराष्ट्र लौट आए। उक्त लंबी यात्रा में उन्होंने सामयिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थिति का सूक्ष्म एवम् सम्यक् अवलोकन किया। एवम् पच्चीसवें वर्ष कृतार्थ होकर वे घर लौटे।

आदर्श गृहस्थाश्रम :—दादा और दादी के आग्रह से और सद्‌गुरु की आज्ञा से उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। उनकी सहधर्मिणी गिरजाबाई सर्वथा उनके अनुरूप थी। उनकी सुशीलता, धर्मनिष्ठा और उदारता ने उनका घर स्वर्ग बना दिया। उनका प्रपंच और परमार्थ एकरूप होने में सुभार्या गिरजाबाई

का बड़ा हाथ था। एकनाथ ने स्वानुभव से अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'नाथ भागवत' में कहा कि—'पत्नी और पति दोनों की चित्तवृत्ति एक होकर जब धर्मप्रवृत्ति में मग्न होती है तभी उनका परलोक सधता है।' उन्होंने लगभग चालीस वर्ष तक सुखी और समाधानी प्रपंच किया। उनके तीन संतानें हुईं—एक सुपुत्र हरिपंडित और दो सुकन्याएँ। उनका कुल परंपरा से धनी-सा था। अतः जीवनयापन के लिए उन्हें कुछ भी नहीं करना पड़ा। उनका दैनिक जीवनक्रम आदर्श था। वे नित्य ब्राह्ममुहूर्त पर उठते, कुछ समय भगवान के ध्यान में बिताते, शौच-मार्जनादि से निवृत्त होकर प्रातःस्नान के लिए गंगाजी (गोदावरी) जाते, लौटने पर संध्या-पूजा करके गीता और भागवत का पाठ करते, फिर अतिथि-अभ्यागतों के साथ भोजन करते थे। भोजनोत्तर विद्वानों के साथ अध्यात्मचर्चा करते और तीसरे प्रहर ज्ञानेश्वरी, भागवत अथवा रामायण पर अपने परदादा संत भानुदास द्वारा स्थापित श्री विट्ठल मूर्ति के सामने प्रवचन करते। सायंकाल फिर गंगाजी जाकर संध्या-वंदना करके कुछ थोड़ा सा उपाहार लेते। इनके पश्चात् स्वयम् भगवत्कीर्तन करके केवल पाँच घंटे निद्रा लेते थे। यह उनके जीवन का अखंड नियम रहा। अपने भागवत ग्रंथ में उन्होंने एक स्थान में आदर्श लोकसंग्रह की व्याख्या की है—अभेद भक्ति, वैराग्य और ज्ञान का स्वयम् आचरण करके दूसरों को इसी आचरण में लगाने का नाम ही लोकसंग्रह है।' वे यथार्थ में ऐसा ही लोक-संग्रहकरते थे। पुराण, कीर्तन, भजन, नामोच्चारण आदि का प्रचार करने में उनका उद्देश्य साधारण जनों को भागवत मार्ग में प्रवृत्त करना ही था। अभेदभक्ति उनके प्रत्येक आचरण से सूर्य-प्रकाश जैसी स्पष्ट होती थी। सर्वभूत में समभाव उनके रक्त में कूट-कूटकर भरा हुआ था। उनकी दृष्टि में छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण शूद्र का कोई भेद था ही नहीं। वे क्रियाशील अभेदभक्ति और समता का आचरण करनेवाले महान साधु थे। उनके अलौकिक समव्यवहार की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पितरों के लिए बनाया हुआ पक्वान्न भोजन दयावश अंत्यजों को परोस देना, धेड़ के बच्चे को गोद में उठाकर उसकी माता के पास पहुँचा देना, धेड के घर जाकर आनंद से भोजन करना आदि घटनाओं से उनकी क्रियाशील समता और प्रगतिशील साधुता का बोध होता है। एकनाथ जैसे समाज-सुधारक संत भारतवर्ष में नहीं हुए। उनके समत्व, शान्ति और

परोपकारशीलता आदि सद्गुण ज्यों-ज्यों साधारण जनों पर प्रकट हुए त्यों-त्यों उनकी प्रतिष्ठा, कीर्ति खूब बढ़ने लगी। उनका भक्तिरसभीना कीर्तन सुनकर श्रोता चित्रवत् मुग्ध हो जाते थे। उनका धाराप्रवाही वक्तृत्व, विषय-प्रतिपादन करने की प्रभावोत्पादक शैली, प्रासादिक, सरल, सुलभ भाषा और लोकमंगल की व्याकुलता से सब लोक उनके प्रति आकर्षित हुए तथा एकनाथ महाराज सब के आदर के भाजन बने। उनकी वाणी में विलक्षण भक्तिरस था जिसका नित्य नया आस्वाद श्रोताओं को प्रतिदिन मिलता। उनके संकीर्तन और प्रवचनों से भक्तिपंथ ऐसा बढ़ा मानो एकनाथजी ने भागवतधर्म या वारकरीपंथ का ध्वज ही फहरा दिया। उनके आचरण का और उपदेश का इतना अच्छा प्रभाव हुआ कि पैठणनिवासी नामस्मरण और संकीर्तन के आनंद में लगे रहकर सकाम व्रतादि से परावृत्त होने लगे। साधारण जनता के व्रतों का तथा कर्मकांड का त्याग करने से व्यवसायी सनातनी, वैदिक और याज्ञिक ब्राह्मण एकनाथजी से द्वेष और मत्सर करने लगे। उन्होंने उन पर अनेक प्रकार के आक्षेप किए। वे कहने लगे कि एकनाथ देववाणी (संस्कृत) का अपमान करके मराठी भाषा में भागवत कहता और रचता है। कर्मठता का विरोध करके चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहता है, ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्ति को अधिक प्राधान्य देता है और ब्राह्मणों के समान ही अन्य तीनों वर्णों का समादर करता है। अतः सनातनी ब्राह्मणों ने एकनाथ को जैसी बन पड़े वैसी पीड़ा पहुँचाने के लिए कमर कस ली। संसार में सभी महात्माओं को दुष्ट और निन्दक लोग पीड़ा पहुँचाते हैं। एकनाथ इस सिद्धान्त के अपवाद कैसे ठहरते? परंतु जो निंदा की कसौटी पर खरे उतरते हैं वे ही महान होते हैं। इन निंदकों ने उनको सताने में कुछ नहीं उठा रखा। उनके कुकृत्यों का बयान करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। परंतु महात्मा एकनाथ की समचित्तता और शान्ति ज्यों की त्यों रही। उनकी सहिष्णुता, क्षमाशीलता और समता ने निंदक और पीड़ा देनेवालों पर विजय प्राप्त की। निंदकों के संबंध में उन्होंने एक अभंग बनाया जिसका भावार्थ है—

'निन्दक बड़े उपयुक्त होते हैं, मानो अन्तरात्मा के वे मित्र हैं। निन्दक हमारी काशी है, वे हमारे सब पापों का विनाश करने वाले हैं। निन्दक हमारी गंगा हैं, हमारे सब पापों को भंग करने वाले हैं। निन्दक हमारे मित्र धोबी हैं, जो हमारे कपड़ों को बिना कुछ लिये ही धो डालते हैं। निन्दक हमारे गुरु हैं।' महात्मा

एकनाथ की अपने निन्दकों के प्रति इतनी विशुद्ध भावना थी। वे अहिंसा के सच्चे पुजारी थे। शान्ति, क्षमा, दया आदि गुणों का स्वयम् कठोर आचरण करके वे निन्दकों का हृदय परिवर्तित करने की जी-जान से चेष्टा करते थे। अन्ततोगत्वा उनकी विजय हुई।

परमार्थनिष्ठ प्रपञ्च करते-करते वे दूसरी बार वाराणसी पहुँचे। वहाँ तीन वर्ष रहे तथा 'भागवत' और 'रुक्मिणी-स्वयंवर' ग्रन्थों की सफल रचना करके घर लौटे। इन ग्रन्थों का विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। वे पंढरपुर की यात्रा (वारी) नियम से करते थे। उनके साथ सहस्रों वारकरी रहते थे। उन्होंने आलंदी जाकर संत ज्ञानेश्वर की समाधि की मरम्मत कराई और ज्ञानेश्वरी का संशोधित पाठ बनाया। वे मराठी के आद्य संशोधक ग्रन्थकार हैं। वे तीसरी बार वाराणसी आये, कुछ महीनों तक रामचरितमानस का भक्तियुक्त हृदय से और तन्मयता से श्रवण किया, हिंदी भाषा की कुछ जानकारी प्राप्त की और पैठन लौटे। अब उन्होंने अपने अन्तिम और महाकाव्यग्रन्थ 'भावार्थ रामायण' की रचना करना प्रारम्भ किया। उनकी अवस्था पैंसठ के ऊपर हुई थी। भावार्थ-रामायण के ४४ अध्याय जिनकी २५००० ओविएँ हैं, समाप्त होते ही चैत वदी षष्ठी के शुभ दिन में (सन् १५९९) आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र का ध्यान करते करते एकनाथ महाराज समाधिस्थ हुए। एकनाथ जी ने अपनी सम्पत्ति, बुद्धि, शक्ति और वाणी सब कुछ लोककल्याण में अर्पित करके अपना जन्म सफल किया। आइए, ऐसे महान् लोकमंगलकारी कवि की काव्यसृष्टि का आस्वादन कीजिए।

साहित्य-सृष्टि

मुसलमानों के भयंकर कड़े शासन में महाराष्ट्र की कितनी और कैसी विषमावस्था हो गई थी, इसका दर्दभरा वर्णन हम पिछले प्रकरण में कर चुके हैं। ऐसी सब दृष्टियों से निराशादायक परिस्थिति में संत एकनाथ को अपनी साहित्य-सृष्टि करनी पड़ी। मराठी भाषा उर्दू-फारसी और संस्कृत के आक्रमण का शिकार बनी थी। उर्दू-फारसी राजकीय भाषा होने के कारण उसका प्रतिकार करना राजद्रोह माना गया था। लोगों की बोलचाल की मराठी भाषा पर फारसी का कुप्रभाव होने के कारण वह अशुद्ध बनी थी। उधर सनातनी पंडित लोकविमुख

बनकर, जैसे कि वे सदा होते हैं, संस्कृत को पुनः धर्म-भाषा बनाने में लगे थे। मुसलमान शासकों की इन सनातनी पंडितों को भीतरी सहायता थी क्योंकि लोकभाषा मराठी के द्वारा भागवत अर्थात् वारकरी संप्रदाय की साधारण जनता में जो प्रतिष्ठा थी उसे विधर्मी शासक नष्ट-भ्रष्ट करना चाहते थे। एवम् एकनाथ महाराज को शैतान और खाई के बीच पड़ी मराठी की रक्षा और संवर्धना करनी थी। देशभाषा मराठी के माध्यम से ही वे सर्वथा दीन-हीन बनी हिंदू-जनता को धार्मिक दृष्टि से जगाना चाहते थे। उन्होंने अनीति, भ्रष्टाचार, दांभिक वर्णाभिमान, असहिष्णुता, कर्मकाण्ड इत्यादि का सफल प्रतिकार करने के लिये मराठी भाषा का कामयाबी हथियार जैसा कैसे उपयोग किया, हमको अभी देखना है। उनका मराठी भाषा का अभिमान ज्वलन्त था। वे अपनी सर्वोत्तम कृति भागवत में कहते हैं—'संस्कृत तो देवताओं ने निर्मित की, पर क्या प्राकृत (मराठी) चोरों ने बनाई? क्या केवल कपिला ही दूध दे सकती है? अन्य गायें क्या पानी देती हैं? क्या संस्कृत में ही परमार्थ का विवेचन किया जा सकता है? यदि मराठी में वह किया जाय तो क्या वह फीका होता है? अतः मराठी में भागवत की रचना करने से उसकी प्रतिष्ठा कम होने की अपेक्षा अधिक ही बढ़ती है क्योंकि बहुत अधिक लोक उसे पढ़ सकते हैं। मेरी मराठी भाषा बहुत सुंदर है। उसने परमार्थ के अनेक रसभरे मधुर फल धारण किये हैं। जो सज्जन हैं, उसकी मधुरता से अच्छी तरह परिचित हैं। मराठी की अधिक समृद्धि करने के हेतु ही मैंने यह ग्रंथ लिखा है।' उपर्युक्त उद्गार से स्पष्ट होता है कि एकनाथ संत ज्ञानेश्वर के खरे उत्तराधिकारी थे। अतः संस्कृत में पांडित्य-संपादन करने पर भी उन्होंने मराठी में ग्रन्थ रचना की।

चतुःश्लोकी भागवत :—इसकी रचना प्रांसगिक और उत्स्फूर्त थी। यह उन्नीस वर्ष के एकनाथ की गंभीर काव्यप्रतिभा का प्रथमोन्मेष था। यह भाष्यकाव्य है। इसका आधार श्रीमद्भागवत ग्रंथ के द्वितीय स्कन्ध के चार श्लोक हैं। इन चार श्लोकों का सरस और प्रभावोत्पादक विवेचन १०३६ ओवियों में किया गया है। इसकी शैली वक्तृतायुक्त अर्थात् धाराप्रवाही है। लेखक कहता है—'जब मैं इसे लिखने बैठा तब शब्द के आगे ज्ञान और पंक्ति के आगे अर्थ दौड़ने लगा। मैं जो अपने मन में सोचता था वही मेरे सब ग्रंथ का अभिप्राय बन जाता था। अपनी पूर्वावस्था होने पर भी मैं ऐसी गंभीर टीका करने में प्रवृत्त हुआ इसका कारण

केवल सद्गुरु की कृपा है।' इस प्रथम कृति से स्वयम् ग्रंथकर्ता को संतोष हुआ। क्यों न होता? देखिये, कैसे उचित अलंकारों द्वारा उन्होंने विवेचित किया कि परमेश्वर और सृष्टि एक ही हैं।

'जो चीनी की मिठास है वही चीनी है। वैसे ही जो चिदात्मा हैं वही यह लोक है। संसार में मुझसे भिन्न और कुछ भी नहीं है। जैसे सुवर्ण ही सुवर्णालङ्कार बनता है, तन्तु से पट भिन्न नहीं रहता, मृत्तिका से घट भिन्न नहीं रहता, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म संसार मेरी चित्सत्ता से भिन्न नहीं है। जैसे वट और वट की जड़ें हैं वैसे ही मैं, परमात्मा और ये लोक हैं। प्रलय के पश्चात् मैं कछुये जैसा अपने अवयव समेट लेता हूँ। जिसे वस्त्र कहते हैं, जैसे यथार्थ में वह तन्तु है वैसे यह जगत् यथार्थ में चिद्रूप है।' आगे वे लिखते हैं—'मुझसे भिन्न और क्या है? जिसमें मेरा प्रवेश न हो? मेघमुख से गिरने वाले ओले क्या हैं? सिवाय इसके कि जल-बिंदु जमे हुये हैं। उनके गलते ही उनके सर्वांग से जल ही जल निकलेगा। उसी प्रकार जन जो है वही जनार्दन है, जनार्दन जो है वही जन है। ऐसे अभिन्न जनार्दन जगत् में प्रवेश करके भी अप्रविष्ट हैं।' विज्ञ पाठको! आप बतावें कि उपर्युक्त विवेचन पर गर्व या सन्तोष करना उचित है या नहीं? अपनी पहली 'चतुःश्लोकी' भागवत नामक कृति से एकनाथ ने सिद्ध कर दिया कि वे संत ज्ञानदेव का कार्य अग्रसर करेंगे। उन्होंने संत ज्ञानदेव के चिद्विलास और जन-जनार्दन की अभिन्नता, दोनों सिद्धान्तों का कैसा प्रभावोत्पादक और काव्यपूर्ण निरूपण किया! इस प्रथम कृति पर सद्गुरु जनार्दन स्वामी भी प्रसन्न थे और उन्होंने ऐसी ही रचनाएँ करने के लिए शिष्य को उत्तेजित किया।

हस्तामलक :—यह नाथ की दूसरी अध्यात्म-प्रतिपादन करने वाली रचना है। आद्य शंकराचार्य के प्रसिद्ध चौदह श्लोक के स्तोत्र पर यह काव्यमय सरस टीका है। इसकी ६७४ ओविएँ हैं। इसमें कवि ने हस्तामलक नामक एक काल्पनिक लड़के के चरित्र-द्वारा अपना आध्यात्मिक अनुभव रोचक ढंग से वर्णन किया।

शुकाष्टक :—यह तीसरी रचना है जो भगवान के 'शुकाख्यान' के आधार पर रची गई है। पूरा ग्रंथ आध्यात्मिक ज्ञान और ईश्वर के अव्यक्त स्वरूप के निरूपण से ओतप्रोत है। इसका भावार्थ है कि सच्ची अद्वैतावस्था त्रैगुण्य के परे होती है। इसकी ४४७ ओविएँ हैं।

स्वात्मसुख :—इस चौथी रचना की ५१० ओविएँ हैं। इसमें गुरु-स्तवन तथा गौरव, अद्वैत भक्ति और परमार्थ आदि विषयों का धाराप्रवाही और आकर्षक विवेचन है। इसमें नाथ की दृष्टान्त देने की शैली का परमोत्कर्ष दिखाई देता है।

आनन्दलहरी :—यह पाँचवीं संक्षिप्त परंतु उत्कृष्ट रचना है। इसकी २०० ओविएँ हैं परन्तु वे उचित और अन्वर्थक अलंकारों से ऐसी लदी हैं कि उसकी मधुरता वर्णन के परे है। अंत में नाथ ने सद्गुरु का आश्रय लेकर ब्रह्मज्ञान में प्रवेश करने का आर्ततायुक्त अनुरोध पाठकों से किया।

चिरंजीव पद :—यह ४२ ओविओं की छठी कृति अत्यधिक उत्कृष्ट है। इसमें नाथ, साधकों को लौकिक मोहों से सचेत या सावधान करते हैं। शैली इतनी रोचक और मर्मग्राही है कि उसका श्रवण या वाचन करते ही वाचक का हृदय भक्तिरस से आप्लावित हो जाता है।

उपर्युक्त छः आध्यात्मिक फुटकर रचनाओं में एकनाथ की लेखनशैली का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाई देता है। पहली एक-दो रचना में वे कुछ हिचकिचाहट का अनुभव करते थे परन्तु शीघ्र ही उनका अपनी अभिव्यक्ति में विश्वास होने लगा और अब तो वे पूरे आत्मविश्वास के साथ सहज में लोकोपकारी सहित्य की सृष्टि करने में संलग्न हुए।

पौराणिक आख्यान और संत-चरित्र :—एकनाथ जैसे-जैसे जनता के संपर्क में आने लगे वैसे-वैसे उनको अनुभव होने लगा कि निर्गुण या आध्यात्मिक विषयों के सरस विवेचन से साधारण जनता में अपेक्षित जिज्ञासा या रुचि नहीं पैदा की जा सकती क्योंकि वे विषय उसकी ग्रहणशक्ति के परे होते हैं। अतः उन्होंने जान-बूझकर अपने काव्य-विषयों को लोकानुकूल मोड़ दिया। वे एक अभंग में कहते हैं—'परम पवित्र सगुण चरित्रों का बड़े आदर से वर्णन करना चाहिए। विशुद्ध मनोभाव से संतों की वंदना करनी चाहिए और उनकी जीवनियाँ इस तरह कथन करनी चाहिए कि श्रोताओं के भावुक मन पर उनका क्रियाशील प्रभाव पड़े।' एवम् साधारण जनों की कथाप्रियता ध्यान में रखकर, सात्विक मनोरंजन के माध्यम से नीति, धर्म और भक्ति का उपदेश करने के लिए उन्होंने लगभग पच्चीस पौराणिक आख्यान और संत-चरित्रों की अत्यंत प्रासादिक रचना की। इनमें कुछ अभंग छंद में रचे हैं तो कुछ ओवी छंद में। अभंग

छंद के तुलसी-माहात्म्य, रुक्मांगदकथा, सीता-मंदोदरी की अभिज्ञता विशेष रोचक हैं। नाथ स्वयम् प्रपंची थे अतः प्रपंच में जिस विनोद का हम आस्वाद करते हैं उसका स्वानुभवनिष्ठ चटपटा वर्णन हलदुली, कृष्णदान और दत्तजन्माख्यान में पठनीय है। परंतु अन्त में वे जताते हैं कि देव भक्ति के बल पर ही वश किया जा सकता है। इसी चुस्त शैली में शिव-पार्वती-विवाह, गंगा-गौरी-कलह, हनुमज्जन्म और संदीपन-कथा की रचना की गई है। अब नाथ भक्तों की ओर मुड़े। उन्होंने अभंग छंद में भक्त प्रह्लाद, ध्रुव, उपमन्यु और सुदामा इनके चरित्र अति भावपूर्ण एवम् रोचक शैली में लिखे। संक्षेप में परंतु सरल एवं सरस भाषा में चरित्र कैसे लिखने चाहिए इसका आदर्श उन्होंने उपस्थित किया जिसका भविष्य में कई कवियों ने सफल अनुकरण किया। मनोरंजन द्वारा अध्यात्मनीति का बोध कराने में नाथ बहुत निपुण थे। वे पौराणिक भक्तों के पवित्र चरित्र कहकर ही कहीं रुके, उन्होंने निकट अतीत में हुए महाराष्ट्रीय संतों के भी चरित्र अति उत्कृष्ट शैली में लिखे। ये संत ऐतिहासिक व्यक्ति थे जिनमें संत ज्ञानेश्वर, निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्ताबाई और संत नामदेव प्रमुख हैं। उक्त संत-चरित्रों की कथन-शैली इतनी भक्तिरसभीनी है कि कहते नहीं बनती। एकनाथ स्वयम् उनमें एकरूप, समरस और तन्मय हुए दिखाई देते हैं। सचमुच एकनाथ श्रेष्ठ संत-चरित्रकार थे। उन्होंने मार्मिकता से निवृत्तिनाथ को विश्व का गुरु और तीर्थों का तीर्थ कहा, ज्ञानेश्वर को संतों का मायका, कैवल्य की मूर्ति और सब सुखों की लहर कहा, मुक्ताबाई को योगियों की विश्रांति कहा और संत नामदेव को वैष्णवों का राजा कहा। उनके पूर्व हुए श्रेष्ठ वारकरी संतों का उन्होंने ऐसा गुणगान किया जिसमें वारकरी सम्प्रदाय के प्रचार को अत्यधिक सहायता मिली। इनमें उनकी जो नम्रता, गुणग्राहिता और भावुकता है वह केवल आस्वाद्य है, वर्ण्य नहीं। उपर्युक्त पौराणिक एवम् ऐतिहासिक संतों के चरित्रों का प्रभावोत्पादन कथन वे स्वयम् अपने कीर्तनों में बार-बार करते थे। वे यशस्वी कीर्तनकार भी थे। उनकी रसीली वाणी से संत-चरित्र सुनने के लिए साधारण जनता व्याकुल रहती थी, चातक जैसी राह देखती थी। उनकी प्यास का समाधान करने के लिए एकनाथ अपनी कल्पना और कथा-कथन-शैली के बल पर निर्दोष संतचरित्र रचते थे जिनमें उनकी काव्य-प्रतिभा के वैभव की सुरम्य झाँकी मिलती है।

अभंगों में अभेद्‌भक्ति का उत्कर्ष :—पूर्व संतों के समान ही एकनाथ ने हजार फुटकर अभंगों की सरस रचना कर मराठी का अभंग-साहित्य पुष्ट किया। संत विनोबाजी ने अपनी 'एकनाथ के भजन' नामक उत्कृष्ट पुस्तक में उन अभंगों को निम्नलिखित प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया है—१ कर्मयोग और चित्तशुद्धि, २ नामस्मरण और कीर्त्तन, ३ सत्संगति और गुरुभक्ति, ४ भक्तियोग, ५ आत्मदर्शन। इसके अतिरिक्त आत्मकथन पर कई अभंग हैं। संत विनोबा ने उक्त पुस्तक में साधार सिद्ध किया कि एकनाथ ने अद्वैत भक्ति का परमोत्कर्ष किया। वे लिखते हैं—'आद्य शंकराचार्य को भक्तितत्त्व ऊँचा था किन्तु उनकी राय में अद्वैतानुभव में भक्ति कुंठित होती थी। संत ज्ञानेश्वर ने भक्ति-सिद्धांत को बहुत आगे बढ़ाकर सिद्ध किया कि अद्वैतानुभव में भक्ति करना शक्य है। एकनाथ महाराज ने दोनों के आगे जाकर स्वानुभव के बल पर कहा कि अद्वैतानुभव के बिना खरी भक्ति हो नहीं सकती और सच्ची भक्ति का रहस्य जाना भी नहीं जा सकता। उन्होंने उत्कट भक्ति और अद्वैत में अभिन्नता प्रस्थापित कर अद्वैतभक्ति का परमोत्कर्ष संपादित किया। उन्होंने कई अभंगों में 'जनता में जनार्दन है, जनार्दन का जीता-जागता रूप जनता है, निरपेक्ष जनसेवा ही सच्ची ईश्वर-भक्ति है, लोकमंगल ही उत्कृष्ट भक्ति है' सिद्धान्त का प्रभावोत्पादक प्रतिपादन किया और अद्वैतभक्ति का स्वतः आचरण करके बताया। 'जन' को 'जनार्दन' मानने के कारण साधना कर्मयोगमय ही हो सकती है। अतः एकनाथ ने अपने अभंगों में कर्मयोग का समतायुक्त समर्थन किया और बार-बार जनता से अनुरोध किया कि वह समाज में ऊँच-नीच के भेद को समाप्त करे। उन्होंने डंके की चोट कहा कि—'निष्ठुर कर्मकाण्ड और पाखण्ड को हरिभजन की सहायता से नष्ट करने के लिए मेरे जैसे संतों का अवतार होता है। उन्होंने स्फुट अभंगों में जो अनमोल उपदेश दिये वे आगे चलकर अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'भागवत' में संगृहीत किये। अतः उनके विषय में यहाँ विस्तृत कथन आवश्यक नहीं है।'

लोकगीतों की रचना :—लोकानुरंजन के साथ ही जटिल दार्शनिक विषयों पर अप्रत्यक्ष रीति से प्रकाश डालकर साधारण जनों को भक्ति की ओर उन्मुख करने के उद्‌देश्य से एकनाथ ने कई लोकगीतों की चमत्कृतियुक्त रचना की। इनको मराठी में 'भारुड़' कहते हैं। ये लोकगीत पंढरपुर के वारकरियों के मुख से सदा सुने जाते हैं। नाथ के लोकगीत बहुत लोकप्रिय हैं। इन्होंने लगभग

सौ विषयों पर तीन सौ से अधिक गीत लिखे हैं जो तत्कालीन लोकस्थिति, भावनाओं आदि का सत्यतापूर्ण चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं। इनकी भाषाशैली प्रायः सरल और सुबोध है परंतु आध्यात्मिक रूपकों का व्यवहार करने के कारण कई गीत दुरूह बन गए हैं। उदाहरणार्थ यहाँ उनके एक रूपकात्मक लोकगीत का हिंदी अनुवाद हम उद्धृत करते हैं 'कायापुर नामक एक कसबा (शरीर) है जिसकी लम्बाई साढे तीन गाँवों (हाथ) के बराबर है। उसमें तीन सौ मोहल्ले (हड्डियाँ) हैं। वहाँ उमराव (आत्मा) रहते हैं। इस कसबे में चौदह चौक (अस्थिसंधियाँ) और अपूर्व रास्ते (इन्द्रियाँ) हैं। कसबे के मालिक (ईश्वर) ने उसकी सनद जीवाजी पंत (जीव) के नाम लिख दी है। शिवाजी पंत (आत्मा) ने जीवाजी को अपना मंत्री बनाकर रखा है। परन्तु उसका मन षड्विकारों से पूर्ण है अतः वह बीच में ही ठग लिया जाता है। इसका सब भेद आप समझ लें। कामाजी (काम) उस कसबे का थानेदार है जिसने अभी तक अनेकों को ठगा है और जिसे विष्णु तथा शिव की इज्जत लेने में भी संकोच नहीं है। क्रोधा जी (क्रोध) वहाँ का फौजदार है जिसने जमदग्नि और दुर्वासा जैसे महर्षियों को भी परास्त कर दिया। लोभाजी (लोभ) वहाँ का चौधरी है। अहंकार वहाँ का पटेल है जिससे सब गाँव काँपता है। दंभाजी सेठ (दंभ) सदैव दौड़-धूप किया करते हैं। उनके इस दौरदौरे से सारा गाँव उजाड़ हो चला है। हे जीवाजी (जीव)! अब तुम अपने राजा शिवाजी पंत को सब हिसाब देकर अपनी सफाई दो अन्यथा पैर में अनुहात की बेड़ी डालकर तुम कैद किये जाओगे (पुनर्जन्म के लिये पुनः गर्भ में भेज दिये जाओगे) बिना ऐसा किये अब गांव (शरीर) का ठीक तरह चलना संभव नहीं है। एकनाथ स्वामी कहते हैं कि गुरु (परमेश्वर) के चरणों को बिना दृढ़ता से पकड़े उद्धार न हो सकेगा।' (श्रीकृष्णलाल हंसकृत अनुवाद)

पाठक-गण देखें कि एक साधारण से गीत में कितना सुन्दर आध्यात्मिक रूपक भर दिया है। सचमुच एकनाथ के लोकगीतों के संग्रह को महाराष्ट्र-शारदा का अजायबघर ही कहना चाहिए जिसमें सज्जन, दुर्जन, पशु, पक्षी, देव, भूत, प्रेत, मूर्ख, पापी, कवि, संत, ब्राह्मण, धेड, कुत्ता, बिच्छू, साँप, सपेरा, बुढ़ापा, सास, बहू, भक्त इत्यादि सभी को स्थान प्राप्त है। यह अद्भुत रचना एकनाथ जी की प्रतिभाशक्ति की परिचायक है। जिस महाराष्ट्र में वेरूल की गुफा में शिल्पकला

का परमोत्कर्ष हुआ उस महाराष्ट्र में एकनाथ ने इन लोकगीतों के रूप में वाङ्मय-गुफा बना कर कल्पनाशक्ति का कमाल भर दिया। कई गीतों में ऐसे तीखे व्यंग हैं जिन्हें सुनते ही सम्बद्ध व्यक्ति तिलमिला उठते हैं। कई लोकगीतों की शैली इतनी चटपटी है कि उनका श्रवण करते ही श्रोता आनंद-विभोर हो जाते हैं। कई लोकगीतों में विनोद इतना ओतप्रोत है कि उनके श्रवण से श्रोता लोट-पोट हो जाते हैं। कई लोकगीतों में सामाजिक कुरीतियों की इतनी कड़ी आलोचना की गई है कि सम्वद्ध रूढि को तत्काल नष्ट-भ्रष्ट करने की भावना प्रबल हो उठती है। कई गीतों में जाति-पांति की उच्चता-नीचता के विरुद्ध ऐसे घोर प्रहार किए गए हैं कि मानवकृत भेद का खोखलापन तत्क्षण प्रत्यक्ष हो जाता है और श्रोतृगण समता का पल्ला पकड़ लेते हैं। कई गीतों में प्रचलित सामाजिक दंभ, स्वांग, कुनीति, इत्यादि पर ऐसे तीक्ष्ण वार किए गए हैं कि समाज में शुद्धाचार एवम् सुनीति प्रस्थापित करने को श्रोता उन्मुख हो पड़ते हैं। इन लोकगीतों की विविधता कहते नहीं बनती। समाजशास्त्र की दृष्टि से उनका बहुत बड़ा महत्त्व है क्योंकि तत्कालीन महाराष्ट्र समाज का उनमें पूरा प्रतिबिम्ब है। एकनाथ श्रेष्ठ परमार्थी थे परंतु लोकजीवन के हास-परिहास से वे विमुख नहीं थे। इसके अलावा लोकजीवन के हास-परिहास में रुचि लेकर वे उसे अधिक सात्विक बनाते थे। इन भारुडों (लोकगीतों) के रूप में उन्होंने मराठी साहित्य को अनूठी देन देकर मराठी के लोक साहित्य को खूब समृद्ध किया। अब वे प्रौढ़ ग्रंथों की रचना करने की ओर मुड़े।

भागवत :—यह एकनाथ महाराज की सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक रचना है। यह 'नाथभागवत' के नाम से महाराष्ट्र में बहुत लोकप्रिय है। वारकरीसम्प्रदाय में ज्ञानेश्वरी के बाद नाथभागवत को पूज्य ग्रंथ माना जाता है। ज्ञानेश्वरी का आधार श्रीकृष्णार्जुन-संवाद है तो नाथ भागवत का आधार श्रीकृष्णोद्धव संवाद है। हिन्दुओं में रामायण और महाभारत के समान श्रीमद्भागवत का भी पठन-पाठन अति श्रद्धा से किया जाता है। उक्त श्रद्धा को लोकसंग्रह एवम् समाजोद्धार की ओर मोड़ने की दृष्टि से क्रान्तद्रष्टा कवि एकनाथ ने सन् १५७३ में भागवत् पर सरस एवम् प्रौढ़ टीका लिखी। ज्ञानेश्वरी श्रीभगवद्गीता की भावार्थ-दर्शक टीका है तो नाथभागवत श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध पर एक अद्वितीय टीका है। ज्ञानेश्वरी के बाद यह ऐसी सर्वांगपूर्ण टीका है जिस पर

मराठीभाषाभाषियों का गर्व करना सर्वथा उचित है। इसकी कुल १८८०० ओविएँ हैं। यह ज्ञानेश्वरी से दुगनी बड़ी है। इसकी रचना का प्रारम्भ पैठन में हुआ पर इसकी समाप्ति पवित्र क्षेत्र वाराणसी में हुई। इस महान ग्रंथ की रचना के पीछे बड़ा उद्‌बोधक इतिहास है। जब एकनाथ ने भागवत पर मराठी में टीका लिखना प्रारम्भ किया तब पैठण के संस्कृताभिमानी पंडितों ने उनका विरोध किया परंतु एकनाथ ने अपनी स्वाभाविक शांति से उनका विरोध निगल लिया। उनकी प्रासादिक रचना की कीर्त्ति वायुवेग से बढ़ती गई। जब वाराणसी के कट्टर संस्कृताभिमानी विद्वानों के कानों तक वह पहुँची तब उन्होंने एकनाथ को आदेश भेजा कि वे अपनी कृति लेकर वाराणसी आवें। उक्त समय तक नाथभागवत के पाँच ही अध्याय समाप्त हुए थे। धर्ममार्तण्डों की आज्ञा को प्रमाण मानकर एकनाथ वाराणसी पहुँचे। प्रारम्भ में संस्कृत के पक्षपातियों ने उनको बुरी तरह से अपमानित करके उनको अपने कार्य से विमुख होने को कहा। परंतु एकनाथजी ने नम्रता से अपनी असमर्थता प्रगट की और पंचगंगा घाट पर बैठकर आगे की रचना करने में लग गये। चंद महीनों में टीका की प्रौढ़ता एवं सरसता को देखकर संस्कृत पंडितों में से कई सज्जन उसका आदरपूर्वक श्रवण करने लगे। अन्ततोगत्वा ग्रंथसमाप्ति होते ही पूर्व-विरोधकों में से बहुतेरों ने 'नाथभागवत' की पाण्डुलिपि को पालकी में रखकर उसका जय-जयकार करते हुये जुलूस निकाला और फूल-मालायें चढ़ाकर उसकी भक्तिपूर्वक पूजा की। संक्षेप में उक्त ग्रन्थ में विरोधकों को पूजक बनाने की सामर्थ्य है यह उसी समय सिद्ध हो गया। इस अलौकिक ग्रन्थ का ऐसा अलौकिक इतिहास है। एकनाथ ने तीन साल और पाँच महिनों में उक्त रचना समाप्त की। भागवत जैसा ग्रन्थ, एकनाथ जैसा संत एवं रससिद्ध वक्ता, फिर रचना की सरसता में क्यों न्यूनता रहे? आइए, हम भी उसका कुछ रसास्वाद लें।

यह भागवत धर्म का बृहत् ग्रन्थ है जिसमें भागवत धर्म की परंपरा, स्वरूप, विशेषताएँ, ध्येय, साधना इत्यादि सब कुछ मूल भागवत के आधार पर प्रासादिक शैली में विवेचित है। एकनाथ ने भागवतधर्म को अधिक उदार और मानवतावादी बनाया। वे कहते हैं—'सब भूतों में भगवद्भाव का अनुभव करना भागवतधर्म की आत्मा है। अतः सबसे मैत्री करो, प्रेम रखो और सबके साथ समान रहो।' वे वर्ण या जातिनिष्ठ श्रेष्ठता को हटाना चाहते थे अतः

वे लिखते हैं—'वर्णों में चाहे कोई सबसे श्रेष्ठ क्यों न हो, वह यदि हरिचरणों से विमुख है तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जो प्रेम से भगवद्भजन करता है।' इसी तरह उनकी भक्त की व्याख्या देखिये—'स्वकर्म, धर्म, वर्णाचार तथा अपने अन्य सब व्यवहारों को करते हुये भी जो सब भूतों को मदाकार (भगवदाकार) देखता है वही परमेश्वर का प्रिय है।' नाथ ने गृहस्थाश्रम का कैसे आदर किया, देखिये—'गृहस्थाश्रम में रहकर भी जिसका चित्त भगवान् के रंग में रँग गया और इसके कारण जिसकी गृहासक्ति छूट गई, उसे गृहस्थाश्रम में भी भगवत्प्राप्ति होती है।' अतः प्रपंच का त्याग न करते हुये अभेद भक्ति, वैराग्य और ज्ञान का स्वयं आचरण करके इसी मार्ग पर दूसरों को लाने के प्रयत्न को वे लोकसंग्रह कहते हैं। लोक-संग्रह करते समय अन्तःशुद्धि का मुख्य साधन हरिकीर्तन है। नाम-स्मरण के समान और कोई साधन नहीं है। नामस्मरण ही सबसे सरल उपाय है। साधनों में मुख्य साधन भक्ति है। भक्ति में भी नाम-कीर्तन विशेष है। नाम से चित्त-शुद्धि होती है—साधकों को स्वरूप-स्थिति प्राप्त होती है। तपाचरण से जो कुछ मिलता है, सांख्य-ज्ञान-विचार से जो कुछ मिलता है, वेदाध्ययन से जो कुछ मिलता है, वह सब नाम-स्मरण से प्राप्त होता है। दुर्गम गिरि-कंदराओं को लाँघे बिना ही सब साधनों के फल भक्त के द्वार पर आ जाते हैं।' एवम् भक्ति की महत्तम श्रेष्ठता बताकर वे कहते हैं—जब सूर्यनारायण प्राची दिशा में आते हैं तब तारे अस्त हो जाते हैं, वैसे ही भक्ति के प्रबोधकाल में कामादिकों की होली हो जाती है।' चित्त की शुद्धि के बिना आत्मज्ञान होना संभव नहीं हैं। वे कहते हैं—'बहते हुए पानी पर चाहे कितनी लकीरें खींचो, एक भी लकीर न खिंचेगी, वैसे ही चित्तशुद्धि के बिना आत्मज्ञान की एक भी किरण प्रगट न होगी।' एवम् आचार-विचार की शुद्धि का महत्त्व बताने के बाद वे साधक की नई व्याख्या करते हैं—'जिससे अपने आपको दुःख होता है वैसा बर्ताव जो किसी प्राणी से कभी नहीं करता, जिससे अपने आपको सुख होता है वैसा बर्ताव जो दीन जनों से करता है वह खरा साधक है।' एकनाथ ने तीन प्रकार के भक्त कहे हैं—प्राकृत, मध्यम और उत्तम। वे मूर्तिपूजक को प्राकृत, ईश्वर के ध्यान में रहकर प्राणिमात्र को समान दृष्टि से देखनेवाले को मध्यम और प्राणिमात्र में ईश्वर-दर्शन करनेवालों को उत्तम भक्त कहते हैं। संक्षेप में उन्होंने प्रपंच को परमार्थनिष्ठ बनाने का स्वानुभवयुक्त उपदेश सबको दिया। वे भक्ति, विरक्ति और ईश-प्राप्ति एकरूप मानते थे।

उन्होंने निष्काम कर्मयोग, अभेद भक्ति और ज्ञानोत्तर भक्ति का ही प्रभावोत्पादक विवेचन किया। तात्पर्य यह कि संत ज्ञानेश्वर का तत्वज्ञान उन्होंने पूरी तरह से स्वीकार कर उसको अधिक उदार, विस्तृत, समावेशक और सरल एवं सुबोध बनाया। जहाँ-तहाँ गुरुभक्ति, कृष्ण-भक्ति, भाषा-भक्ति और भागवत-भक्ति के तडपनयुक्त रसभीने उल्लेख मिलते हैं जिन्हें पढ़ते ही पाठकों का हृदय पसीज जाता है। नाथभागवत उत्कृष्ट भाष्य ग्रन्थ है। उसमें वर्णित विषयों की सूची देना भी कठिन है परन्तु उसका निचोड़ उद्धृत करने की हमने चेष्टा की।

साहित्यिक अंग:—नाथभागवत का साहित्यिक अंग भी बहुत समृद्ध है। एकनाथजी ने पावनसलिला गङ्गाजी के तट पर आसनस्थ होकर उक्त ग्रंथ की रचना की, इससे प्रतीत होता है कि गङ्गा की गंभीरता, पवित्रता, प्रौढ़ता, गहराई, मधुरता और अह्लादक्षमता उसमें भर गई। जैसे गंगामाता के तट पर जाते ही उसकी मंद-शीतल वायु दर्शक का श्रम-परिहार करती है वैसे ही नाथभागवत के पठन-पाठन और श्रवण से त्रस्त श्रोता को तत्काल सुख की झलक आह्लादित करती है। उसकी प्रासादिक एवं प्रवाहयुक्त भाषाशैली वर्णन के परे है। जैसे संत ज्ञानदेव उपमाओं की योजना करने में निपुण हैं वैसे संत एकनाथ रूपकों की समुचित योजना में सिद्धहस्त हैं। उक्त ग्रंथ में जहाँ-तहाँ रूपक रत्न बिखरे मिलते हैं। कहीं-कहीं परंपरित रूपकों का विस्तार चालीस या पचास ओवियों तक व्याप्त है। बारहवें अध्याय के प्रारम्भ में सद्गुरु को वसंतऋतु का रूपक देकर जो रसभीना नमन किया है उसकी दीर्घता देखते और पढ़ते ही बनती है। काव्य और अध्यात्म का ऐसा अनूठा संगम अन्य कहीं देखने में नहीं आता। रूपकों में अध्यात्मपरक अर्थ भरने में एकनाथ की टक्कर का दूसरा कवि नहीं दृष्टिगोचर होता। उन्होंने सद्गुरु को परमार्थ मार्ग का ज्योतिषी, धनवन्तरि, क्षीरसागर, महामेरु और चिरसमुद्र कहकर जो परंपरित रूपक बनाये उनकी रचना में उनकी काव्यप्रतिभा का परमोत्कर्ष दीख पड़ता है। उक्त रूपकसृष्टि देखकर उनके भाषाप्रभुत्व, कल्पनावैभव और कथन-कौशल का अच्छा परिचय प्राप्त किया जा सकता है। सचमुच एकनाथ रूपकसम्राट् थे। संक्षेप में ज्ञानेश्वरी के बाद नाथभागवत जैसी सर्वांगपरिपूर्ण टीका मराठी में नहीं लिखी गई। अतः वारकरी सम्प्रदाय के पूजनीय ग्रंथों में उसका समावेश किया जाना उचित ही है।

रुक्मिणी-स्वयंवर:—यह मराठी का अनूठा प्रबंधकाव्य है। इसकी रचना सन् १५७१ में हुई। भागवत की रचना के साथ ही एकनाथ जी उक्त रचना कर रहे थे। अर्थात् इसकी रचना पावनसलिला जाह्नवी के तट पर वाराणसी में मणिकर्णिका घाट पर हुई। यह पौराणिक कथाकाव्य कवि की कीर्ति के अनुरूप है। इसमें भी ब्रह्मज्ञान का रस झर रहा है। मराठी में इतना व्यापक आध्यात्मिक रूपक दुर्लभ है और यही इसका अनूठापन है। इसकी रचना के पीछे भी इतिहास है। एकनाथ महाराज अपने निष्ठावंत सेवक श्रीखण्डिया का विवाह कराना चाहते थे। पर उक्त श्रीखण्डिया अकस्मात् अदृश्य हो गया। परंतु पीछे जब उन्हें मालूम हुआ कि श्रीखण्डिया साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान था तब उन्होंने रुक्मिणी-स्वयंवर रचा और यह वाङ्मयात्मक विवाह संपन्न किया। इसमें लौकिक स्वयंवर की सभी बातों का बड़ा आकर्षक और रसीला वर्णन है। परन्तु यथार्थ में यह अध्यात्म-प्रधान प्रबंधकाव्य है। इसके अठारह प्रकरण और उनमें १७१२ ओवियाँ हैं। पहले सात प्रकरणों में रुक्मिणीहरण, बाद के छः प्रकरणों में युद्ध-वर्णन और शेष पाँच में स्वयंवर-विवाहादि का विस्तृत वर्णन है। पूरी रचना बहुत ललित है। कवि की वर्णनशैली का यहाँ परमोत्कर्ष दीख पड़ता है। वह गंगाप्रवाह के समान गम्भीर, दिव्य, आह्लाददायक और सुंदर है। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का विवाह भगवान् और उनकी चित् शक्ति का मिलन है। यह जीव-शिव का मिलाप है। कृष्ण-कथा होने के कारण यह भक्तों को प्रिय है, जीवशिवैक्य-प्रतिपादन होने से पारमार्थिकों को प्रिय है और परिचित विवाह-समारोह का मार्मिक एवम् आकर्षक वर्णन होने से प्राकृत जनों को भी उतना ही प्रिय है। कथोपकथन और चरित्र-चित्रण कौशलयुक्त है। ऐसे दिव्य ग्रंथ के कुछ अवतरण पढ़िए।

रुक्मिणी कैसी थी ?:—'विवेक के साथ जैसे श्रद्धा सोहती है वैसे ही भीमक राजा को शोभा देनेवाली शुद्धमती रानी प्राप्त हुई थी। इनसे श्रीकृष्ण की चित् शक्तिरूपी रुक्मिणी कन्या हुई। पाँच विषयों के अन्त में जैसे सुषुप्ति उत्पन्न होती है वैसे ही रुक्मी आदि पाँच भाइयों के पीछे नवविधा भक्ति के नव मास पूरे होने पर गौरवर्ण रुक्मिणी उत्पन्न हुई।' श्रीकृष्ण के स्वरूप का अध्यात्मप्रचुर वर्णन पढ़िये—'जो निर्गुण, निर्विकार, निष्कर्म, निरुपचार है वही श्रीकृष्ण साकार लीला-विग्रह हुये हैं। उनके चरणतलों का रंग इतना शोभायमान है कि लाल कमल भी फीका जान पड़ता है। उनके पैरों की गोल

एड़ियाँ बालसूर्य के समान उज्ज्वल हैं।.........चरणों के नूपुरों से सोऽहं भाव के ऐसे छंद निकल रहे हैं, जो मानो मुमुक्षुओं के सोये हुये मन को जगा रहे हैं। शून्यरहित जो निरवकाश है वही श्रीकृष्ण हृदय है, वृत्तिशून्य होकर संत उसी में रहते हैं। ज्ञान, वैराग्य शक्ति-सम्पुट से जो मोती निकले उन्हीं की माला कण्ठ में शोभा पाती है।.........चारों क्रिया-शक्तियाँ उनकी चार भुजाएँ हैं। एक-एक भुजा में एक-एक आयुध है।' रुक्मिणी के बड़े भाई रुक्मी ने श्रीकृष्ण की जो निंदा की उसको एकनाथ ने अध्यात्मप्रचुर भाषा में प्रगट किया जो पठनीय है।

द्वारका कैसी थी ?:—'द्वारका के बाह्य प्रदेश में जीव-शिव रमण करते हैं। बसंत सुमन को सदा सुप्रसन्न रखता है। ताप-संताप किसी को होता नहीं। विमल प्रेम के कमल खिल रहे हैं, कृष्ण षट्पद (कृष्ण भौंरे) गुञ्जार कर रहे हैं, जिसे सुनकर गन्धर्व मुग्ध होकर चुप बैठे हैं, सामवेद भी मौन हो गये हैं।... कृष्ण कोकिलाएँ अपनी मधुरवृत्ति से निःशब्द का शब्द कूजन करती हैं।...... शुकादि पक्षी गान करते हैं जिसे सुनकर वेदान्त दंग रह जाता है। द्वारका के पक्षियों की बोली से ब्रह्म का गुह्यार्थ प्रगट होता है।' इत्यादि। श्रीकृष्ण के पास रुक्मिणी ने जो अंतिम संदेश भेजा था उसको पढ़िये। रुक्मिणी कहती हैं'—मन से, वाणी से और काया से मैं तुम्हारी हो चुकी। हे यदुराय! अब विवाह-विधि करना शेष है सो तुम शीघ्र करो। ऐसा न हो कि कृष्ण-केसरी की चीज शिशुपाल श्रृगाल ले जाय।......यदि तुम्हारी कृपा न हो तो ऐसे जीने में क्या रखा है ? देह दण्ड की इस बेडी का बोझ और बन्धन व्यर्थ ही कौन ढोता फिरे।' इत्यादि। विवाह के पश्चात् लाज और अभिमान त्याग कर मन को निर्विकल्प करके रुक्मिणी जब श्रीकृष्ण के चरणों में रम गयी तब का अध्यात्म-प्रचुर वर्णन पढ़िये—'चरणों का आलिङ्गन होते ही अहं सोहं की गाँठें खुल गयीं। सारा संसार आनन्दमय हो गया। सेव्य-सेवक भाव का कोई चिह्न ही नहीं रह गया। विवाह का कोई स्मरण भी न रहा। देवी और देव एक हो गये।' उदाहरण के तौर पर कुछ संक्षिप्त अवतरण ऊपर दिये गए हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ ही बड़े-बड़े आध्यात्मिक रूपकों से ओत-प्रोत है। यहाँ तक कि रुक्मिणी के वक्षःस्थल का वर्णन भी ऐसा है—'एक ही अङ्ग में भिन्न-भिन्न रूप से जीव और शिव दोनों बढ़े, इससे कामिनी कुचभार से घनस्तनी हो उठी।......रुक्मिणी-कृष्ण

आलिंगन ही जीव-शिव-संयोग है। इसीसे दोनों स्तन उभरे थे, श्रीकृष्ण का स्पर्श चाहते थे।' एकनाथ ने भोजन पर भी अध्यात्म का रूपक रचा जो केवल आस्वाद्य है, वर्ण्य नहीं। संक्षेप में विवाह की एक एक बात का विशद एवं सुंदर वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है और उसमें भगवान् और भक्त के आनंदमय अखण्ड मिलन की साधना सरसता से बतायी गई है। सचमुच यह एकनाथ की अनूठी देन है। इस प्रबन्ध काव्य की सफल रचना करके उन्होंने अपना महाकवित्व सिद्ध कर दिया।

ज्ञानेश्वरी का संशोधित पाठ (सन् १५८४) :—एकनाथ जी की प्रतिभा सचमुच बहुमुखी थी। वे जैसे प्रतिभाशाली महाकवि थे वैसे प्रयत्नशील संशोधक भी थे। उन्होंने अपने आदर्श संत ज्ञानेश्वर की समाधि का आलंदी जाकर जीर्णोद्धार किया। वहाँ उनको ज्ञानेश्वरी के कई पाठ सुनने को मिले। आपने संशोधन करके प्रामाणिक पाठ तैयार करने का तत्काल निश्चय किया और तन-मन-धन से उसमें लगे। उन्होंने कई पाण्डुलिपियाँ प्राप्त कीं और अथक परिश्रमपूर्वक उनका तुलनात्मक अध्ययन करके एक प्रामाणिक पाठ की शुद्ध प्रति जनता को भेंट की। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त पाठ उन्होंने संत ज्ञानेश्वर की प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुकूल ही किया होगा क्योंकि वे संत ज्ञानेश्वर के तत्त्वज्ञान से पूर्णतया एकरूप हो गये थे। उन्होंने इस संशोधित प्रामाणिक पाठ के अन्त में लिखा है अब 'ज्ञानेश्वरी के शुद्ध एवम् प्रामाणिक पाठ में जो कुछ भी संशोधन करने की चेष्टा करेगा उसका कार्य सोने की थाली में नारियल की कटोरी रखने जैसा हास्यास्पद होगा।' उक्त संशोधन ने मराठी साहित्य का बड़ा उपकार किया। इस दृष्टि से भी एकनाथ ने संत ज्ञानेश्वर का कार्य अग्रसर किया।

भावार्थरामायण :—यह एकनाथ की अन्तिम और अपूर्ण रचना है। परंतु यह ग्रंथ बहुत बड़ा है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि एकनाथ ने वाराणसी में संत तुलसीदास-कृत रामचरितमानस का श्रवण या पाठ किया होगा और उसका अनुकूल प्रभाव उनके रसग्राही, भावुक और विचारशील मन पर अवश्य हुआ होगा, क्योंकि वाराणसी से लौटने पर उन्होंने भावार्थरामायण की रचना का प्रारम्भ किया। अतः इस विषय में संत तुलसीदास जी उनके स्फूर्तिदाता थे यह मानने में हमें कोई हिचक नहीं मालूम होती। ऐतिहासिक तथ्य से यह सिद्ध करना कठिन है परंतु अनुमान प्रमाण से यही माना जा सकता है।

भावार्थरामायण की रचना का हेतु :—जैसे आध्यात्मिक रूपकों (भारूडों) द्वारा संत एकनाथ ने सामाजिक दोषों की व्यंग्ययुक्त आलोचना की वैसे भावार्थरामायण में राम-रावण का रूपक चित्रित कर सामयिक राजनीतिक परिस्थिति की खरी जानकारी साधारण जनों को उन्होंने करायी। उन्होंने बार-बार कहा कि देवों की दासता नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए कोदंडधारी राम का अवतार हुआ था। राम का अवतार-कार्य दुष्टों का नाश करके साधुओं की रक्षा करना और धर्म का उद्धार करना था। दुष्टों का विनाश करने के लिए परमेश्वर पुनः अवतार धारण करेगा अतः जनता को धैर्य के साथ प्रचलित जुलुमी परिस्थिति का मुकाबला करना चाहिये। इस प्रकार की सूचना उनके ग्रंथ से मिलती है। कड़े शासन के कारण वे स्पष्टता से कह नहीं सकते थे अतः उन्होंने वक्रोक्ति का आश्रय लेकर जनता में धैर्य, क्रियाशीलता और भक्ति की भावना प्रसृत करने की भरसक चेष्टा की। कहीं-कहीं 'जैसे को तैसा (शठं प्रति शाठ्यम्) नीति का उपदेश देकर जनता में प्रतिकार की चेतना उन्होंने फैलायी।

इसके भी अन्य रामायणों के समान सात काण्ड हैं जिनके २९७ अध्याय हैं। इनमें एकनाथ ने पाँच काण्ड पूरे और छठे काण्ड के ४४ अध्याय लिखे और शेष ग्रन्थ उनके सच्छिष्य गावबा ने पूरा किया। कुल ४० हजार ओवियों में एकनाथ ने पचीस हजार ओवियाँ रची थीं। वे बीच में ही समाधिस्थ हुए। रामकथा, ब्रह्मकथा और सामयिक, राजनीतिक एवम् सामाजिक परिस्थिति का अनूठा त्रिवेणीसंगम इस महान पौराणिक काव्य में है। इसकी रचना करने में यद्यपि उन्होंने वाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण, भागवत और योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थों का आधार लिया था तो भी एकनाथ की मौलिक प्रतिभा और रचनाकौशल जहाँ-तहाँ दीख पड़ते हैं। कोई कह नहीं सकता कि यह अनुकृति या प्रतिकृति है। यह सर्वथा मौलिक महाकाव्य है। ग्रन्थ जितना विशाल है, उतना ही बोधप्रद, सरस और प्रभावोत्पादक है। इसमें जहाँ आध्यात्मिकता के कारण प्रौढ़ता और गंभीरता है वहाँ परिचित मानवीय स्वभाव का मार्मिक और सुरुचियुक्त सरस चित्रण होने के कारण आकर्षकता भी है। कथोपकथन, स्वभावचित्रण, रचनाकौशल, युद्धवर्णन, प्रकृति वर्णन इत्यादि अति रसयुक्त और हृद्य हैं। संपूर्ण रामकथा अध्यात्म तंतुओं से बुनी हुई है।

'भावार्थरामायण' नाम क्यों दिया गया ? :—मुख्यार्थ प्रगट कर

परमार्थ का दर्शन करना काव्य का प्रधान प्रयोजन एकनाथ मानते थे। अतः आत्मज्ञानी, विद्वान् और साधारण भावुक जनों के लिये समानता से आकर्षक प्रतीत हो ऐसी रामायण की रचना उन्होंने की। सोलहवीं सदी में हिंदू समाज की सब तरह से अवनति हो चुकी थी। मुसलमानों की जुल्मी राजसत्ता ने हिंदुओं को नीतिभ्रष्ट कर दिया था। सगे भाइयों में अनबन, ईर्ष्या और मत्सर दिखाई देता था। जहाँ-तहाँ स्वार्थ, मोह, लोभ के वश होकर हिंदू गृहयुद्ध करने में लगे हुए थे। पिता, भ्राता, भार्या, माता, बहिन, मित्र, पुत्र इनके पवित्र सम्बन्धों को एवं तत्सम्बद्ध कर्तव्यों को हिंदू लोग भूल से गये थे। ऐसे भ्रष्ट और दीन हीन हिंदू समाज में जान फूँकने के लिये तत्कालीन क्रान्तदर्शी महाकवियों ने प्रभु राम का आदर्श स्वभाव-चित्रण जनता के सम्मुख उपस्थित किया जिसका अनुकरण करके हिंदू समाज अपने को सँभाल सका। इन भारतीय महाकवियों में संत तुलसीदास, संत एकनाथ और कृत्तिवास इनका समावेश होता है। अतः सामयिक परिस्थिति का प्रतिबिम्ब भावार्थ-रामायण में देखने को मिलता है। राक्षसों का इस तरह वर्णन किया गया है मानो वे अत्याचारी मुसलमानगुण्डों जैसे थे। रावण की निरंकुशता सुलतान की ताना-शाही-जैसी वर्णित है। संक्षेप में रचना का ध्वन्यर्थ सामयिक लोक-परिस्थिति पर प्रकाश डालता था। ग्रन्थकार उस विषम और भयानक परिस्थिति में इससे अधिक स्पष्टता से नहीं लिख सकता था।

कुछ अवतरण:—अजन्मा राम का जन्म पढ़िये—'अज से, उत्पत्ति के हेतु जो दशेन्द्रिय उत्पन्न हुए वे ही मानो अति समर्थ राजा दशरथ थे जो तीनों लोकों में विख्यात हुये। उनकी तीन रानियाँ थीं जिनमें ज्येष्ठा कौशल्या सद्विद्या, सुमित्रा शुद्धमेधा और कैकेयी अविद्या थी जिसकी चेरी मन्थरा कुविद्या थी।'

× × × ×

'आत्मप्रबोध ही लक्ष्मण है। भावार्थ (भक्ति) ही भरत है। आत्मनिश्चय शत्रुघ्न है और पूर्ण आनन्दविग्रह श्रीराम हैं। अहमात्मा दशरथ हैं और वे ही उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं। श्रीरघुनाथ जी वन के लिये चल पड़े तब अहमात्मा का अन्त हो गया।'

× × × ×

राम का रणयज्ञ :—'सकललोकविनाशक, धर्ममात्र के अवरोधक, सत्कर्म के विच्छेदक दशमुख रावण का श्रीराम ने संहार किया। इस यज्ञ के याज्ञिक श्रीराम थे, रणभूमि ही यज्ञमण्डप थी। अति श्रेष्ठ कालानल ही हव्य पहुँचाने वाला अग्नि हुआ। सुग्रीव, हनुमन्त आदि समस्त सेनापति ऋत्विज हुये। बिभीषण साक्षी थे जो जहाँ-कहीं भूल दिखाई देती, बतलाते थे। वध ही परिसमूहन था। अद्भुत शस्त्र परिस्तरण थे। अति आरक्त रुधिर पर्युक्षण था। यजमान श्रीराम राक्षसरूप हवि को सुलक्षण बाण के स्रुवा से कालानल में स्वाहा करते थे। अश्व, रथ, रणवाद्यादि का तुमुल शब्द ही मंत्रघोष था और उससे 'मारो काटो, जाने मत दो' की क्रिया होती थी। 'न मम' कहकर रघुनाथजी जिसकी आहुति देते, कालानल उसी को स्वीकार करता था। राक्षस-सैन्य जब सब स्वाहा हो गया तब श्रीराम ने रावण की पूर्णाहुति दी और यज्ञ समाप्त किया। रणयज्ञ समाप्त कर जो धनुष-बाण नीचे रखा वही अवभृथ हुआ। ऋत्विजों को दक्षिणा बाँटते हुये श्रीराम को बड़ा ही उल्लास हुआ। किसी को सायुज्य दक्षिणा दी, किसी को विदेहत्व दान किया, किसी को अनन्त सुख दिया, किसी को नामकीर्तन प्रदान किया।' उपर्युक्त परंपरित रूपक पढ़कर कौन साहित्य-मर्मज्ञ समाधान का अनुभव न करेगा? ऐसे सैकड़ों रूपकों से भावार्थरामायण ओतप्रोत है। और देखिये।

श्री हनुमान जी श्रीराम से उनके दर्शन के सुख का महत्व तथा आनंद बताते हुए कहते हैं—'सूर्य का आकाश में जो प्रताप है उसे सूर्य नहीं जानता। उसे जानती है कमलिनी, जिसका मुख उससे विकसित होता है। चुम्बक की आकर्षण शक्ति चुंबक नहीं जानता, उसे जानता है जड़ लोहा, जो उसके दर्शन से चलने लगता है। चन्द्रकिरणों की अमृतधारा को स्वयं चन्द्र नहीं जानता, जानता है चकोर, जो उसका सेवन करता है और दर्शन से अपार आनंद का अनुभव करता है। वैसे ही हे श्रीराम! आपके दर्शन का जो सुख है वह आप नहीं जानते, उसे वे भक्त जानते हैं जो सात्विक नैष्ठिक व्रतधारी हैं।' इत्यादि।

हनुमान जी श्रीराम का सगुण रूप वर्णन करते हैं 'जैसे बीज ही वृक्ष हुआ, सुवर्ण ही अलंकार बना, वैसे ही निर्विकार श्रीराम ही साकार हुये। हाथ में धनुष-बाण लेकर जिन्होंने रावण को मार डाला उन श्यामीभूत पूर्ण ब्रह्म को देखकर नेत्र तृप्त होते हैं। राम के बिना जो ब्रह्मज्ञान है, हनुमानजी गरजकर

कहते हैं कि उसकी हमें कोई जरूरत नहीं। हमारा ब्रह्म तो राम है।' एवं अवसर मिलते ही एकनाथ ने सगुण-निर्गुण की एकरूपता का परिचित दृष्टान्तों द्वारा प्रभावोत्पादक निरूपण किया। भावार्थरामायण एकनाथ की अंतिम साहित्यिक रचना है। अतः उनकी लेखन-शैली एवं विचार-शैली की परिपक्वता इसमें दृग्गोचर होती है। अच्छा ही हुआ कि भावार्थरामायण लिखते हुए वे राम में विलीन हो गये।

संत एकनाथ के हिंदी-पद :—पूर्ववर्ती संत नामदेव के समान एकनाथ ने भी हिंदी में अनेक स्फुट पदों की सरस रचना की। वाराणसी में तीन-चार वर्ष रहने के कारण उन्होंने हिंदी की काम-चलाऊ जानकारी संपादित की थी। महाराष्ट्र में मुसलमानों के शासन में उर्दू-फारसी का प्रचलन होने से उनकी हिंदी पर फारसी और उर्दू का असर देखने में आता है। कहीं-कहीं गुजराती की भी छटा है क्योंकि उन्होंने सौराष्ट्र की यात्रा की थी। अतः उनकी हिंदी में एकरूपता और शुद्धता की कमी है। उनकी संतों की नटखटी बानी है। उनकी हिंदी में 'गौलण', भारूड, फकीर, मुंडा आदि नामक पदों की रचना पर्याप्त है। पढ़िये कि एकनाथ गोपीप्रसंग में आध्यात्मिक रूपक बाँधने का कैसा मधुर प्रयत्न करते हैं—

मैं दधि बेचन चली मथुरा।
तुम कँव थारे नंदजी के छोरा॥ १॥
भक्ति का अंचला पकड़ा हरी।
मत खेचो मोरी फारी चुनरी॥ २॥
अहंकार का मोरा गरगा फोरा।
व्हाको गोरस सबही गीरा॥ ३॥
द्वैतन की मोरी अँगिया फारी।
क्या कहूँ मैं नंगी नार उधारी॥ ४ ॥
एका जनार्दन ज्यासो भेटा।
लागत पगो से कबु नहीं छुटा॥ ५॥

गोपियों के लगभग ग्यारह सरस पद उपलब्ध हैं। उनमें गोपिकाएँ यशोधरा से उसके पुत्र के ऊधम की, नटखटपन की शिकायत करती हैं। बस, इससे अधिक गोपीप्रसंग का वर्णन एकनाथ ने नहीं किया। एकनाथ ने फकीर, मुंडा आदि स्वांगधारियों पर तीखी व्यंग्योक्तियाँ कर नीति का और सरल, शुद्ध भक्ति का

उपदेश साधारण लोगों को दिया। पढ़िये, नानक कैसा सरल उपदेश करता

'फकीर होकर फिकीर करता।
उसका मूं काला है ॥ १२ ॥
नाथ पंथ की मुद्रा डाली
जग में सिंगी बजावत है ॥ १३ ॥
संन्यास लिया आशा बड़ाई
मीठा खाना मंगता है ॥ १४ ॥
शेटे सावकार माल खजीना।
उनमें मगन रहता है ॥ १५ ॥
जोरु लडके कोई नहीं साती
अखेर मूमें मट्टी है ॥ १६ ॥
शंख बजावत जंगम आया
घर घर लेकर फिरता है ॥ १७ ॥
पेट खातर शिव कु बेचे
वोबी लवंडा कुत्ता है ॥ १८ ॥
गोसावी बड़ा भगवा आवे
जटा बढ़ाकर रहेता है ॥ १९ ॥
साहा चोर कु जागा देकर
उसके फंद में फिरता है ॥ २० ॥
फेंक आशा फेंक मनशा
निंदा फेंके सो जोगी है ॥ २१ ॥
परधन फेंक दुजी औरत फेंक
न फेंके सो चांडाल है ॥ २२ ॥
दंभ मान फेंक मोपन फेंक
न फेंके सो नकटा आंधा है ॥ २३ ॥
साही शास्त्र अठरा पुराण
चारो वेद पढ़ता है ॥ २४ ॥
माँ बाप तो कासी तिरथ
उसकूं गाली देता है ॥ २५ ॥

नाम की जोड़ी कर ले यारो
चोर्यान्यांशी बेडी तुटती है ॥ २६ ॥
तेरे नगरी में नानक आया
पैसा टक्का कूच मंगता नहीं ॥ २७ ॥
भक्ती रोटी भाव का सालन
देना मेरे कू सच्चा है ॥ २८ ॥
एक जनार्दनी शाही हमारा
नानक उनका बंदा है ॥ २९ ॥
मोक्ष निशानी लिया हात मो
बैकुंठ धाम पढ़ता है ॥ ३० ॥ (नानक)

संत एकनाथ अपने युग के प्रगतिशील विचारक थे । वे कहते हैं—

दील को हमने पछाना बे ।
काय कु सोंग बताना बे ॥
जीदर उदर देखो भरीयो सब घटा ।
अल्ला अल्ला कर कर खावन मांगे मीठा ॥
एका जनार्दन पग धरत है कहो वीठल वीठल आल्ला ।

भावार्थ है—'हमने दिल को पहचान लिया, परमात्मा यहाँ-वहाँ सर्वत्र घट-घट में समाया हुआ है । विट्ठल विट्ठल और अल्ला-अल्ला कहने में सार है और ढोंग करने से क्या लाभ ? तात्पर्य यह कि साधक को नामकीर्तन के द्वारा ब्रह्म की सर्वव्यापकता का अनुभव प्राप्त करना चाहिये । यही साधना का चरम लक्ष्य है ।' इसीलिये वे व्याकुलता से कहते हैं—

दिल मो याद करो रे ।
जनम को सारथक करो रे ॥ १ ॥
सारे दिन करत पेट खातर धंदा ।
विट्ठल नाम लेवत नहीं कैंवर तू गधा ॥ २ ॥
जम का सोटा बाजे पीठ पर
कोइ नहीं आवे सात ।
एका जनार्दन नाम पुकारे
करो हरि नाम बात ॥ ३ ॥

संत एकनाथ साधारण जनों को आदिपुरुष निर्गुण निराकारी 'परवरदिगार' को याद करने का उपदेश करते हैं और संतों का संग करने को कहते हैं। उनमें निर्गुण और सगुण का समन्वय देखने में आता है। वारकरी सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती संतों के समान 'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा' का उन्होंने पूरा अनुभव किया था। उनका परमेश्वर पर पूरा भरोसा था। इसीलिये 'जही बिधि राखै राम ताही बिधि रहिये' की प्रतिध्वनि इस पद में सुनाई पड़ती है—

अल्ला रखेगा वैसा भी रहना।
मौला रखेगा वैसा भी रहना॥
कोई दिन सीर पर छता उडावै
कोई दिन सीर पर घड़ा चढावै
कोई दिन तुरंग उपर चढ़ावै।
कोई दिन पांव में खासा चलावे,
कोई दिन राजा बड़ा अधिकारी,
एक दिन होवे कंगाल भिकारी।

अतः भगवान की शरण में जाकर संसार में माया के विचित्र खेल से मुक्ति प्राप्त करने की वे बार-बार चेतावनी देते हैं। एकनाथ के हिंदी पदों में 'सोहं शब्द का बाजा' बजता है और 'अनुहात ध्वनी' की प्रतिध्वनि गूंजती है। उनका 'सँपेरा' नामक भारुड़ आध्यात्मिक परंपरित रूपक है। पढ़िए—

काम विषय का साप, तमाशा देखो मेरे बाप।
नजर ध्यान करो रे नजर ध्यान करो॥
सो साप दूर करे, चल चल चल ये देखो ममता नागन आई रे भाई
तिन लो डंख मारा रे मारा, ठ न न न न।
भागो रे भाई भागो, दवडो रे दवडो रे गुरु के चरण पर दवडो।
तो ऐसा करूं की गुरू के पांव कबी न छोडो।
हा कोई का न चले, ममता नागन जरूर बुरी है।
वो कैसी चलती है सो बड़े से बड़े लड़ते हैं।
वो न लढ़े ऐसी हिकमत बताऊं तुमकू सुनो रे भाई सुनो।
गुरु पीर के हात मोहरा, तुम्हारे हाथ चढ़े दुने दारा।
तो नागन का तुटे धारा, सो कबी आवने न पावे।

मना मनशा साप करो, शांती पेटारे में उसुकु डारो रे भाई डारो।
बाहेरे तो विवेक शिक्का मारो।

आचार्य वि० मो० शर्मा कहते हैं—'उपर्युल्लिखित पदों से स्पष्ट होता है कि संत एकनाथ के हिंदी पदों में काव्य की सजधज नहीं है। उपदेश ऊबड़-खाबड़ है। भाषा परिष्कृत नहीं हैं। कभी-कभी उपदेश देते समय वे अधिक उग्र भी हो जाते हैं। फलतः भाषा सामाजिक मर्यादा को लांघ जाती है। वे माया और मायाग्रस्त जन पर अश्लील गाली की बौछार करते तनिक भी नहीं झिझकते। फिर भी सत्रहवीं शताब्दी में मराठीभाषाभाषी संत हिन्दी में उपदेश देने की परम्परा जारी रखे हुए थे, यह तथ्य तो इनके पदों से स्पष्ट हो ही जाता है।'

संत तुलसीदास और संत एकनाथ:—दोनों के जीवन में घटनाओं की प्रायः समानता है। उनके भावों में भी समानता है। एकनाथ के 'भावार्थ-रामायण' में तथा तुलसी के रामचरितमानस में समान भाव के उदाहरण मिलते हैं क्योंकि दोनों के स्रोत प्रायः एक हैं। वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त अध्यात्म-रामायण, योगवासिष्ठ आदि संस्कृत ग्रंथों से दोनों ने लाभ उठाया है। एकनाथ और तुलसीदास के भावों और विचार-धाराओं में किस रूप में साम्य है इसके उदाहरण श्री जगमोहनलाल चतुर्वेदी ने अपनी 'एकनाथ व तुलसीदास' नामक पुस्तक में संकलित किए हैं। जिस प्रकार तुलसी ने लोककल्याण की भावना से लोकभाषा का आश्रय लिया उसी प्रकार एकनाथ ने भी लोकभाषा (मराठी) का आश्रय लेकर उसे गौरवान्वित किया। दोनों की रचनाओं में लोकमंगल की भावना ओत-प्रोत है तथा लोकमंगल के ध्येय को संपादित करने के लिए ही दोनों ने इतने विशाल और विविध साहित्य की सृष्टि की।

संत एकनाथ का विशिष्ट स्थान:—संत एकनाथ का सम्पूर्ण जीवन ही प्रपञ्च और परमार्थ का स्वर्णसंगम है। चार सौ वर्ष पूर्व उन्होंने अछूतोद्धार का सक्रिय प्रयत्न करके बताया। उनके लोकोत्तर गुणों की वर्णन करनेवाली अनेक सत्य कथाएं महाराष्ट्र में प्रचलित हैं। वे खरे लोकवाङ्मयकार थे। भागवत धर्म का संदेश उन्होंने आम जनता में प्रसृत किया। उनके 'भारूड' लोकगीत उनके लोकमंगलकारी मन का स्पष्ट प्रमाण हैं। इतनी प्रौढ़, विविध, मनोरंजक और लोकानुकूल साहित्य-सृष्टि अन्य किसी ने नहीं की। उनके पूर्व का मराठी साहित्य (वारकरी सम्प्रदाय) केवल भक्तिरस से ओतप्रोत था।

परंतु एकनाथ ने शांत रस (भक्तिरस), वीररस, शृङ्गार रस, करुण रस और बीभत्स रसों के स्रोत बहा कर मराठी काव्य-सरिता की खूब समृद्धि की। रुक्मिणी-स्वयंवर जैसी प्रतीक-कथा पर अध्यात्मपूर्ण प्रबंध-काव्य की रचना करके परवर्ती कवियों के लिये उन्होंने एक आदर्श उपस्थित किया। रामायण पर इतनी उत्कृष्ट रचना करने वाले वे ही प्रथम मराठी कवि थे। उनका अनुकरण करके चंद वर्षों में कई रामायणों की मराठी में निर्मिति हुई। भागवत पर सरस टीका करके उन्होंने संत ज्ञानेश्वर का कार्य पूरा किया। स्फुट अभंगों की प्रभावशाली रचना करके अभंग की धारा प्रबल की। ज्ञानेश्वरी का संशोधन करके परवर्ती विद्वानों के लिये संशोधन का सुष्ठु आदर्श प्रस्तुत किया। परंपरावादी संस्कृतभाषाभिमानिओं का कट्टर विरोध सहकर अपनी श्रेष्ठ रचना द्वारा उनके दाँत खट्टे किये। जुल्मी शासकों की उर्दू-फारसी भाषा का सफल प्रतिकार करके मराठी का मार्ग प्रशस्त किया। संत ज्ञानदेव को केवल सनातनी पंडितों ने ही सताया था। उनके समय स्वराज्य होने के कारण अन्य भाषा का जुल्म नहीं था। परंतु संत एकनाथ को सर्वथा प्रतिकूल परिस्थितियों में मराठी की रक्षा और संवर्धना करनी पड़ी और कौन कह सकता है कि उन्होंने नियत कार्य खूब अच्छी तरह से नहीं संपन्न किये। सचमुच एकनाथ अपनी ग्रंथ-रचना, साधना और कर्मण्यता के द्वारा महाराष्ट्र में नव-जागरण करने में सफल हुये। उन्होंने न केवल धर्मपरायण जनता का प्रत्युत समकालीन और परवर्ती साहित्यकारों का भी मार्ग-प्रदर्शन किया। इसीलिये आज भी महाराष्ट्र में उनको संत ज्ञानेश्वर के समान ही सम्मानित किया जाता है। प्रतिवर्ष फाल्गुन कृष्ण छठी को पैठन में उनकी समाधि पर लाखों वारकरी और अन्य जनों के सिर झुकते हैं। परवर्ती महाकवि मुक्तेश्वर, दासो दिगंबर, संत तुकाराम, महापंडित कवि मोरोपन्त, श्रीधरस्वामी, महीपति, अमृतराय, शिवराम स्वामी आदि सभी प्रमुख कवियों ने मुक्त कंठ से उनकी महानता का गान कर अपने को कृतार्थ माना है। इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि एकनाथ महाराज को महाराष्ट्र में कितना ऊंचा स्थान प्राप्त है। महाराष्ट्र के सांस्कृतिक एवम् साहित्यिक इतिहास में एकनाथ ही यथार्थ में 'अकेले' नाथ थे।

तीसरा अध्याय

एकनाथ-पंचक, मुसलमान संत कवि, फादर स्टीफन्स और कवीश्वर मुक्तेश्वर

एकनाथ-पंचक :—संत एकनाथ, विठारेणुकानन्द, जनी जनार्दन, रामा जनार्दन और दासोपन्त कवियों का एकनाथ-पंचक में समावेश होता है। इनको एकनाथ-पंचक कहने की परिपाटी का कोई विशिष्ट कारण नहीं दीख पड़ता। ये सब समकालीन थे और अपनी प्रासादिक एवम् सरल रचनाओं द्वारा साधारण जनता को भक्ति का उपदेश करते थे। इतना ही उनमें साम्य है अन्यथा उनके उपास्य देव और संप्रदाय भिन्न थे। निःसंदेह वे परस्परविरोधी नहीं थे। इनमें रामा जनार्दन वारकरी सम्प्रदाय के थे और उनकी 'ज्ञानेश्वर की आरती' महाराष्ट्र में इतनी लोकप्रिय है कि सहस्रों वारकरियों को कंठस्थ है। वैसे ही उन्होंने 'विट्ठल पर आरती' रची जिससे सिद्ध होता है कि वे विट्ठलभक्त थे। विठा· रेणुकानंद देवी के भक्त थे और उनके पाँच-दस पद ही केवल उपलब्ध हैं। जनी जनार्दन गणपति के उपासक थे और रामा जनार्दन के सहोदर थे। ये उच्च श्रेणी के कवि थे जिनके 'सीता-स्वयंवर' और 'निर्विकल्प' दो विख्यात ग्रन्थ हैं। सीता-स्वयंवर पौराणिक आख्यानपरक काव्य है और निर्विकल्प उद्धव-कृष्ण-संवाद-रूप आध्यात्मिक विवेचन का ग्रन्थ है। इन दोनों ग्रन्थों में कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्तादि काव्यालंकारों का प्रचुरता से प्रयोग कर रचनाओं को रम्य बनाया है। इनका महावाक्य-विवरण नामक तीसरा वेदान्तविषयक गंभीर ग्रन्थ है जिससे उनकी चिन्तनशीलता का परिचय प्राप्त होता है। इनके कई मराठी और हिंदी पद उपलब्ध हैं। चौथे दासोपन्त के सम्बन्ध में हम 'श्रीदत्त संप्रदाय का साहित्य' नामक प्रकरण में विस्तृत लिख चुके हैं अतः उनके उल्लेख मात्र से ही पाठक संतुष्ट होंगे।

संत एकनाथ के समकालीन कवियों में नामा विष्णुदास थे। संत नामदेव (संत ज्ञानेश्वर के सहयोगी) के नामसादृश्य के कारण इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी कभी-कभी भूल हो जाती है। नामा विष्णुदास ने संपूर्ण महाभारत का मराठी

में पहला अनुवाद किया। उनके उक्त अनुवाद का उल्लेख कलाकवि मुक्तेश्वर ने बड़ी कृतज्ञता से भविष्य में किया। इस महाग्रन्थ की बीस हजार ओवियाँ हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई सरस अभंगों की रचना की जो भूल से संत नामदेव की गाथा में समाविष्ट हैं। जनश्रुति है कि ये आगे चलकर महानुभाव पंथ में सम्मिलित हो गये थे।

संत एकनाथकालीन कवियों में कृष्णदास मुद्गल का विशिष्ट स्थान है। ये पैठण के निवासी थे। इन्होंने 'रामायण' के युद्धकाण्ड पर दस हजार ओवियों में वीररस से लबालब व प्रभावोत्पादक महाकाव्य की रचना की। इसकी भाषा-शैली और कथोपकथन-कौशल इतना ओजस्वी और प्रोत्साहक है कि उक्त ग्रंथ का पठन-पाठन प्रत्येक गढ़ पर महाराज शिवाजी के शासनकाल में होने लगा। जनश्रुति है कि संत एकनाथ की कृपा से ही उक्त ग्रंथ की रचना कृष्णदास मुद्गल कर सके। निःसंशय कृष्णदास प्रतिभाशाली और ओजस्वी कवि थे।

इसी समय नासिक में रंगनाथ मोगरेकर नामक कवि ने भगवद्गीता पर 'चित्सदानंदलहरी' नामक ग्यारह हजार ओवियों की सरस टीका रची जिसकी विवेचन-शैली ज्ञानेश्वरी जैसी ही प्रतीत होती है। कवि संत ज्ञानेश्वर का निष्ठावान् अनुयायी था। उक्त कवि ने श्रीमत् शंकराचार्य के सोपानपंचक पर दो हजार ओवियों की टीका रची है। इसी समय श्री रंगनाथ निगडीकर ने 'योगवाशिष्ठ-सार' नामक ग्रन्थ की सफल रचना की। श्रीकृष्ण याज्ञवल्की और मधुकर कवि-द्वय ने 'कथाकल्पतरु' नामक लगभग चालीस हजार ओवियों के ग्रन्थ की उत्कृष्ट रचना कर मनोरंजक कथा-साहित्य का श्रीगणेश किया। इस ग्रन्थ में भारत, भागवत व अन्य पुराणों की सरस कथाओं का स्वैर संकलन किया गया है जिनके पठन से मनोरंजन के साथ नीति का उपदेश भी प्राप्त होता है।

त्र्यंबकराज कवि ने योगमार्गसंबंधी 'बालावबोध' नामक महत्व के ग्रंथ की रचना कर मराठी का योगविषयक साहित्य पुष्ट किया। त्र्यंबकराज ने दीर्घ अध्ययन और कठोर तपश्चरण करके योग का रहस्य प्राप्त किया और उक्त ग्रंथ की रचना की। इसमें औपनिषदिक अध्यात्म का बारीकी से विवेचन है। अद्वैत-निष्ठ निर्गुणोपासना और योगविद्या का यह तर्कयुक्त विवरण पढ़ते ही बनता है। इसका अनुकरण करके भविष्य में संप्रदाय-परिमल और दासबोध की रचनाएँ हुईं।

कवि शिवकल्याण (सन् १५६८–१६३९) :—ये नाथ संप्रदाय के थे। ये जोगाई के आंबे नामक देहात में रहते थे जहाँ कवि दासोपंत ने निवास किया था। शिवकल्याण आत्मानुभवी योगी, वेदान्ती, पंडित और कृष्णभक्त थे। कहते हैं कि इन्होंने भागवत के दशम स्कन्ध पर एक लाख ओवियों की अति मधुर टीका रची थी परंतु इस समय उसकी केवल तेरह हजार ओविएँ उपलब्ध हैं। इन्होंने श्रीकृष्ण की रासक्रीड़ा एवम् लीलाओं का अध्यात्मपरक अर्थ विशद कर संत एकनाथ की परंपरा आगे चलायी। इनकी टीका में अध्यात्म, भक्ति व शृंगार का रम्य समन्वय देखने में आता है। परंतु ये अधिक प्रसिद्ध हैं 'नित्यानंदैक्यदीपिका' नामक टीकाग्रंथ के लिए। यह संत ज्ञानेश्वर के 'अमृतानुभव' मौलिक ग्रंथ पर मौलिक टीका है। अतः ये नाथसंप्रदाय के अंतिम ग्रंथकार माने जाते हैं।

एकनाथ का युग अधिकतर संतकाव्य अर्थात् परमार्थपरक काव्य की सृष्टि के लिए ही प्रसिद्ध है, किंतु उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त इस काल में महालिंगदास ने 'अश्वचिकित्सा' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें अश्व के संबंध में सब कुछ है। इसका 'चाणक्यनीति' नामक दूसरा ग्रंथ है। प्रेमदास नामक कवि ने 'मूलस्तंभ' नामक ग्रंथ की रचना की जिसमें पंचांग, कालगणना विषयक जानकारी कही है। श्रीनरसिंह नामक कवि ने 'सामुद्रिकशास्त्र' पर ग्रंथरचना की। एवम् भिन्न-भिन्न विषयों पर व्यवहारोपयोगी ग्रंथों की सृष्टि होती थी। लोलिंबराज कवि ने संस्कृत में 'वैद्यजीवन' नामक ग्रंथ लिखकर उसका मराठी में अनुवाद किया। इससे स्पष्ट होता है कि कई कवि संस्कृत का व्यवहारोपयोगी ज्ञान मराठी में लाने की चेष्टा करते थे। वैद्यजीवन के उक्त लेखक का व्यक्तिगत जीवन प्रणय, शृङ्गार और विरह से ओतप्रोत था अतः उसने आत्माविष्कार के लिए 'रत्नकलाचरित्र' नामक प्रणयरम्य प्रबंधकाव्य की ललित एवम् मधुर रचना की। कवि की प्रिया रत्नकला थी। उसकी अकालमृत्यु हुई जिससे कवि अतीव शोकाक्रांत हो गए। विरह की तीव्र वेदनाओं से वे व्याकुल हो गए। अपनी हृदयस्थ व्याकुलता से मुक्ति पाने के लिए कवि ने उक्त शोकरसयुक्त काव्य की सफल रचना की। मराठी का यह पहला स्वच्छन्दवादी रूमानी प्रबंधकाव्य है। इसमें कहीं-कहीं अश्लीलता की झलक भी चमकती है।

मुसलमान संत कवि :—जैसे रहीम, रसखान इत्यादि मुसलमान संत

कवियों ने भगवान श्रीकृष्ण की अनुरक्ति में रँगकर हिंदी भाषा में भक्तिपूर्ण पदों की सरस रचना की वैसे मराठी में संत मृत्युंजय और शेख महम्मद आदि मुसलमान भक्तों ने भक्तिरसभीनी अभंगों की और आध्यात्मिक ग्रंथों की रचनाएं कीं। मृत्युंजय के पहले नाम का पता नहीं लगता। इनका जन्म मुसलमानों के बहामनी राजकुल में हुआ था। युवावस्था में ये बड़े विलासी थे। परंतु एक अत्यंत साधारण घटना ने उनके जीवन में क्रांति कर दी। कहते हैं कि एक दिन वे अपनी खूबसूरत पत्नी के साथ राजमहल की अट्टालिका पर बैठे हुए हास-परिहास करते फल खा रहे थे। उन्होंने अचानक नीचे की ओर देखा। वहाँ उनके फेंके हुए छिलके एक क्षुधार्त भिखमंगा खा रहा था। उन्हें एकदम क्रोध आया और वे उसे छिलके फेंककर मारने लगे। वह भिखारी कुछ बुद्धिमान था। उसने ऊपर देखकर कहा कि मुझे छिलके खाने पर भी यह दंड मिल रहा है तो भगवान ही जाने गूदा खानेवालों को कौन-सा दंड मिलेगा। यह उत्तर सुनते ही मृत्युंजय अति बेचैन हुये मानो उनके जीवन में क्रांति हुई। वे अधिक गंभीर बने। अंततोगत्वा वे क्षेत्र पंढरपुर गये और वहाँ उन्होंने मराठी के विवेकसिंधु, ज्ञानेश्वरी इत्यादि धार्मिक ग्रंथों के परायण सुने और किए। तत्पश्चात् स्वामी सहजानंद ने उन्हें गुरुमंत्र दिया और उनका नाम मृत्युंजय रखा। उन्होंने अपनी शेष आयु हिंदू शास्त्रों के अध्ययन तथा भगवान विट्ठल की भक्ति में लगा दी। उन्होंने प्रकाशदीप, स्वरूप-समाधान, अनुभवसार, गुरुलीला, अमृतसार, सीताबोध, और सिद्धसङ्केत नामक ग्रंथों की रचना की। उक्त ग्रंथ वेदांत और भक्तिविषयक हैं। इनकी रचना सरल और सुबोध है। पर काव्य-प्रतिभा साधारण है। जन्म से मुसलमान होनेवाले के लिए उक्त रचनाएँ अभिमानास्पद हैं। इन्होंने १५५९ में समाधि ली।

शेख महम्मद:—ये श्रीगोंदे नामक देहात में कसाई का व्यवसाय करते थे। एक दिन एकाएक ये अपने क्रूर व्यवसाय से ऊब गए। वे सीधे पंढरपुर पहुँचे। वहाँ विट्ठलभक्त बनकर वारकरी संप्रदाय में वे सम्मिलित हुए। उन्होंने योग-संग्राम, पवनविजय, ज्ञानसागर, निष्कलंक, प्रबोध इत्यादि ग्रंथों की रचना की। वैसे ही कई सरस पद और अभंगों की सृष्टि कर उन्होंने मराठी साहित्य को समृद्ध किया।

हुसेन अंबर:—इन्होंने 'अंबर हुसेनी' नामक टीकाग्रंथ लिखा। उक्त टीका श्रीभगवद्गीता पर है। उसकी कुल ८१६ ओवीयाँ हैं। वास्तव में यह गीता का अनुवाद ही है पर शांकरभाष्य के अनुसार होने के कारण उसे टीका कहना पड़ता है। इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि हुसेन अंबर ने शांकरभाष्य का अध्ययन किया था। इनके संबंध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। एवम् वारकरी सम्प्रदाय से प्रभावित होकर उपर्युल्लिखित मुसलमान कवियों ने भक्तिपूर्ण काव्य की निर्मित कर भक्तिकाव्यधारा अधिक पुष्ट की।

फादर स्टीफन्स (सन् १५४९–१६१९):—संत एकनाथ के समकालीन कवियों में फादर स्टीफन्स का विशिष्ट स्थान है। ये पहले ईसाई कवि हैं जिन्होंने इंग्लैंड में जन्म और शिक्षा दीक्षा ग्रहण कर भारत में आकर मराठी में इतनी प्रौढ़ और काव्यालंकारों से युक्त रचना की। ये सन् १५७९ में मिशनरी (धर्म-प्रचारक) बनकर गोवा में रहने लगे। उन्होंने धर्मप्रचार के लिए मराठी भाषा का अध्ययन किया। चन्द वर्षों में वे मराठी में इतने निपुण हो गये कि उन्होंने मराठी का व्याकरण लिखा जो अभी उपलब्ध है। उन्होंने सन्त ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी का सूक्ष्म अध्ययन कर उनकी लेखन-शैली का सफल अनुकरण किया। ईसा के धर्म का मराठीभाषाभाषी जनता में प्रचार करने के लिए उन्होंने सन् १६१४ में 'ख्रिस्त पुराण' नामक बड़ा ग्रंथ लिखा। इसकी १०९६२ ओवियाँ हैं। इसके दो भाग और कई प्रकरण हैं। इनको मराठी भाषा की सम्पन्नता पर बड़ा गर्व था, जो उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया–'जैसे सब पुष्पों में मोगरे का पुष्प अधिक सुगंध देने वाला है, सब परिमलयुक्त वस्तुओं में कस्तूरी अधिक सुगंधयुक्त होती है वैसे सब भाषाओं में मराठी भाषा सुन्दर और समृद्ध है। जैसे वृक्षों में कल्पतरु या पक्षियों में गरुड़ है वैसे भाषाओं में मराठी है। सचमुच उनका मराठी भाषा से सम्बद्ध आदर कहते नहीं बनता। फादर स्टीफन्स ने ख्रिस्त पुराण की आकर्षक रचना करके मराठी का महदुपकार किया। ख्रिस्त पुराण पढ़ते समय ऐसी आशंका भी नहीं पैदा होती कि इसका रचयिता परभाषाभाषी, विदेशी और विधर्मी हो सकता है। इतनी सीमा तक ग्रंथकार मराठीभाषा-भाषियों की सांस्कृतिक एवम् समकालीन परिस्थिति में एकरूप हो गये थे। निःसंशय ख्रिस्तपुराण प्राचीन मराठी की महती रचना है। यह बात फादर स्टीफन्स के लिए जितनी अभिनंदनीय है उतनी ही मराठी भाषा के लिए गर्व की है। यों कहना चाहिए कि मराठी की प्रौढ़ता का वह स्पष्ट चिह्न था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि संत एकनाथ के काल में मराठी वाङ्मय अधिक लोकाभिमुख होता जा रहा था और भिन्न लौकिक विषयों का सरसता एवम् सरलता से विवेचन करने की उसकी क्षमता दिन-दूनी रात-चौगुनी हो रही थी।

कवीश्वर मुक्तेश्वर (सन् १५७४-१६४५):—कवीश्वर मुक्तेश्वर संत एकनाथ के दौहित्र थे। उनके पिता का नाम चिन्तामणि था। वे पैटन के उद्भट विद्वान थे। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होने के कारण एकनाथजी ने अपनी ज्येष्ठ कन्या गोदावरी को उनके साथ विवाह-बद्ध किया। एवम् माता और पिता की ओर से मुक्तेश्वर को जन्मतः विद्वत्त्व और कवित्व की आनुवंशिक संपदा प्राप्त हो गई थी। बाल्यावस्था में ही उनकी होनहार कवि-प्रतिभा अपनी झलक दिखा चुकी थी। उन्होंने अपने योग्य पिता से रामायण-महाभारतादि आर्ष काव्य और साहित्यशास्त्र सीखे। उन्होंने पूर्व संतों के विशेषतः ज्ञानेश्वर और एकनाथ के साहित्य का गहरा अध्ययन किया। किंवदन्ती के अनुसार बाल मुक्तेश्वर जिनका पहला नाम मुद्गल था, पाँच वर्ष तक बोल नहीं सकते थे। संत एकनाथ के वरदान से उनका गूँगापन नष्ट हुआ और वे सहज में बोलने लगे। पिता की मृत्यु के बाद बालक मुक्तेश्वर मातामह (एकनाथ जी) के घर में रहने लगे। खूब अध्ययन करके वे वाराणसी गये। वहाँ कुछ मास निवास करके वे तीर्थाटन के लिये चल पड़े। एवम् विविध ग्रंथों का गम्भीर अध्यनन और देशभ्रमण करके मुक्तेश्वर ने अपनी स्वाभाविक प्रतिभा खूब पुष्ट की।

साहित्य-सृष्टि:—कवीश्वर मुक्तेश्वर की रचनाओं में महाभारत सर्वोत्कृष्ट है। उन्होंने साहित्य-रचना का प्रारंभ 'संक्षेप रामायण' से किया। उन्होंने हरिश्चन्द्राख्यान, शुकरंभासंवाद, गजेन्द्रमोक्ष, शतमुखरावणवधाख्यान, मूर्खों के लक्षण, भगवद्गीता, हनुमंताख्यान और एकनाथ चरित्र आदि काव्यग्रन्थों की सरस और सफल रचना की। उनके ग्रन्थों का क्रमशः वर्णन पढ़िए।

संक्षेप रामायण:—यह लगभग ६६१ श्लोकों का कथाकाव्य है। इसका आधार प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक है। कवि ने संस्कृत के अनेक वृत्तों के अनुसार रसभीने श्लोकों की प्रवाही रचना कर प्रभु राम का चरित्र अति आकर्षक और प्रभावोत्पादक शैली में कथन किया। इसमें कवि की प्रतिभा की पहली झलक हमें दीख पड़ती है। कवि का झुकाव विषय की अपेक्षा कहने की शैली की ओर अधिक है। माने उक्त संक्षिप्त कथाकाव्य में कलापक्ष अधिक पुष्ट है। इसमें

कवि ने अपना नाम मुद्गल लिखा है परंतु अन्य सब रचनाओं में मुक्तेश्वर ही है। यह काव्य पढ़ते ही प्राचीन मराठी काव्य में अर्थात् आर्ष या पुराणाधिष्ठित काव्यों में रसिक पाठक प्रथम बार यह अनुभव करते हैं कि यह काव्य पारलौकिक दृष्टि से नहीं अपितु लौकिक दृष्टि से रचा गया है और काव्य के कलापक्ष की ओर कवि का प्रधान लक्ष्य है। उक्त काव्य में युवक और उत्साही कवि ने महाकवि कालिदास, भर्तृहरि, जगन्नाथ पंडित और जयदेव की कला का अनुकरण करने की भरसक चेष्टा की है। तो भी स्पष्ट है कि कवि की शैली अभी मंजी हुई नहीं थी उसमें कृत्रिमता अधिक दिखाई देती है। भविष्य में मुक्तेश्वर जैसे-जैसे अधिक रचना करते गए वैसे-वैसे उनकी शैली अधिक स्वाभाविक, प्रौढ़ और प्रवाही बनती गई। इसके बाद मुक्तेश्वर ने कई स्फुट काव्यों की सफल रचना की जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। निःसंशय इन स्फुट काव्यों में उनकी शैली अधिक परिष्कृत और मँजी हुई बनी। कथोपकथन की चतुराई और रचना-कौशल में भी काफी वृद्धि हो गई। भाषा शैली में सहजता, प्रासादिकता, रसभीनता और व्यंजकता की मात्रा पर्याप्त बढ़ी। इन स्फुट रचनाओं में कौन-सी रचना पहली और कौन-सी बाद की है, यह कहना कठिन है क्योंकि उनमें रचना का समय लिखा हुआ नहीं मिलता किन्तु सब साहित्य-समालोचकों की राय है कि सब स्फुट रचनाएँ महाभारत के पूर्व की होनी चाहिए क्योंकि 'महाभारत' कविवर मुक्तेश्वर की परिपक्व प्रतिभा का काव्य-विलास है। मुक्तेश्वर ने अपने प्रसिद्ध मातामह संत एकनाथ का सफल अनुकरण करके आख्यान-कविता की परंपरा अधिक रम्य और पुष्ट की और लोकानुरंजन के द्वारा लोक-जागरण की परिपाटी निभाई। सब मानते हैं कि आख्यान-कविता को अधिक लोकप्रिय, कलापूर्ण और प्रभावोत्पादक बनाने में दौहित्र मातामह से अधिक सफल रहा। उनके सब स्फुट काव्य आस्वाद लेने के योग्य हैं। इतना उल्लेख कर हम उनकी महती कृति 'महाभारत' की ओर मुड़ते हैं।

महाभारत (सन् १६४०):—यह मराठी के महाभारतों में कोहिनूर है। कहते हैं कि मुक्तेश्वर ने सम्पूर्ण महाभारत की रचना की थी परन्तु इस समय उसके केवल आदिपर्व, सभापर्व, वनपर्व, विराटपर्व और सौप्तिकपर्व ही उपलब्ध हैं। इनकी कुल ओविसंख्या १४६८७ है। मुक्तेश्वर ने महर्षि व्यास के महाभारत का केवल अनुवाद ही नहीं किया अपितु काव्यकला व सौन्दर्य की दृष्टि से उसमें

आवश्यक विस्तार और संक्षेप करके कथावस्तु की रचना अधिक आकर्षक बनाई। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मौलिक कथावस्तु है। मुक्तेश्वर स्वभाव से कला-कवि थे अतः उन्होंने उचित स्थलों में प्राकृतिक दृश्यों का और स्त्री-सौंदर्य का मनोहर और हृद्य वर्णन करके अपनी रचना की मौलिकता बढ़ाई। जो प्रकृति का सरस वर्णन मूल महाभारत में नहीं है वह इसमें है, और स्त्री के बाह्य सौंदर्य का जो रसभीना वर्णन इसमें है वह संस्कृत के महाभारत में बिलकुल ही नहीं है। हो भी कैसे सकता ? व्यास महर्षि थे परन्तु मुक्तेश्वर रसिक कवि थे। क्या कवि अपनापन कभी भूल सकता है ? कवि की प्रतिभा की कसौटी केवल कथावस्तु की नवीनता या मौलिकता नहीं है अपितु कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, रचना-कौशल समुचित अलंकारों की योजना, भाषा-शैली की व्यंजकता एवम् रसभीनता है। अतः संस्कृत महाभारत के आधार पर रचना करने में मुक्तेश्वर की मौलिकता को कोई हानि नहीं पहुँचती है। वैसे तो महाभारत के सभी प्रसंग कवि ने बड़ी कलात्मक सुन्दरता से चित्रित किये हैं। पर उनमें द्रौपदी-वस्त्र-हरण, शकुन्तला-दुष्यन्त-आख्यान, नारदनीति, जरासंधाख्यान, नल-दमयन्ती-आख्यान आदि विशेष कलापूर्ण और प्रभावोत्पादक हैं। कवि महाराज दुष्यन्त के राज्य का वर्णन करता है 'पूर्व, पश्चिम, उत्तर—दक्षिण चारों दिशाओं में चार समुद्र हैं। राजा इन चारों समुद्रों के बीच की पृथ्वी पर राज्य करता हुआ स्वर्ग के इंद्र जैसा जान पड़ता है। उसके राज्य में रोग, दारिद्रय, दुःख, दुर्भिक्ष, अकाल मृत्यु, सर्प, वृश्चिक और चोरों का नाम भी नहीं है। उसमें विष्णु के समान सामर्थ्य, सूर्य के समान प्रबल प्रताप, पृथ्वी जैसी सहनशीलता और सागर जैसी गंभीरता है।' अब मुक्तेश्वर की शकुन्तला की ओर दृष्टिपात कीजिए—'यह (शकुन्तला) स्वर्णलता, विद्युत् या मूर्तिमान् चन्द्रकला है अथवा स्वर्णपत्र के वर्ण की केतकी है या यह मृगनयनी है जिसके शरीर से सुगंध की राशि-सी निकल रही है।' कविवर मुक्तेश्वर की कविता-कामिनी जितनी स्वाभाविकता से पुरुषों के पुरुषार्थ का या स्त्रियों की सुन्दरता का वर्णन करती है उतनी ही सहजता से प्रकृति का मनोहर एवम् भयानक वर्णन करती है। उदाहरणार्थ भयानक रात्रि का वर्णन पढ़िए—'भीम ने समस्त संसार को अन्धकार से आच्छादित देखा। वन में लताओं, वृक्षों और बढ़े हुए घास के कारण मार्ग बिलकुल दिखाई न देता था। रात्रि में विहार करने वाले पशु-पक्षी भयंकर गर्जना एवम् आवाज कर रहे थे। रीछ और चमगादड़ों की पंक्तियां और बड़े-बड़े वृक्ष की कतारें काले कंबल की तरह जान पड़ती थीं।

वनदेवता और यक्षिणी आदि भयावह आवाज कर रहीं थी। यक्षिणी बड़ी-बड़ी मशालें जलातीं और सहसा गुप्त हो जाती थीं। चकवा-चकवी का आर्तनाद और कुमुदिनी पर गूंजने वाले भ्रमरों की गुंजार दूर-दूर फैल रही थी। मणिधारी सर्प अपने मस्तक की मणि के प्रकाश में अपना भोजन ढूंढ रहे थे। काली रात इतनी सघन थी कि वह यमराज के कम्बल की तरह ब्रह्मांड के समस्त देवताओं को आच्छादित किए दृष्टिगोचर होती थी।' इस तरह मुक्तेश्वर का सृष्टि-वर्णन भी अपूर्व है। महाभारत में इसकी प्रचुरता से उपलब्धि है जो पढ़ते ही बनती है। मुक्तेश्वर की विशेषता है कि वे प्राकृतिक वर्णन में रस भर देते हैं। वे प्रकृति की सुंदरता के सच्चे उपभोक्ता थे। अन्यथा सृष्टि-सौन्दर्य के वर्णन में वे इतनी सफलता न पा सकते। उनकी वाणी की प्रखरता, ओजस्विता और प्रभावोत्पादकता सभा-पर्व और विराटपर्व में प्रगट हुई है। विविध प्रसंगों का वर्णन करते समय रसानुकूल भाषाशैली की योजना करने में वे अति निपुण थे। वीर, शृङ्गार, करुण, बीभत्स आदि रसों से उनका समग्र महाभारत लबालब है। लालित्य और रसभीनता का यह अनूठा संगम है। उनकी भाषा शैली की सबसे बड़ी विशेषता उसका अर्थवाही, रसयुक्त और विशुद्ध होना है। अलंकारों में उन्होंने रूपक, उपमा और दृष्टान्त का अधिक प्रयोग किया। सचमुच वे रूपक के सम्राट् थे। सभापर्व में चालीस या पचास ओवियों के लंबे परंपरित रूपक पढ़ने को मिलते हैं। कवि की प्रतिभा-शक्ति की वह चरम सीमा प्रतीत होती है। भाषा शैली अलंकृत होते हुए इतनी लचीली है कि प्रसंग के अनुसार तत्काल वह कठोर या कोमल बन जाती है। सचमुच कवीश्वर मुक्तेश्वर भाषा-प्रभु थे। भाषा शैली के बल पर ही उन्होंने भीम, धर्म, अर्जुन, शकुन्तला, दमयन्ती, द्रौपदी आदि के अत्यन्त प्रभावोत्पादक स्वभाव-चित्रण किए हैं जो पढ़ते ही बनते हैं। हरिश्चन्द्र के शोकपूर्ण आख्यान में करुणो-दात्तता, युद्धों के वर्णन में रौद्र-रम्यता और शृङ्गारयुक्त प्रसंगों में उत्तानता का आविष्कार करने में मुक्तेश्वर की अभिजात मौलिक कविप्रतिभा प्रगट हो गयी। परस्पर विरोधी वृत्तिओं के भाव चित्रित करने में उनके समान अन्य कवि नहीं हुआ।

सच्चा महाराष्ट्रीय कवि:—मुक्तेश्वर महाराष्ट्र देश और उसकी भाषा के ज्वलन्त अभिमानी थे। वैसे देखा जाय तो संत ज्ञानेश्वर से लेकर सभी संत कवियों को अपनी भाषा पर गर्व था परन्तु उक्त अभिमान की उत्कटता मुक्तेश्वर

में अधिक दीख पड़ती है। महाभारत की रचना में विषयान्तर करके उन्होंने अपनी महाराष्ट्रीय भावना का कहीं-कहीं आविष्कार किया। समकालीन सामाजिक अवनति का वर्णन करते समय वे मुसलमानों के निरंकुश शासन के दुष्परिणाम का सजीव चित्र खींचते हैं। मुक्तेश्वर के पांडव अंग्रेज, फिरंगी और मुसलमानों को भी पराजित कर अंकित करते गए हैं। यथार्थ में यह काल-विपर्यास है। पांडवों के काल में अंग्रेज और मुसलमान भारत में नहीं थे परन्तु दीन-हीन हिन्दू जनता का उत्साह बढ़ाने के लिए वे हेतुपुरस्सर उनकी पराजय का उल्लेख करते हैं। यह है कट्टर राष्ट्रीयता। उन्होंने महायुद्धों और युद्धों का ऐसा वर्णन किया कि सामयिक महाराष्ट्रीय युद्धों को देखने का आनन्द हम ले सकते हैं। भोज्य पदार्थ, वस्त्र-प्रावरण, वादन के साधन और शस्त्रास्त्रों का उन्होंने ऐसा वर्णन किया कि हम तत्कालीन महाराष्ट्रीय परिस्थिति से पूर्ण परिचित हो जाते हैं। महाराष्ट्र की परिस्थिति का वह जीता-जागता प्रतिबिम्ब है। वनपर्व में द्रौपदी धर्मराज को बड़ी मार्मिक सूचना देती है। वह कहती है—'स्वराज्य की प्राप्ति और रक्षा करने से देव संतुष्ट होते हैं। राजाओं के लिए यही यज्ञ जैसा है। जिस साधुवृत्ति के आचरण के कारण दुष्ट मदोन्दत्त होते हैं और सज्जन परम दुखी होते हैं उसका त्याग करना ही उचित है। व्यवहार में शांति का उचित आचरण करने में बुद्धिमानी है। दुष्टों के साथ शांति का बर्ताव करना आत्मघातक है। जैसे कांटों को मार्ग में कुचल कर हम आगे बढ़ते हैं वैसे दुर्जनों का नाश करके नीति का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।' क्या उपर्युक्त संवाद में राजनीतिक व्यंजना सूचित नहीं की गई? अपने काल के अनुसार कवि ने वक्रोक्ति का आश्रय लेकर साधारण जनों को स्वराज्य-प्राप्ति की ओर उन्मुख करने की चेष्टा की। वैसे ही 'नारदनीति' में आदर्श राजा का चित्र खींचकर उन्होंने जनता को सूचित किया कि वह वैसे आदर्श हिंदू राजा के लिये आंदोलन प्रारम्भ करे। इसीलिए हम मुक्तेश्वर को सच्चा महाराष्ट्रीय कवि कहते हैं। वैसे ही धृतराष्ट्र, दुर्योधन, कर्ण, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर और द्रौपदी इनके संलापों में उन्होंने अपने कालानुरूप उपर्युक्त व्यक्तियों की मनोवृत्तियाँ प्रगट कीं जिससे स्पष्ट होता है कि कवि अपनी सामयिक परिस्थिति पर प्रकाश डाल रहा था। कलापक्ष की ओर अधिक ध्यान देते हुए भी मुक्तेश्वर ने जन-जागरण किया। अतः उनका साहित्य पांडित्य, बहुश्रुतता, समाज-निरीक्षण, लालित्य, उत्कट

भावना, उदात्त विचार, मार्मिक स्वभावचित्रण, प्रवाही भाषा शैली और समुचित अंलकारों से समृद्ध है। मुक्तेश्वर की काव्य-रचना में कलात्मक आनन्द है और यही कला-काव्य की चरम परिणति है।

यहाँ कलाकवि मुक्तेश्वर से सम्बद्ध दो सम्मतिओं का उल्लेख करने का मोह हम नहीं रोक सकते। इतिहासाचार्य और मराठी के प्रकांड विद्वान् लेखक कै. वि. का. राजवाड़े ने अपने 'मराठी छन्द' शीर्षक लेख में लिखा है—'अभी तक अनेक कवियों ने काव्यरूप में महाभारत की रचना की है किन्तु मुक्तेश्वर की धीर-गंभीर रचना उनसे न सध सकी। इसका कारण ओविबद्धता नहीं वरन् रचयिता की प्रतिभा है। प्रतिभा, विषय और छन्द की एकरूपता होने पर ही काव्य-रचना की सफलता अवलंबित है। मुक्तेश्वर के महाभारत ने वाचकों के मन पर जो प्रभाव डाला वह मोरोपन्त का महाभारत भी न डाल सका। प्रतिभा की दृष्टि से तो मुक्तेश्वर पंडित मोरोपन्त से अधिक उच्चकोटि का कवि जान पड़ता है। एक महा-युद्ध के घन गर्जन और छोटी-सी चकमक से बने शस्त्रों की खनखनाहट में जो अन्तर है वही अन्तर मुझे मुक्तेश्वर की ओवी और मोरोपन्त की आर्या में मालूम होता है। 'मराठी वाङ्मय का इतिहास' के लेखक कै. ल. रा. पांगारकर कहते हैं-'मुक्तेश्वर की प्रतिभा, काव्य-कल्पना, वर्णन शैली, प्रकृति-निरीक्षण, बुद्धि की व्यापकता और राष्ट्रीय भावना में जो अनन्यता है उसके कारण कोई भी मराठी कवि उनकी समता नहीं कर सकता। उनकी वाणी में लोकोत्तर प्रसाद, दिव्य तेजस्विता और सृष्टि-सौन्दर्य के वर्णन की अनुपम क्षमता है। मुक्तेश्वर ने महाभारत के आख्यान की जो अजस्र महानदी प्रवाहित की, आगे चलकर मोरोपन्त ने उस महानदी के दोनों तटों पर मनोहर घाट बांधकर उसकी शोभा बढ़ायी। महाकवि मोरोपन्त ने स्वयं भी कह दिया है—'हम मुक्तेश्वर की कविता की कोटि को जन्म नहीं दे सकते।' उपर्युक्त सम्मतियों से कविवर मुक्तेश्वर के मराठी साहित्य में स्थान की कल्पना सहज में की जा सकती है।

चौथा अध्याय

संतशिरोमणि तुकाराम

(सन् १६०८–१६५०)

महाराष्ट्र का भव्य भक्तिप्रासाद संत ज्ञानेश्वर, संत नामदेव, संत एकनाथ और संत तुकाराम रूपी चार स्तम्भों पर खड़ा है। प्रसिद्ध संतिन बहनाबाई ने यही विचार निम्नलिखित अभंग में प्रगट किया—

ज्ञान राज ने ज्ञान बल डाली जो बुनियाद।
नामदेव ने नामवश रचो भव्य प्रासाद।
एकनाथ ने एकता रंग दिया चहुँ ओर।
उसी भक्ति पर धर्म का तुकाराम सिरमोर॥

जिस वारकरी सम्प्रदाय की नींव संत ज्ञानेश्वर ने डाली थी उसका शिखर संत तुकाराम ने बनाया। ज्ञानबा तुकाराम का जयघोष महाराष्ट्र के घर-घर में आज भी सुनाई दे रहा है। 'ज्ञानबा तुकाराम' लाखों वारकरियों की जिह्वा पर स्थित है। ज्ञानबा तुकाराम के जयघोष से मराठी भाषा के प्रदेश का प्रत्येक कोना, अंचल गूंज रहा है। कोई भी कीर्तन या भजन ज्ञानबा तुकाराम को वंदन किए बिना प्रारम्भ नहीं होता और उनके अभंगों का गान किए बिना समाप्त भी नहीं होता। ये दोनों महाराष्ट्र के हृदय-सम्राट् हैं, संत साहित्य के रवि-शशि हैं। दोनों ही अपनी साहित्य-सृष्टि से अधिक बड़े थे। अतः तुकाराम के अभंगों का रहस्य समझने के लिए उनके चरित का मर्म समझना अत्यावश्यक है क्योंकि उनका साहित्य अन्तर्हृदय का आविष्कार है। उनकी कविता शरीर के अलंकार जैसी नहीं प्रत्युत त्वचा जैसी है। जैसा हृदय वैसी भाषाशैली Style is the man सिद्धान्त संतश्रेष्ठ तुकाराम पर ठीक घटता है।

संक्षिप्त चरित्र:—श्री तुकाराम का जन्म देहू गाँव में विट्ठल भक्तों के घराने में सन् १६०८ में हुआ। यह मानना पड़ेगा कि विट्ठल भक्तों के कुल में

जन्म होने के कारण विट्ठल भक्ति उन्हें आनुवंशिक संस्कारों से ही प्राप्त हुई थी। वे स्वयं कहते हैं—'पाण्डुरंग की चरणसेवा मुझे अपने पूर्वजों से मिली। नौ पीढ़ियों तक विट्ठलोपासना के पुण्यव्रत का आचरण करनेवाले कुल में बीज जैसे फल के अनुसार तुकाराम का जन्म हुआ, याने अवतार हुआ। इनके पिता का नाम बोल्होबा और माता का कनकाई था। ये जाति के कुनबी अर्थात् शूद्र थे परंतु व्यवसाय करते थे वैश्य का। इनकी दुकान थी, कुछ लेन-देन था। वैसे ये घर के सुखी थे। इनके जीवन के प्रथम तेरह वर्ष माता पिता की छत्र-छाया में बड़े सुख से व्यतीत हुये। बचपन में अनेक खेल खेलने में ये निपुण थे। डंडा-डोली, गेंद-तड़ी, कबड्डी, गुल्ली-डंडा आदि खेलों का उनके अभंगों में उल्लेख मिलता है जिससे अंदाज किया जाता है कि वे उन खेलों में रुचि लेते थे, क्योंकि मनुष्य की रुचि, अरुचि, अनुभव, अभ्यास, भाव और विचारों का असर या प्रतिबिम्ब उसकी भाषाशैली एवं साहित्य में स्पष्ट दिखाई देता है। जब इनका प्रथम विवाह हुआ तब इनकी अवस्था तेरह वर्ष की थी। प्रथम पत्नी के रोगग्रस्त होने के कारण दो वर्ष बाद पिता ने इनका दूसरा विवाह कर दिया। दूसरी पत्नी का नाम जिजाबाई या आवली था। यह धनवान् पिता की कन्या थी। तुकाराम ने बड़े आनंद में प्रपंच करना प्रारम्भ किया। तुकाराम के बड़े भाई के विरक्त होने से पिता ने गृहस्थी का सारा भार तुकारामजी के कोमल कन्धों पर रखा। परंतु अलौकिक पुरुषों का सब अलौकिक होता है। तुकाराम ने सब काम सँभाल लिये। दुकान पर बैठना, हिसाब-किताब रखना और महाजनी चलाना, सभी व्यावसायिक एवं गृहस्थी के गुरुतर काम वे दक्षता से करने लगे। सब लोग उनकी प्रशंसा करने लगे। पाँच वर्ष इसी प्रकार बड़े सुख में बीते। तुकाराम के तीन लड़के हुए। घर धन-धान्य से भरा था। घर के सब लोग स्वस्थ थे और देहू में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। पीड़ा, दुःख व अभाव नाम मात्र को भी नहीं था। उनका प्रपञ्च पूरी तरह से सुखी था। परंतु 'कर्मणो गहना गतिः'। 'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति'। अतः अनेक आपत्तियें एक के बाद एक उन पर आती गईं। पहले माता-पिता चल बसे, अकाल पड़ा, दिवाला निकला, साख जाती रही, बड़ी भावज की दुःखद मृत्यु हुई, भाई घर से निकल गये, अन्न के बिना पहली भार्या की अतिहृदय-विदारक मृत्यु हुई, प्रथम पुत्र सन्ताजी की तड़पते हुये मृत्यु हुई संक्षेप में इक्कीस वर्ष के युवक और भावनाप्रधान तुकाराम पर आस-

मान फट गया और संकटों के पहाड़ आ पड़े। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि वे दुःखी और विरक्त बने। भावनाप्रधान पुरुष का यही लक्षण है कि जो धुन उसके मन पर सवार होती है उसके अनुसार वह उत्कटता से आचरण करता है। लोकोत्तर पुरुष का चित्त कौन जान सकता है? महाकवि भवभूति ने ठीक ही कहा कि महापुरुष का चित्त वज्र से भी अधिक कठिन परंतु फूल से भी अधिक कोमल होता है। तुकाराम का प्रापंचिक प्रेम जितना उत्कट था उतना ही उनका वैराग्य भड़क उठा। मानो उनके जीवन में क्रान्ति हुई। वे घर के बाहर चल पड़े और सीधे भंडारा के पहाड़ में जाकर भक्ति में तल्लीन हो गए। इधर अप्रत्याशित दरिद्रता के कारण उनकी पत्नी जिजाबाई उनके प्रति कठोर बन गई। वह स्वभाव से भड़भड़ी थी ही पर अब दरिद्रता से और पति के निठल्लेपन से चिढ़कर त्रस्त होकर वह उनके प्रति फट-फट बोलने लगी जिसका परिणाम यह हुआ कि तुकाराम का वैराग्य दिन प्रति दिन प्रबल होता गया। तुकाराम अपने अभंग में कहते हैं—'हे भगवन्! मैं तेरे प्रति बहुत आभारी हूँ क्योंकि तूने मुझे कर्कशा और चिड़चिड़ी पत्नी दी जो मुझे प्रपञ्च से अलग होने में सहायक बनी। अन्यथा मैं माया के मोह-जाल में फँसा रहता।' 'अच्छा हुआ भगवन्, कि मेरा दिवाला निकला। दुर्भिक्ष ने ग्रसा सो भी अच्छा ही हुआ। अनुताप होने से तेरा चिन्तन तो बना रहा और प्रपञ्च वमन होगया। पहली स्त्री मरी सो भी अच्छा, बच्चा चल बसा यह भी अच्छा, और यह दुर्दशा भोग रहा हूँ सो भी अच्छा ही है। संसार में अपमानित हुआ यह भी अच्छा ही हुआ। गाय, बैल और द्रव्यादिक सब चला गया यह भी अच्छा ही हुआ। लोक राजी नहीं रहे सो भी अच्छा ही हुआ और यह तो बहुत ही अच्छा हुआ जो मैं भगवन्! तेरी शरण में आ गया।' इस प्रकार ऐसे महद् दुःख से भी तुकाराम ने यही सन्तोष पाया कि अब परमेश्वर की भक्ति करने में कोई बाधा न रही।

श्री तुकाराम समीप के भामा पर्वत पर गए और पंद्रह दिन वहां एकान्तवास में रहे। चित्तवृत्तियों की शुद्धि करने के लिए वे दिन-रात हरिभजन में लगे रहते। इधर पत्नी जिजाबाई विकल हुई। वह थी तेज पर थी बड़ी पतिव्रता। वह और कान्हुजी, तुकाराम के अनुज, बड़े आग्रहपूर्वक तुकाराम को घर लिवा लाये। परन्तु अब वे प्रपञ्ची नहीं रहे, परमार्थी बन चुके थे। इतनी निर्धना-

वस्था होते हुए भी तुकाराम ने पिता के समय से जिन-जिन लोगों पर कर्ज था उन सबके रुक्के इन्द्रायणी नदी के प्रवाह में फेंक कर उनको स्वेच्छा से कर्ज मुक्त कर दिया। उनकी उदारता ने सबको स्तंभित कर दिया। आगे का वृत्तान्त संत तुकाराम के आत्मचरित्रपरक दीर्घ अभंग में पढ़िए। श्रोताओं के अनुरोध करने पर उन्होंने निम्नलिखित अभंग कहा—

विट्ठल देवल हुआ अति जीर्ण।
उद्धार की मन बात आयी॥ ५॥
पहिले कीर्तन पुनः एकादशी।
रहा न अभ्यासी चित्त तदा॥ ६॥
कुछ किये कंठ संतों के वचन।
विश्वास सम्मान उर धारे॥ ७॥
जहाँ नामगान गाऊं पद-टेक।
धरूं चित्त एक भक्तिभाव॥ ८॥
संत पद तीर्थ किया सुधापान।
दिये लज्जा भान छोड़ पीछे॥ ९॥
बन पड़ा जो भी किया उपकार।
काया कष्ट कर हरि भजे॥ १०॥
हित-नात-वच दृढ़ माया फंद।
तोडे भवबन्द हरि कृपा॥ ११॥
सत्य-असत्य में साक्षी रखा मन।
बहुमत मान भाना नहीं॥ १२॥
सपने में पाया गुरु-उपदेश।
नाम में विश्वास दृढ़ धरा॥ १३॥
तब स्फुर आयी कवित्व की स्फूर्ति।
हरि-पद-रति उर धारी॥ १४॥
'निषेध' की एक लगी भारी चोट।
दुखी हुआ चित्त काल एक॥ १५॥
बहियां डुबा दी बैठा दिये धरना।
आये प्रभु कान्हा समाधान॥ १६॥

कहाँ लों विस्तार है बहु प्रकार।
होगी बड़ी देर अतः इति॥ १७॥
अब जो हूं जैसा आपके सम्मुख।
भावी जो उन्मुख जाने हरि॥ १८॥
भक्तों को न भूलें कदा भगवान।
पूर्णदयावान मेरे हरि॥ १९॥
तुका कहे सारा यही मेरा धन।
श्री हरि वचन हरिबोल॥ २०॥

(मूल मराठी से अनूदित श्री तुकाराम चरित)

उपर्युक्त अभंग में बड़ी स्पष्टता से और नम्रता से संत तुकाराम ने अपने जीवन की कुछ प्रमुख बातें कहीं। उनके पूर्वज श्री विश्वम्भर बाबा ने बनवाया श्री विट्ठल मंदिर टूटा पड़ा था। उसका जीर्णोद्धार करने का विचार संत तुकाराम के मन में प्रबल होकर उठा। बड़ों के विचार और आचार एकरूप होते हैं। संत तुकाराम ने स्वयम् दिन-रात परिश्रम करके मंदिर का कार्य पूरा किया। वे साधना के लिए पहले एकादशी व्रत रखने लगे और नाम-संकीर्तन करने लगे। उन्होंने संत ज्ञानेश्वर, संत नामदेव, संत एकनाथ आदि पूर्ववर्ती संतों के ग्रंथों का अभ्यास किया और उनके कुछ बोधवचन कंठ किए। सन्त वचनों पर पूर्ण विश्वास रखा और अर्थ को समझते हुए उनको हृदय में धारण किया। कीर्तन, भजन, नाम-संकीर्तनादि के द्वारा मन की शुद्धि की और संतों की सेवा की। भजन में रममाण होते हुए भी शरीर से कष्ट करके जो भी परोपकार बन पड़ता उसे वे करते। परकाज के साधन में देह को घिस डालना उन्हें अच्छा ही लगता था। इस प्रकार जब वे हरिदर्शन के लिए सक्रिय एवम् कृतसंकल्प थे तब सद्गुरु श्री बाबा जी चैतन्य ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर 'श्रीरामकृष्ण हरि' मन्त्र का उपदेश दिया। अखण्ड हरि नाम स्मरण में जब उनका विश्वास दृढ़ होकर चित्त लीन होने लगा तब कविता की रचना करने की उन्हें स्फूर्ति हुई। कवित्व की स्फूर्ति भगवान का ही प्रसाद मान कर वे उसकी भक्ति में अधिक मग्न हुए। भगवान को प्रसन्न करने के लिए भगवान की ही प्रेरणा से वे कवित्व की मेघवृष्टि करने लगे परन्तु स्थिर स्वार्थी और परंपरावादी रामेश्वर भट्ट जैसे लोगों ने उनका कड़ा विरोध किया और उनके अभंगों की बड़ी पाण्डुलिपि नदी के दह

में डुबा दी। संत तुकाराम दुःखी हुए। उन्होंने भगवान के ध्यान में बिना अन्न-जल ग्रहण किए तेरह दिन का कड़ा अनशन किया। तब भगवान प्रसन्न हुए और किंवदन्ती है कि उन्होंने स्वयम् उनकी पाण्डुलिपि को जल से निकाल कर उनको दिया।

महान् व्यक्तित्व :—संत तुकाराम का जन्म संत ज्ञानेश्वर और संत एकनाथ के जैसा न तो उच्च जाति में हुआ था और न वे उनके जैसे पण्डित थे। वैसे ही न तो उन्हें संत नामदेव की जैसी दीर्घ आयु मिली थी और न तो संत नामदेव के जैसा संतसंग मिला था। उन्होंने अपने आपको संभाला और खूब सुधारा। वे अन्त तक गृहस्थी करते रहे परन्तु उनकी गृहस्थी असाधारण थी। उनकी आप-पराई भावना मिट गई। वे दूसरों के लड़कों पर अपने लड़के जैसा प्रेम करने लगे, परद्रव्य और परनारी को विष्ठा जैसा मानने लगे। उनका प्रपंच पूर्णतया परोपकारमय और परमार्थमय हो गया। यहाँ तक कि अपनी पत्नी की फटी साड़ी भी उन्होंने एक भिखारिन को दे दी और अपने लड़कों को उपवास कराकर गरीबों के लड़कों को अन्न दान कर दिया। उनके अमृतमधुर अभंगों से आकर्षित होकर सहस्रों श्रोता उनका भक्तियुक्त कीर्तन श्रवण करने के लिए एकत्रित होते थे। उनकी सूरज जैसी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा देखकर रामेश्वर भट्ट और मंभाजी बुवा जैसे व्यवसायी, दांभिक और परम्परावादी धर्माधिकारियों ने उनका असह्य अपमान कर उन्हें वर्णन के परे पीड़ा और कष्ट दिये। परन्तु संत तुकाराम अहिंसा, शांति, सहिष्णुता और मधुरता की मूर्ति थे। उन्होंने हँसमुख होकर सब कुछ सहन किया और पीड़ा देने वालों के लिये शुभ कामनायें प्रदर्शित की। उनकी अहिंसा ने विरोधियों पर विजय प्राप्त की तथा दुष्टों का हृदयपरिवर्तन किया। ऊपर निर्दिष्ट विरोधक उनके उपासक बने। देखिये, व्यक्तिगत अहिंसा की कैसी अलौकिक विजय थी! गृहस्थी में रहते हुये संत तुकाराम ने क्रोध, मद, मोह आदि षड्रिपुओं पर पूरी विजय प्राप्त की थी। उनके विरोधियों ने कई बार उन्हें कसौटी पर कसा पर अग्नि में सुवर्ण जैसे अधिक शुद्ध और तेजस्वी होकर वे रहे। एक बार एक रति जैसी सुंदर और मादक युवती उनकी ओर भेजी गई। वह उन्हें एकान्त में मिली और प्रणय-चेष्टाओं से आकर्षित करने लगी। संत तुकाराम उसके चरण पर गिरे और कहने लगे कि 'यदि तू मेरी माँ होती तो मैं कितना सुंदर पुत्र होता। माताजी, अपनी सुंदरता जैसी पवित्र

बनकर मेरी रक्षा कीजिये।' वह सुन्दरी अपना-सा मुँह लेकर चली गई। परनारी को माता मानने का कैसा अपूर्व उदाहरण संत तुकाराम ने प्रस्तुत किया। संत तुकाराम की कीर्ति सुनकर महाराज शिवाजी ने उनसे अनुरोध किया कि वे उनको गुरुमंत्र देकर कृतार्थ करें। राजगुरु बनने का स्वर्णावसर उन्हें अनायास प्राप्त हो गया परंतु निरपेक्षता की मूर्ति संत तुकाराम ने मोह का संवरण कर महाराज शिवाजी को स्पष्ट उत्तर दिया कि 'मैं राजगुरु नहीं बनना चाहता। समर्थ रामदासजी ही तुम्हारे गुरु बनने के योग्य साधु हैं।' दूसरी बार संत तुकाराम की आर्थिक दुर्दशा सुनकर महाराज शिवाजी ने हजारों रुपयों की सहायता उन्हें भेजी। परन्तु निर्लोभता के अवतार संत तुकाराम ने उसमें से एक कौड़ी भी स्वीकार नहीं की प्रत्युत अपने शुभाशीर्वाद के साथ उसको ज्यों का त्यों लौटा दिया। लोभ और मोह पर उन्होंने कैसी अद्वितीय विजय प्राप्त की थी ? उनकी महात्मता का कौन और कैसे पूरा वर्णन कर सकता है ? वे जैसा कहते थे वैसा चलते थे अतः उनकी प्रतिष्ठा, एवं कीर्ति नित्य बढ़ती ही गई। एवं पंढरपुराधीश्वर विट्ठल भगवान की वारी (यात्रा) तथा उसके गुणों का संकीर्तन करते हुए संत तुकाराम ने अपना परोपकारमय जीवन व्यतीत किया और स्वयं कृतार्थ होकर अमृतमधुर अभंगों के द्वारा साधारण लोगों को प्रभावोत्पादक सदुपदेश देकर उनको भी कृतार्थ किया। अन्ततोगत्वा कीर्तन करते-करते ४८ वर्ष की अवस्था में संत तुकाराम अन्तर्धान हो गये। उनकी देह फिर किसी ने नहीं देखी। उपस्थित दर्शकों ने सहसा कहा—'हम धन्य हो गये। हमने संत तुकाराम को अपनी आँखों से देखा।'

अभंगवाणी:—उनको परमेश्वर और गुरु की कृपा से सन् १६२५ में काव्य-स्फूर्ति हुई और तब से पच्चीस वर्ष तक उनके मुख से अभंगों की मेघवृष्टि होती रही। उन्होंने स्वयम् कहा—'सुनों, तुका मेघवृष्टि से उपदेश करता है। संकल्प में धोखा है, सहज जो है उत्तम है।' उनकी अभंगवाणी का स्वरूप यथार्थ में मेघवृष्टि-सा है। उसमें सहजपन, तीव्रता, स्निग्धता, जोर, कोमलता और समता है। जैसे मेघ परोपकार के लिये ही वृष्टि करता है वैसे ही तुकाराम सबको भक्ति का अमृतपान कराते हैं। मेघवृष्टि में जैसे योजनाबद्धता नहीं होती, वह यत्र-तत्र होती है वैसे ही संत तुकाराम की मुखगंगोत्री से सहस्रों फुटकर अभंग प्रवाहित हुये। जब उनके हृदय में जो भावना प्रबल होकर उठती थी वह अभंग के रूप में

प्रगट होती थी। अतः उनके सारे अभंगों का स्वरूप स्फुट है। किंवदन्ती के अनुसार उन्होंने कई सहस्र अभंगों की रचना की परंतु इसमें अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। उनके शिष्य और लेखक संताजी जनगडे के हाथ लिखी बहियों के आधार पर बम्बई प्रदेश की सरकार ने अभी तुकाराम की गाथा प्रकाशित कराई जिसमें लगभग ५००० अभंग संगृहीत हैं। यह प्रामाणिक गाथा है। संत तुकाराम के अभंगों का क्रम निश्चित करना कठिन है पर संत साहित्य के मर्मज्ञों ने अनुमान किया है कि बालकृष्ण के बालक्रीड़ा सम्बन्धी-अभंगों की स्फुट रचनाओं से उन्होंने काव्य-रचना का प्रारंभ किया होगा क्योंकि उनमें छंद एवं वृत्तों की विविधता है जो नवसिखुएपन का लक्षण माना जाता है। उक्त रचनाएँ ओवी, श्लोक, पद, आरती और अभंगों में हैं। निःसंदेह इनमें आभ्यंतरता या आत्मनिष्ठा या विषयीनिष्ठा और कवित्व ओतप्रोत है। इसके पश्चात् मँजे हुए कवि संत तुकाराम के अभंगों का निम्नलिखित विभाजन किया गया है—

(१) आत्मचरित्रात्मक और आत्मपरीक्षक। (२) आत्मानुभव-निवेदनात्मक। (३) उपदेशात्मक। (४) संतचरित्र-वर्णनात्मक। (५) पौराणिक कथात्मक। (६) पांडुरंग-स्तुतिपरक और पंढरपुर-महिमा-वर्णनात्मक। (७) विविध प्रसंगनिष्ठ और (८) हिन्दी स्फुट रचनाएँ।

संत तुकाराम ने अपने कवित्व का सच्चा स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा कि— 'तुका तो अपने मन से बातें करता है। उसके अभंगों में स्वयं से किया गया स्वयं ही का वाद है।' संतों का अपनी आत्मा से जो संवाद होता है उसका स्थूल स्वरूप देव-भक्त-संवाद है। तुकाराम की गाथा में देव-भक्त संवादात्मक सहस्रों अभंग हैं। किन्तु उनमें रूक्षता, नीरसता या उबा देनेवाली एकरूपता नहीं है। अपने अभंगों में समय-समय पर संत तुकाराम जी भिन्न-भिन्न भूमिकाओं पर अपने आपको प्रतिष्ठित कर भूमिकानुकूल रस से भरे हुए अभंग अपने मुँह से निकालते हैं। वे कहीं विट्ठल भगवान को माता, कहीं पिता, कहीं मित्र, कहीं साहूकार—जिसके पास से उन्होंने ऋण लिया हो, तो कहीं कर्जदार जो उनके ऋण में हो आदि कहते हैं। संत तुकाराम बड़े आवेश में श्री विट्ठल से लड़ते, झगड़ते, प्रेमकलह करते, भली-बुरी सुनाते, कभी क्षमा माँगते, पैरों पड़ते, रोते और अनेक प्रकार के खेल खेलते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने देव को अधिकतर माता ही माना था। मराठी संतों की विशेषता है कि उन्होंने

आराध्य देव को अधिकतर माता के रूप में ही देखा और माना। परन्तु संत तुकाराम की यही विशेषता है कि उन्होंने अपनी कल्पना के बल पर आराध्य देव से कई संबन्ध स्थापित किए। उपर्युक्त सब अभंग उत्कृष्ट और रसभीने हैं जिनका रस-ग्रहण केवल आस्वाद्य है, वर्ण्य नहीं। उनमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्तादि अलंकारों का समुचित उपयोग किया गया है। परमेश्वर के दर्शन के लिए संत तुकाराम कैसे व्याकुल हो गये थे, पढ़िए। वे कहते हैं—

'जैसे कन्या सर्वप्रथम ससुराल को जाते समय बार-बार मायके की ओर देखती है वैसी ही व्याकुल अवस्था मेरी भी हो गई है। अतः हे भगवन्! तू मुझे कब दर्शन देगा? जैसे माता से बिछुड़ा हुआ बालक उसे व्याकुलता से खोजता है अथवा जल से बाहर निकली हुई मछली तड़पती है वैसी ही बेचैनी मैं अनुभव कर रहा हूँ। हे भगवन्! तू कब दर्शन देगा?' देखिये संत तुकाराम ने उपर्युल्लिखित अभंग में कैसी सार्थ एवं समर्थक उपमाएँ दी हैं जो हृदय को सीधे स्पर्श करती हैं, हिला देती हैं और रसोत्पत्ति भी करती हैं।

श्री हरि के प्रसाद से सब दुःख नष्ट हो जाते हैं अतः उसका नामस्मरण करने के लिए संत तुकाराम कहते हैं—'नामस्मरण करना ही भवरोग की औषधि है। जन्म, जरा और सब व्याधियाँ इससे दूर हो जाती हैं। हानि तो कुछ भी नहीं होती, षड्रिपुओं का हनन अवश्य हो जाता है। चारों वेद, उपनिषदों और अठारहों पुराणों के जो सार-सर्वस्व हैं उन श्यामसुन्दर की छवि को अपनी आँखों देख लो, कुटिल खल कामियों का स्पर्श अपने से न होने दो, मुख से निरन्तर विष्णुनाम-सहस्रमाला फेरते रहो।' वे दूसरे अभंग में कहते हैं—'अनुतापतीर्थ में नहा लो और दिग्वस्त्र को ओढ़ लो, जिससे आशा का पसीना निकल जाय। तब तुम वैसे ही हो जाओगे जैसे पहले थे अर्थात् मूल सच्चिदानन्द-स्वरूप।' ऊपर उद्धृत किए अभंगों में कितनी सहजता से उन्होंने सरस रूपकों का उपयोग किया है?

संत तुकाराम को सगुण भक्ति अति प्रिय थी। वे कहते हैं—'भगवन्! हमेशा मेरी आँखों में अपनी मूर्ति खड़ी रहने दो। हे मेरे सुहृत! आपका रूप भी मीठा और नाम भी मीठा है। मुझे इन्हीं का प्रेम दो। अगर कुछ माँगना है तो यही माँगता हूँ कि आपके चरणों की सेवा का सुख मुझे प्राप्त हो।' प्रायः

सब पुनर्जन्म से बचने की प्रार्थना करते हैं परन्तु संत तुकाराम भक्ति के लिए पुनर्जन्म मांगते हैं। वे कहते हैं—'हे पांडुरंग, मेरी विनय सुनना हो तो मुझे मुक्त न करो पर जन्म ऐसे दो जिनमें आपके चरणों की सेवा करने का अवसर मिले। फिर स्वर्ग की भी मुझे इच्छा नहीं। मृत्युलोक में भी मैं सुखी रहूँगा।' सचमुच वे मुक्ति की अपेक्षा भक्ति के सुख को अधिक महत्व देते थे और भक्ति के लिए ही भक्ति करते थे। इसीलिए साधु-समागम की आप सदा तीव्रता से इच्छा करते थे। संतों के सेवक होने की और उन्हीं के समीप रहने की आपकी इच्छा अभंगों में सदा उमड़ पड़ती थी। वे कहते हैं—'हे भगवन्! पंढरीनाथ को कुल-देवता माननेवालों की दासियों का भी पुत्र होने की, पंढरी की वारकरी करने वाले के घर का जानवर भी बनने की, दिन-रात श्री विट्ठल का चिंतन करने वालों के पैर की जूती भी होने की, या उनका पूजन करने वालों के यहाँ झाड़ू भी करने की मैं इच्छा रखता हूँ।' संतों के सहवास में अनायास नामस्मरण किया जाता है। संत तुकारामजी ने प्रत्येक व्यक्ति को नामस्मरण करने का उपदेश दिया। उनकी राय में इससे अधिक सुलभ साधन दूसरा नहीं है। नाम-स्मरण पर उनकी अटल श्रद्धा थी। वे कहते हैं—'हरि कहने से ही मुक्ति मिलती है। हरि कहने से ही पाप का नाश होता है। हरिस्मरण से ही सब सुख मिलते हैं। तपस्या, अनुष्ठान इत्यादि साधनों की नाम जपनेवालों को आवश्यकता नहीं। केवल हरि-हरि कहने से ही सब प्रकार के कार्य सिद्ध होते हैं और सब प्रकार के बंधन छूट जाते हैं। यदि हरि का नाम लिया जाय तो दूसरों की तो बात ही क्या, साक्षात् काल भी उसकी शरण लेता है।' एवम् व्यक्तिगत उद्धार के लिए नामस्मरण का सीधा और सरल साधन बताते हुए सब समाज को एक ही समय एकचित्त करने के हेतु आपने भगवद्गुणों का संकीर्तन करना बहुत उपयुक्त साधन बताया है। वे कहते हैं—'कीर्तन में ईश्वर का ध्यान होता है। अन्य विषयों में आसक्त मन एकदम ईश्वर की ओर खींचा जाता है। कीर्तन सब साधनों का अलंकार है। भावभक्ति से कीर्तन कर मनुष्य स्वयं तो तरता ही है पर अन्य जनों को भी तारता है। हरि-कथा दुःख-हरण करती है, जनों के पाप नाश करती है, दोषी लोगों का उद्धार करती है। हरि-कथा एक प्रकार का त्रिवेणी संगम है। यहाँ पर देव, भक्त और नाम तीनों का समागम होता है।' एवम् उनकी दृढ़ श्रद्धा थी कि नामस्मरण से व्यक्ति का उद्धार हो

सकता है और कीर्तन से समाज का। इसीलिए वे पंढरपुर की वारी की महत्ता समझते थे। संत तुकाराम ने सांघिक प्रार्थना का सामर्थ्य खूब समझा था। संत ज्ञानेश्वर और संत नामदेव से चली आई श्री पंढरपुर की वारी की प्रथा को तुकारामजी ने खूब बल दिया उसका व्यापक प्रचार किया। उनके उपदेश के कारण लाखों भक्त (वारकरी) आषाढ़ और कार्तिक की शयनी और प्रबोधिनी एकादशी के दिन पंढरपुर में एकत्रित होते हैं। जब स्थल-स्थल पर इनके भजन, कीर्तन होते हैं जब जहाँ-तहाँ मृदंग और झाँझ की आवाज सुनाई देती है और जब वे सब भक्त तन्मयता से 'विट्ठल-विट्ठल' कहते हुए नाचने लगते हैं, तब इस पवित्र विट्ठल शब्द की प्रतिध्वनि केवल मनुष्यों के ही मन में नहीं, घरों के पत्थरों में भी गूँजने लगती है और अभाविक से अभाविक मनुष्य भी अपनी अश्रद्धा तथा नास्तिकता भूलकर स्वयं ही 'विट्ठल-विट्ठल' कहकर नाचने लगता है। सांघिक सामर्थ्य का यह प्रभाव ध्यान में रखकर ही संत तुकाराम ने पंढरपुर की वारी की महत्ता बार-बार प्रतिपादित की !

विराणी के अभंग—हम पहले कह चुके हैं कि देव से संवाद करते समय संत तुकारामजी भिन्न-भिन्न भूमिकाओं पर अपने को समझते थे। कहीं विट्ठल को पिता कहते, कहीं माता मानते, कहीं साहूकार कहते तथा कहीं मित्र कहकर प्रेमकलह करते। परंतु उनके अभंगों में विराणी के अभंग अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। विराणी का अर्थ है स्वैरविहारिणी। इन अभंगों में तुकारामजी ने स्वैरिणी की अर्थात् अपने पति को छोड़कर जिस अन्य पुरुष पर उसका प्रेम है उसके साथ स्वैर विहार करनेवाली स्त्री की भूमिका स्वीकार करके शृंगार की अवस्था में अभंगों की सरस रचना की। ये अभंग मधुरा भक्ति से ओत-प्रोत हैं। महाराष्ट्र में संत ज्ञानेश्वर के काल से मधुरा भक्ति की धारा प्रवाहित हुई, यद्यपि वह क्षीण थी और उसका प्रवाह यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता था। संत तुकाराम कहते हैं—'पहले पति द्वारा मेरे मनोरथ पूर्ण न हुए। अतः मैं व्यभिचारिणी बनी। मेरे पास मेरा प्रियकर रात-दिन चाहिए। एक क्षण भी बिना उसके मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं तो अब अनंत से रममाण हो चुकी। अब मैंने अपने सब संसार-पाश तोड़ डाले। अब तो सर्वकाल सब प्रकार के सुखों का ही उपभोग मुझे लेना है। इसी वास्ते पति को त्याग कर इस परपुरुष के साथ रत हुई हूँ। अब तो ऐसी दवा ली है कि जिससे न गर्भ रहे और न कुछ फलप्राप्ति हो।'

संत तुकारामजी जब जिस मनोवृत्ति में होते उसी के अनुरूप उनके मुख से अभंग प्रवाहित होते। वे बार-बार, कठोर आत्मपरीक्षण करते, दोषों को ढूँढ़ते, उन्हें सुधारने की भरसक चेष्टा करते और अंत में सिद्धि पाते। अतः उनके आत्मपरीक्षण एवं अनुताप के आलाप बहुत रसभीने और स्वाभाविक हैं। प्रायः ऐसा देखा गया है कि आत्मपरीक्षण के समय मन की दुर्जयता की बात सबको तीव्रता से सताती है। तुकारामजी ने मन की दुर्जयता अनेक अभंगों में सरसता से प्रतिपादित की। वे कहते हैं-'यह मन मछली की भाँति एक बार निगला हुआ गल (वंसी) बाहर नहीं उगल सकता, जैसे ललचाया पशु पीठ पर मार खाते हुए भी खाने की चीज से अपना मुँह दूर नहीं करता वैसे ऊपर से दुःख की चोटें पड़ते भी यह बेशरम मन विषयों से दूर नहीं हटता। बकरी जैसे चट्टान पर दौड़ती जाती है वह इस बात का विचार नहीं करती कि आगे जाने से गिरेगी या मरेगी पर पीछे से डर मालूम होते ही कूद पड़ती है ठीक वैसा मन का स्वभाव है। इस मन का सबसे बड़ा दोष है कि किए हुए निश्चय पर यह दृढ़ नहीं रहता। पल-पल पर यह स्वयं को विकल्पों से भरता रहता है। समुद्र में उछलती हुई लहरों का-सा इसका स्वरूप सदा बदलता रहता है। इसकी प्रार्थना या विरोध जिस प्रमाण में किया जाय, उसी प्रमाण में वह प्रार्थित विषयों से दूर और निषिद्ध विषयों की ओर दौड़ता जाता है। जितने विषयों का यह आस्वाद लेता है उन्हीं के रंग लेकर वह उठता है और इस प्रकार अनेक रंगों से रँग जाने के कारण इस पर एक भी रंग भली भाँति जम नहीं पाता।' संसार-समुद्र पर आपने एक अनुभव और अनुतापयुक्त रूपक रचा। वे कहते हैं—'यह भवसमुद्र बड़ा दुस्तर है। समझ नहीं पड़ता कि इसके पार कैसे जाऊँ? काम-क्रोधादि जलचर बड़े भयंकर हैं। माया, ममता इत्यादि भवँर पड़े हुये हैं। वासनाओं की लहरें उठ रही हैं और उद्योगों की हिलोरें बैठ रही हैं। इसको तैरने की केवल एक ही युक्ति है और वह है नामरूपी नौका का आश्रय।'

अनाहत ध्वनि की गूँज:—इसी प्रकार आत्मरंग में रँग जाने का स्वानुभवसिद्ध वर्णन वे करते हैं। वे लिखते हैं—'श्री पांडुरंग की कृपा से सब संदेह और बुद्धिभेद दूर हो गए। अब तो जीव-शिव की शय्या आनंद से सजाई गई। तुकाराम ने उस पर आरोहण भी किया। अब उसे निजरूप की नींद लग गई और अनाहत ध्वनि के गीत उसकी नींद न खुलने के हेतु

गाये जाने लगे।' दूसरे अभंग में उन्होंने कहा—'अब तो प्यास प्याऊ को पी गई और भूख को भूख ने खा डाला। श्री विट्ठल ने ऐसी कृपा की कि अब वासना की वासना भी नहीं बची और मेरा चंचल मन श्री विट्ठल के चरणों पर पंगु होकर गिर पड़ा। अपनी भूल जीव ने पहचान ली। यदि अब कुछ बाकी बचा है तो वह है एकाकी तुकाराम।' परमात्मा में लीन होने का वर्णन पढ़िए—'हृदयस्थ परमात्मा पहचानकर चित्तवृत्ति स्थिर हो गई। प्राण-वायु लँगड़ी गिर पड़ी। अधखुले नेत्र तेज से चमकने लगे। गला भर आया। शरीर में रोंगटे खड़े हो गए। जिधर देखो उधर नील वर्ण का प्रकाश दीखने लगा। जिह्वा अमृतपान करने लगी। आनंद पर आनंद की हिलोरें आने लगीं और प्रेम से डोलता हुआ तुकाराम अब निश्चयपूर्वक परमात्मा में लीन हो गया।' संत तुकाराम ने आत्मानुभव के द्वारा श्री विट्ठल नाम पर रसायन का और ब्रह्मानंद पर आरोग्य का कैसा बढ़िया रूपक बनाया, पढ़िए—'प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के भागों को औटाकर यह उत्तम रसायन बनाया। ज्ञानाग्नि पर उसे खूब आँच देकर कढ़ाया। प्रतीति रूपी मुख से इस रसायन का प्राशन किया। बड़ी साधना से हरएक खूराक के साथ उसका ध्यान रखा। तब वह रस सब शरीर में समरस हो गया। सब काया सुख से भर गई। अब तो तुकाराम के आठों अंगों को आरोग्य प्राप्ति हो गई। अब तो वह ब्रह्मानंद में रँग गया।' आपने स्वानुभूत विदेहावस्था का मार्मिक वर्णन किया। वे कहते हैं—'अब तो मैं न पाप मानता हूँ न पुण्य, न सुख न दुःख। हानि लाभ की मेरी सारी कल्पनाएँ नष्ट हो गईं। जिंदा रहते ही मैं मर गया। मेरा अपना-पराया भाव नष्ट हो गया। अब तो जात, अधिकार, वर्ण, धर्म किसी का ठिकाना न बचा। सत्यासत्य, जन-बन, अचेत-सचेत इत्यादि द्वैतों के लिए स्थान ही नहीं रहा। सब देह श्री विट्ठल के चरणों पर जब मैंने समर्पण कर दिया तभी मेरी सब प्रकार की पूजा पूरी हो चुकी।' संत तुकाराम ने 'देह में ही देव को' पहचाना और अन्य भाविकों को वैसा करने का दृष्टान्तयुक्त उपदेश किया। वे कहते हैं—'देव को मन में देखते नहीं हो। घूम-घूमकर तीरथ के गाँवों में उसे ढूँढ़ रहे हो। मृग की नाभि में तो कस्तूरी रहती है, पर उसके सुवास की खोज में वह बन-बन मारा फिरता है। जैसे चीनी का मूल ईख, वैसे ही देव का मूल देह है। दूध में ही मक्खन है, पर लोग उसे मथना नहीं जानते। तुकाराम तो अब लोगों से यही कहता है कि इसे मथने की क्रिया

को अच्छी तरह से जानो और देह में ही देव को पहचानो।' कौन कह सकता है कि संत तुकाराम उपयुक्त अलंकारों की योजना करने में निपुण नहीं थे ? एवम् आपके अभंगों की जितनी बड़ाई की जाय उतनी कम है। अंत में हम काव्य की दृष्टि से उनका मूल्यांकन करेंगे ही।

सदुपदेश-भरे सुभाषित:—संत तुकारामजी का मन शुद्ध व्यष्टिनिष्ठ होते हुए भी समष्टिनिष्ठ था। वे स्वभाव से, प्रकृति से कवि थे अर्थात् संवेदनाशील थे। पीड़ित एवं दुखी जनों के दुःख देख कर उनका कुसुम-कोमल हृदय पसीज उठता था। उसी करुणाभरे हृदय से सदुपदेशभरे अभंगों का स्रोत सहज में प्रवाहित होने लगता था। आप स्पष्टता से कहते हैं—'इस भवसागर में लोगों को डूबते हुए इन आँखों से नहीं देखा जाता, हृदय तड़प उठता है।' सचमुच उनके उपदेशभरे अभंगों में उनकी हृदय की बेचैनी और लोकमंगल करने की भावना ओतप्रोत है। उनमें सैकड़ों सुभाषित पाये जाते हैं। ये सब सुभाषित मराठीभाषा-भाषियों को जिह्वाग्र हैं। सुभाषितों की सफल रचना करना महाकवि की एक कसौटी मानी जाती है। कुछ सुभाषितों का आस्वाद कीजिए—

(१) नामस्मरण भवरोग की औषधि है।

(२) अनुताप-तीर्थ में नहा लो और राम-नाम का जप करो।

(३) उद्योग करने से असाध्य भी साध्य हो जाता है। अभ्यास ही फल देनेवाला है।

(४) संसार में ही बने रहो पर हरि को न भूलो।

(५) हरिनाम जपते हुए सब काम न्याय-नीति से किये चलो।

(६) संसार में सुख जौ बराबर है तो दुःख पहाड़ बराबर है

(७) ध्यान रखो कि शरीर काल का कलेवा है।

(८) गर्भवती होने का स्वांग रचने से बच्चा थोड़े ही पैदा होता है, केवल हँसी होती है।

(९) स्वाँग बनाने से भगवान नहीं मिलते।

(१०) निर्मल चित्त की प्रेमभरी चाह नहीं तो जो कुछ भी करो अन्त केवल आह !

(११) ज्ञानलवदुर्विदग्ध तार्किकों की अपेक्षा अपढ़, अनजान, भोले-भाले लोग ही अच्छे होते हैं।

(१२) जहाँ चित्त शुद्ध होता है वहाँ शत्रु भी मित्र बन जाते हैं ।

(१३) जहाँ परद्रव्य और परनारी का अभिलाष हुआ वहाँ भाग्य का ह्रास आरम्भ हुआ ।

(१४) विधिपूर्वक सेवन विषय-त्याग के ही समान है ।

(१५) कीर्तन के नाम पर जो द्रव्य लेते-देते हैं वे दोनों नरक में गिरते हैं ।

(१६) अद्वैत कहने की बात नहीं है, स्वयं होने की है ।

(१७) चने चबाने पड़ते हैं लोहे के, तब ब्रह्मपद पर नृत्य करते बनता है ।

(१८) चित्त जब उपराम हो तब प्रेमरस उत्पन्न हो ।

(१९) दया नाम सबके पालन और कण्टकों के निर्दलन का है ।

(२०) जैसी बानी वैसी करनी । श्रद्धा उस पर जड़ती है ।

(२१) कवित्व करने से संत नहीं बनते हैं ।

(२२) जहाँ दया, क्षमा और शांति रहती है वहाँ देव रहता ही है ।

(२३) जहाँ तड़पन हो वहाँ लाभ की दृष्टि नहीं रहती ।

(२४) सदा सर्वदा लोगों को संतुष्ट करना आत्मा को धोखा देना है ।

(२५) हम परस्पर सहायता से सुपंथ पर चलना सीखें ।

ऐसे सैकड़ों सुभाषित-रत्नों से संत तुकाराम का अभंग वाङ्मय अलंकृत है । उदाहरण के लिये ऊपर कुछ उद्धृत किये गए । संत तुकारामजी ने विष्णुदासों के संबंध में बड़ा मार्मिक वचन कहा—'जहाँ विष्णुदास मोम से भी मुलायम होते हैं वहाँ वे कठिनतम वज्र का भी भंग करने में समर्थ होते हैं ।' क्या यह सिद्धान्त आपकी भाषा-शैली के बारे में चरितार्थ नहीं होता ? आपकी भाषाशैली जहाँ कुसुम-कोमल है वहाँ समय पड़ने पर तलवार से भी अधिक तीक्ष्ण है । तुकारामजी के उपदेशों में सौम्य उपाय से लेकर 'पकड़ने तथा बाँधने और दागने' तक के उग्रतम उपाय शामिल हैं । उनके अभंग मानो समृद्ध औषधालय हैं । वे कहते थे कि जैसा जिसका अधिकार वैसा ही उसको उपदेश किया जाता है । आपने स्वराज्य-संस्थापक महाराज शिवाजी से लेकर वैदिक ब्राह्मणों को, सिद्धों को, भक्तों को, दाम्भिकों को, भलों को और खलों को, गृहस्थों को, वीरों को और कायरों को स्पष्टता से उपदेश दिया । अतः आपके अभंग सबके लिए समानता से उपयुक्त ठहरे । संस्कृत के साहित्याचार्य अभिनव गुप्त ने सुहृत्सम्मित उपदेश की बहुत प्रशंसा की । सुहृत्संमित उपदेश हितकर मित्र जैसा स्पष्ट

शब्दों में व्यक्तिगत दोष बताकर उस व्यक्ति को सुधारने की चेष्टा करता है। संत तुकारामजी के उपदेशभरे अभंग इसीलिए काव्य माने जाते हैं। ये अभंग लोकमंगलकारी काव्य का उत्कृष्ट आदर्श हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। उन्हें सुनने या पढ़नेवाला व्यक्ति जिस मनःस्थिति में होगा, उसके अनुकूल उपदेश उसके मन में दृढ़ जम जाता है। इसीलिए हमने पहले कहा कि यह अभंग-संग्रह धर्मार्थ औषधालय जैसा है। सौम्य से सौम्य औषधियों से लेकर तीव्र से तीव्र औषधियाँ या उपाय इसमें पाये जाते हैं।

अभंगों की विशिष्टताएँ:—पहली और सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि इन अभंगों को पढ़ते या सुनते ही कवि (तुकारामजी) की मूर्ति आँखों के सामने खड़ी हो जाती है। उनके अभंग क्या हैं, उनके हृदय के उद्गार हैं। वे केवल कलावादी या सौन्दर्यवादी कवि नहीं थे, पूर्णतया जीवनवादी कवि थे। इसी कारण उनका प्रभाव पाठकों पर अमिट पड़ता है। यह चिर-संस्कारकारी काव्य है न कि क्षणिक मनोरंजनकारी। दूसरी विशेषता है फुटकरता। उक्त अभंगों में कवि के हृदय की तड़पन और आत्मानुभव का कथन होने से वे एक विषय पर सुसंबद्ध नहीं हैं। उनकी रचनाएँ प्रसंगनिष्ठ हैं। अतः उनमें पंडिताई नहीं है। बुद्धि की चमक-दमक दीख नहीं पड़ती। परंतु यह कविता हृदय से निकलती है और पाठकों या श्रोताओं के हृदयों से हो सीधी जा मिलती है। इसलिये यह पूरा रसभीना एवम् रसोत्पादक काव्य है। 'काव्यं रसात्मकम् वाक्यम्' व्याख्या के अनुसार यह उत्तम काव्य है। तीसरी विशिष्टता है कि यह अभंगकाव्य प्रासादिक एवम् कर्णमधुर भाषा में रचा गया है। भाषा इतनी सरल, सुबोध और प्रभावकारी है कि प्रसंगवश पाठकों और श्रोताओं के मन में अपेक्षित भिन्न-भिन्न भाव या विकार उठते हैं। संक्षेप में इसके शब्द और अर्थ 'रत्नकांचनमणियोग' न्याय से बने हैं। 'वाचमर्थोऽनुधावति', न्याय भी यहाँ चरितार्थ होता है। चौथा विशेष गुण है कि संत तुकाराम ने व्युत्पन्न साहित्य-शास्त्रज्ञ न होते हुए भी इतने मार्मिक, समुचित और सर्वपरिचित दृष्टांतों की एवम् रूपकादि अलंकारों की योजना सहज में की कि उनकी शोभा वर्णन के परे है। यहाँ अलंकार और भाषा-शैली पूर्णतया एकरूप है मानो रूपवती की सुवर्णकांति। अलंकार भाषा-शैली में दूध में चीनी जैसे घुल गये हैं।

पाँचवीं विशिष्टता है थोड़े शब्दों में बड़ा और गहन सत्य प्रकट करना। इन अभंगों की भाषा नपी-तुली है। तुकारामजी शब्द-पांडित्य एवम् शब्दाडंबर का प्रदर्शन करने के कट्टर विरोधी थे। आप कहते थे कि 'केवल शब्दज्ञान ने ब्रह्मज्ञान को नष्ट कर दिया।' उनका लोकभाषा पर पूरा अधिकार था। इन्हीं कारणों से आपकी अभंगवाणी कुमारों से लेकर वृद्धों तक, अपढ़ों से विद्वानों तक लोगों की जिह्वा पर अभी तक निवास करती है और जब तक मराठी भाषा जीवित रहेगी तब तक निवास करेगी। इसी दृष्टि से आपने आत्मविश्वास के बल पर अपने स्फुट काव्य को 'अभंग' (जिनका भंग, नाश नहीं होगा) कहा और इसीलिये आपके अभंग संत-साहित्य-मंदिर का शिखर बने।

संत तुकारामजी की हिंदी कविता :—पूर्ववर्ती संत कवियों के समान संत तुकाराम जी ने भी कभी-कभी लहर आ जाने पर महाराष्ट्र में प्रचलित हिंदी भाषा में अभंगों की रचना की। मुसलमानों का शासन होने के कारण महाराष्ट्र में उर्दूप्रधान हिंदी अर्थात् हिंदुस्तानी भाषा का प्रचार था। अतः तुकाराम जी के अभंगों पर हिंदुस्तानी का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। उन पर मराठी का प्रभाव रहना स्वाभाविक है। भागवत संप्रदाय के कवियों ने गोपी-प्रेम से भरी कविता की बहुत रचना की। भला महाराष्ट्र का भागवत संप्रदाय इसका अपवाद कैसे हो सकता था ? संत तुकाराम के 'गवालन' शीर्षक तीन अभंग उपलब्ध हैं। पहला अभंग है—

मैं भूली घर जानी बाट।
गोरस बेचन आये हाट ॥ १ ॥
कान्हा रे मन मोहन लाल।
सब ही बिसरूँ देखे गोपाल ॥ २ ॥
काहा पग डारूँ देख आनेरा।
देखें तो सब वोहिन घेरा ॥ ३ ॥
हुं तो थकित भैर तुका।
भागा रे सब मन का धोका ॥ ४ ॥

श्री तुकाराम जी के समय में महाराष्ट्र में मुसलमान धर्म के कई संप्रदाय प्रचलित थे। उनमें 'दरवेस' एक संप्रदाय था। ये लोग घर-घर अल्ला के नाम

से फेरी करते हुए भीख माँगते थे। इनकी आलोचना करने के लिए निम्नलिखित अभंग लिखे गए—

अल्ला करे सो होय बाबा, करतार का सिरताज।
गाऊ बछरे तिसे चलावे, यारी बाघोन[1] सात॥
जिकिर करो अल्ला की बाबा सबल्यां अंदर भेस।
कहे तुका जो नर बूझे सोहि भया दरवेस॥

परमेश्वर सब कर्त्ताओं में श्रेष्ठ है। ऐसा कि गाय-बछड़े इत्यादिकों की बाघ के साथ मित्रता कराता है। अतः बाबा, जो सभी बाह्य आकारों के अन्तर्गत है उस परमेश्वर की बात करो। जो इस बात को जानता है वही खरा दरवेस है। घट-घट में व्याप्त हुए ईश्वर के प्रति कैसी खूबी के साथ सचेत किया गया है।

भक्ति की गोलियों की तारीफ सुनिए—

सब रसों का किया भार। भजन गोली एकहि सार॥
ईमान तो सब ही सखा। थोड़ी तो भी लेकर खा॥ १॥

अब यह भक्ति की गोली जो व्यक्ति पूर्व वयस में नहीं खाता उसकी दुर्दशा का तीखा वर्णन तुकाराम जी करते हैं।

सब ज्वानी निकल जावे। पीछे गधड़ा मट्टी खावे॥
गाँव ढाल सो क्या लेवे। हगवनी भरी नहीं धोए॥ २॥

गधड़ा, गाँवढाल, हगवनी तीनों मराठी ग्राम्य शब्द हैं। तुकाराम जी अपने स्वभावानुसार ग्राम्य शब्दों का कभी-कभी उपयोग करते थे। इनके अर्थ हैं गदहा, बेवकूफ और लतियल।

संत कबीरदास जी के दोहरे महाराष्ट्र में कई लोगों को कंठस्थ थे। ऐसा लगता है कि उक्त दोहरों का अनुकरण करके तुकाराम जी ने भी कुछ दोहरों द्वारा लोगों को उपदेश दिया। छंद की दृष्टि से वे अशुद्ध एवम् दोषयुक्त हैं। आइए, कुछ दोहरों का रसास्वाद लीजिए—

तुका बड़ो न मानू, जिस पास बहुदाम।
बलिहारी उस मुख की, जिससे निकले राम॥ १॥

१. बाघोन = बाघ यारी = दोस्ती।

लोभी के चित धन बैठे, कामिनी के चित काम।
माता के चित पूत बैठे, तुका के मन राम॥ २॥
तुका प्रीत राम सुं, तैसी मीठी राख।
पतंग जाय दीप पर रे, करे तन की खाक॥ ३॥
चित्त मिले तो सब मिले, नहिं तो फुकट संग।
पानी पथर एक ही ठोर, कोर न भीजे अंग॥ ४॥
तुका इच्छा मीट नहीं तो काहा करे जटा खाक।
मथीया गोलाडार दिया तो नहिं मिले फेर न ताक॥ ५॥
तुका संगत तिन से करिए, जिन से सुख दुनाए।
दुर्जन तेरा मू काला, थीतो प्रेम घटाए॥ ६॥

काव्य-दृष्टि से उपर्युक्त दोहरे मामूली हैं। इनसे हम इतना ही जान सकते हैं कि संत तुकाराम जैसा व्यक्ति जो कि महाराष्ट्र के बाहर कभी नहीं गया था, हिंदी में रचना कर सकता था और करना चाहता था। यह बात हिंदी के राष्ट्रभाषा बनने का प्रबल समर्थन करती है।

पाँचवाँ अध्याय

वारकरी पंथ के शेष कवि

हम पीछे लिख चुके हैं कि वारकरी साहित्य-मंदिर का शिखर संत तुकाराम ने बनाया और यह अक्षरशः सत्य भी है पर शिखर के आधार से ध्वजा फहराती है और मंदिर की शोभा में वृद्धि करती है इसी न्याय के अनुसार संत तुकाराम के पश्चात् उनके अनेक शिष्यों ने अभंग काव्य को खूब पुष्ट किया। संत तुकाराम के सोलह शिष्य थे। उनमें नौ ब्राह्मण थे। ये सब शिष्य उनके साथ करताल लेकर भजन और कीर्तन करते थे परंतु उनकी अभंग रचनाएँ बिलकुलसाधारण हैं। तुकाराम के अन्य शिष्यों में बहिणाबाई, कचेश्वर ब्रह्मे, तुकयाबंधु कान्होबा और निलोबाराय पिंपलनेरकर का समावेश होता है। प्रसिद्ध संत चरित्रकार महिपति बुआ भी संत तुकाराम के स्वप्नानुगृहीत शिष्य थे पर उन्होंने अभंगों की जगह ओवी छंद में संतों के चरित्रों का भक्तिपूर्वक प्रणयन किया। एवं सन् १७९५ तक और उसके पश्चात् अभी तक वारकरी काव्यधारा अखंडता से प्रवाहित है।

तुकयाबंधु:—ये संत तुकाराम के ज्येष्ठ बंधु थे। इनके लगभग १५० अभंग उपलब्ध हैं। कलियुग का प्रभाव नामक दीर्घ अभंग में इन्होंने सामयिक बुराइयों का यथार्थ और प्रभावकारी वर्णन किया है।

कवयित्री बहिणाबाई (१६२८-१७००):—यह कोल्हापुर के पटवारी की पुत्री थी। इसका बाल्यावस्था में विवाह हो चुका था पर सांसारिक प्रपंच में उसकी बिलकुल रुचि न थी। कथा-कीर्तन में सदा मग्न रहने के कारण पति ने उसको खूब सताया पर वह भक्ति में लगी रही। उसे स्वप्न में संत तुकाराम का अनुग्रह प्राप्त हुआ। अब उसका लोहा सब मानने लगे और उसके पति का भी हृदय परिवर्तित हुआ। वह 'देहूँ' ग्राम में जाकर संत तुकाराम की सेवा करने लगी। उनके सत्संग से उसकी काव्य-प्रतिभा प्रज्वलित हुई और उसने ४०० सरस अभंगों की रचना की। इनमें ५३ अभंगों में उसने अपनी आत्मकथा बड़ी कोमल एवं आकर्षक शैली में कही। उसने संत तुकाराम के निर्याण पर ३५ अभंगों की रचना की जो पढ़ते ही बनती है। कहते हैं कि बाद में वह समर्थ रामदास

की शिष्या बनी। वह स्वयं लिखती है—'जिस साहित्य-मन्दिर का शिखर संत तुकाराम बने उसकी मैं ध्वजा हूँ।' बहिणाबाई ने हिन्दी भाषा में भी रचना की।

बहिणाबाई की हिन्दी रचना :—इनकी कृष्णसंबंधी रचनाएँ अधिक प्राप्त हैं जो गौलण शीर्षक के अंतर्गत रखी जा सकती हैं। गौलण (गोपी) का मन कृष्ण से मिलने के लिए आतुर होता है। वह सब कुछ भूलकर संकेत-स्थल पर दौड़ना चाहती है और अपने आराध्य प्रियतम कृष्ण के साथ तन्मय हो जाना चाहती है। पढ़िए—

जमुना के तिर धेनु चरावत हैं गोपाल री।
गीत प्रबंध हास्य विनोद नाचत है श्री हरी।
धर कानों में कुंडल लाल, शिरपर मोरपिखा नंदलाल।
अबीर गुलाल सबके भाला, हार सुवास पिन्हाये।
जाई जुई चंपक कोमल चंदन चोवा लाए।
छंद धीमा धीमा सुनावत है हरि बंध गयो मेरो प्रान।
बहिणी कहे सो भूल गए मेरा हरि से लगा है मन।

बहिणाबाई के निम्नलिखित पद में अद्भुत रस का निर्वाह है। वह कुछ कबीर की उलटबासी के समान प्रतीत होता है। पढ़िए—

अजब बात सुनाई भाई।
गरुड़ पंख हिरावे कागा लक्ष्मी चरन चुराई।
ये सूरज की थींव अंधारे सोवे चबरकू भागलावे॥
राहु के गिर हो भोगी कहा रे अमृत ले भरे जावे।
कुबेर सोवे धन के आस हनुमान नीर मँगावे॥
वैसे सबहि झूठा है निंदा की बात सुनावे।
समींदर तान्हो चीरत कैसो साधु माँगत दान॥
बहिणी कहे जब निंदक है रे बाको साँच न मान।

बहिणाबाई के अन्य पदों में अरबी-फारसी शब्दों की प्रचुरता है क्योंकि उस समय महाराष्ट्र में इन शब्दों का काफी प्रचार हो गया था। पढ़िए—

दो दिन की दुनिया रे बाबा।
दो दिन की है दुनिया॥ ध्रु०॥
लो अल्ला का नाम कुछ धरो ध्यान।
बंदे न होना गुम॥

गाव रतन से ही सार।
नई आवेगा दूज बार॥
वेगी करो हे फिकीर।
करो अल्ला की जिकीर॥ १॥
करो अल्ला की फिकीर।
तब मिलेगा गामील पीर॥
बहिणी कहे तुजे पुकार।
कृष्ण नाम तमे हुसियार॥ २॥

कचेश्वर ब्रह्मे:—ये चाकण के ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। ये युवावस्था में बहुत स्वच्छंद थे। ज्यों-ज्यों इनकी अवस्था बढ़ती गई त्यों-त्यों ये भक्त बनते गए। इन्होंने वेदाध्ययन में कई वर्ष बिताये पर इनको शांति नहीं प्राप्त हुई। अन्ततोगत्वा संत तुकाराम के स्वप्नानुग्रह से इन्हें शांति मिली और ये वारकरी संप्रदाय के कट्टर अनुयायी बने। ये भक्ति व कीर्तन करने में सदा मग्न रहने लगे। ये अति सफल कवि भी थे। इन्होंने गजेन्द्रमोक्ष और सुदामाचरित्र की अनेक गणवृत्तों में रसभीनी रचना की। इनके कुछ स्फुट पद भी उपलब्ध हैं। इनकी प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी कि शाहू महाराज और उनके प्रधान मंत्री बाला जी विश्वनाथ इनके शिष्य बने। इन्होंने १११ ओविओं में आत्मचरित लिखा जिसकी सरसता वर्णन के परे है। एक स्वच्छंदी युवक राजगुरु कैसे बना, पढ़ने में अवर्णनीय आनंद प्राप्त होता है। इनके पद और श्लोक नादमधुर एवम् रसभीने हैं।

संत निलोबा राय पिंपलनेरकर:—ये संत तुकाराम के श्रेष्ठतम स्वप्नानुगृहीत शिष्य थे। वारकरी सम्प्रदाय के भक्त-पंचायतन में इनका नाम है। सर्वमान्य और सर्वप्रिय पंचायतन है—संत ज्ञानेश्वर, संत नामदेव, संत एकनाथ, संत तुकाराम और संत निलोबा राय का। इनका उत्कट भगवत्-प्रेम, प्रखर वैराग्य और तीव्र काव्य-प्रतिभा गुरु के समान थी। इनकी जीवनी को संक्षेप में जान कर इनकी रचनाओं का रसास्वाद लेना उचित होगा। इनका जन्म पिंपलनेर के पास शिऊर नामक देहात में एक सुखी व समृद्ध पटवारी के कुल में हुआ। पर ये प्रसिद्ध हो गये पिंपलनेर के नाम से। जब ये अठारह वर्ष के हुए तब घर-गृहस्थी का सारा बोझ इन पर आ पड़ा। इनकी पत्नी रूपवती, शीलवती और सर्वथा पति के अनुकूल थी। घर

भी धनधान्य से समृद्ध था, गोठ गाय-बैलों से भरा था, पटवारी की अच्छी वृत्ति थी, संक्षेप में सभी बातें अनुकूल थीं। इनका नित्य क्रम था प्रातःकाल स्नानादि करके पूजा में डेढ़ घंटा मग्न रहना और उसके पश्चात् पटवारी का काम करना। कुसंयोग से एक बार ऐसा हुआ कि ये पूजा में मग्न थे और कचहरी में इनकी बुलाहट हुई। इन्होंने कहला दिया कि 'अच्छा आता हूँ, पूजा के पश्चात्।' पर विधर्मी अधिकारी इन पर क्रुद्ध हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि पकड़वाकर ये कचहरी लाये गए। कचहरी से लौटने पर इन्होंने कुलकर्णी पद का त्यागपत्र दिया और ईश्वर की सेवा में मग्न रहने का अटल निश्चय किया। वे आत्मचित्र में लिखते हैं—'ऐसे संसार में आग लगे, ऐसा प्रपञ्च जलकर भस्म हो जाय जो परमार्थ में बाधक होता है। यदि मैं स्वाधीन होता तो क्या पूजा को ऐसे बीच में ही छोड़ देता? धिक्कार है पराधीन होकर जीने को। खोटे काम करो, किसानों को लूटो, नीच बनकर दूसरों का धन अपहरण करो और अपने कुटुम्ब-परिवार का पेट भरो। इससे अधिक लज्जाजनक जीवन और कौन-सा है? धिक्कार है ऐसे जीवन को।' वृत्ति का त्याग करके भगवत्प्राप्ति के लिए वे चल पड़े। तब उनकी धर्मपत्नी ने उनसे कहा—'आप जहाँ भी जायँ मैं बड़ी प्रसन्नता से आपके पीछे-पीछे चलूँगी। ठाकुरजी के बिना मंदिर और जल के बिना कमल बनकर मैं नहीं रहूँगी। दीप-ज्योति के समान मेरा आपका अटूट सम्बन्ध है।' यह सुनकर निलाजी बहुत प्रसन्न हुए और अपना घर-बार, गाय-बैल सब दान करके धर्मपत्नी को साथ लिये उन्होंने देहू की ओर प्रस्थान किया। देहू में रहकर उन्होंने ज्ञानेश्वरी, नाथभागवत, नामदेव व तुकाराम के अभंगों का श्रवण-मनन किया। उन्हें तुकारामजी का ऐसा ध्यान लगा कि—

> तुका ध्यान में और तुका ही मन में
> दीखे जन में तुका, तुका ही वन में।
> ज्यों चातक की लगी रहे लौ घन में
> नीला रटता तुका, तुका, त्यों मन में॥

इस प्रकार निलोबा जल-विरहित मछली जैसे तुकाराम के दर्शन के लिए व्याकुल हो उठे। उन्हें एक धुन लग गयी कि 'तुकाराम! अपने चरण-कमल दिखाओ।' अन्त में उन्होंने अन्न-जल भी छोड़ दिया। तब संत तुकाराम ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर उपदेश किया। इस प्रकार संत तुकाराम ने अपने संप्रदाय की माला

निलोबा के कण्ठ में डाल दी और आज्ञा की कि आबाल-वृद्ध नर-नारी को भक्ति पंथ में लगाओ। सच्छिष्य ने गुरु की आज्ञा सार्थक की। संत तुकाराम पंढरी की जो वारी करते थे उसे निलोबा ने जारी रखा। अब निलोबा का चरित्र तुकाराम के चरित्र का नया संस्करण बना। वे कीर्तन करने लगे और श्रोता उनके कीर्तन में भक्तिविभोर होने लगे। उनकी मुखगंगा से धाराप्रवाह जैसे अभंग निकलने लगे। उनकी प्रासादिक और उत्स्फूर्त वाणी सुनकर हजारों की संख्या में श्रोता उनकी ओर आकर्षित होने लगे। उनके वैराग्य, क्षमा, शान्ति और प्रभावकारी उपदेश-पद्धति ने आम जनता के हृदय में घर कर लिया। संत श्रेष्ठ तुकाराम जी के पश्चात् वारकरी संप्रदाय का प्रचार जितना इन्होंने किया उतना और कोई भी न कर सका। उनके ही परिश्रम से पंढरपुर के मेले में तीन-चार लाख वारकरी महाराष्ट्र के कोने-कोने से आकर नाम-संकीर्तन में सम्मिलित होने लगे। सचमुच ही निलोबा राय ने संपूर्ण महाराष्ट्र पर भागवत धर्म का झंडा फहराया और संत ज्ञानेश्वर का महान धार्मिक कार्य पूरा किया।

अभंग रचना :—निलोबा के १३०० सरस अभंग उपलब्ध हैं। श्रीकृष्ण की बाल-लीलाएँ और ग्वालनविषयक अभंग अति कोमल, रसभीने और लोकप्रिय हैं। उन्होंने संत तुकाराम की स्तुतिपरक लगभग ३३३ अभंग लिखे जो सुबोधता, सरलता और श्रद्धा से ओतप्रोत हैं। उन्होंने ७०८ ओवियों का ज्ञानेश्वर-चरित्र भी लिखा। उनकी अभंगवाणी में संत तुकाराम की उत्कट भक्ति भरी है। अतः उनके अभंगों के आधार पर वारकरी कीर्तन करते हैं। वारकरी सम्प्रदाय का नियम है कि संत तुकाराम के पश्चात् जो अभंगों के रचयिता हो गये उनके अभंग पर कीर्तन करना नहीं चाहिए पर निलोबा इस नियम का अपवाद है जिससे उनकी श्रेष्ठता सहज में सिद्ध होती है।

महिपतिबोवा तहराबादकर (१७१५-१७९०):—ये वारकरी संप्रदाय के अन्तिम कवि हैं। इन्होंने संत चरित्रों का सरस प्रणयन करके भक्ति की धारा पुष्ट की। इनकी जीवनी एवं वाङ्मय-रचना के विषय में हम आगे चलकर विस्तृत लिखेंगे। अन्य चरित्रकारों के सिलसिले में इनसे सम्बद्ध कथन करना उचित होगा। यहाँ इनका उल्लेख करना मात्र पर्याप्त है।

तीसरा खण्ड

पहला अध्याय

समर्थ रामदास

(सन् १६०८–१६८२)

अकिंचनवरेण्योऽपि समर्थपदवीं गतः ।
दासोऽपि यः किल स्वामी, स साधुः कोऽपि राजते ॥

(सुश्लोकराघव)

अत्यन्त निर्धन होते हुए भी समर्थ की योग्यता प्राप्त करनेवाला, दास होते हुये भी स्वामी बननेवाला, इस संसार में यदि कोई साधु है तो वह रामदास ही है ।

इधर पाँच-छः सौ वर्षों में महाराष्ट्र में तथा भारतवर्ष में जो अनेक मनीषी, साधु और क्रांतद्रष्टा कवि हो गए, उनमें समर्थ रामदासजी का नाम अपनी अलग विशेषता एवं श्रेष्ठता रखता है । समर्थ रामदासजी संत होते हुए श्रेष्ठ कवि थे और लोकमंगलकारी साहित्यकार होते हुये कर्मठ संघटक थे । उत्कट भक्ति, प्रखर प्रतिभा, गहरी व्युत्पन्नता और अविरत कार्यमग्नता का पावनकारी संगम समर्थ रामदासजी की जीवनधारा में दृग्गोचर होता है । परमार्थ और लोक-प्रपंच का सुनहरी मेल आपके चरित्र की अनूठी विशिष्टता है । साक्षात्कारी वृत्ति और सक्रिय लोकोन्मुखता का कांचनमणि-योग आपके जीवन में दीख पड़ता है । आध्यात्मिकता और विवेकयुक्त लौकिकता का सोने में सुगंध जैसा संयोग माने समर्थ रामदासजी का जीवनस्रोत है । आपके जीवन एवं कार्य पर सरसरी दृष्टि डालकर आपकी साहित्य-गंगा में दो-चार डुबकियाँ लगा लेने का आनंद हम लूटेंगे ।

जीवन-चरित्र :—समर्थ रामदासजी का जन्म सन् १६०८ में जांब गाँव में मामूली पटवारी के घर में हुआ । आपके पिता का नाम सूर्याजी पंत और माता का नाम राणुबाई था । किंवदंती के अनुसार सूर्याजी पंत को सूर्योपा-

सनासे दो पुत्र प्राप्त हो गए थे। पहले पुत्र का नाम था गंगाधर और दूसरे पुत्र थे समर्थ रामदास। रामदासजी का पहला नाम नारायण था। बालक नारायण बड़ा नटखट, दुराग्रही एवम् क्रीडासक्त था। पेड़ों पर चढ़ने, नदी के दह में डूबने, घोड़ों पर सवारी करने और बालमित्रों के साथ धक्का-मुक्की करने में वह खूब आनंद लेता था। परंतु कभी-कभी उसकी स्वाभाविक प्रतिभा चमक पड़ती थी। नारायण की तुलना में उसका ज्येष्ठ भ्राता गंगाधर अधिक सयाना, गंभीर और होनहार था। नारायण की शरारतों से उसके माँ-बाप तंग आ गए थे। जब नारायण की अवस्था सात वर्ष की थी तभी उसके पिताजी इस संसार से चल बसे। घर-गृहस्थी का सब भार गंगाधर पर आ पड़ा। वह भी अपने पिताजी जैसा देहाती लोगों को गुरुदीक्षा देने लगा। आठ वर्ष के हठी नारायण ने भी अपने ज्येष्ठ बंधु से गुरुदीक्षा लेनी चाही। परंतु गंगाधर जी ने कहा कि तू बड़ा शैतान है, जब तक तू शांत वृत्ति धारण न करेगा तब तक मैं तुझे दीक्षा न दूँगा। नारायण ठहरा जिद्दी। वह सीधा गाँव के बाहर श्री हनुमानजी के मंदिर चला गया और बाल ध्रुव जैसा आसन लगाकर भगवान राम की उपासना में मग्न हो गया। उसकी भक्ति की दृढ़ता देखकर प्रभु रामचंद्रजी ने उसे दर्शन दिया। नारायण ने अपनी टेक पूरी की। वह घर लौटा। परंतु उसका नटखटपन ज्यों का त्यों था। माता राणुबाई गिड़गिड़ाकर उससे कहती—'प्यारे नारायण, तू कब शांत होगा। तुझे कब सूझ-बूझ आवेगी। तू संसार की कुछ भी चिंता नहीं करता।' बार-बार माता की शिकायत सुनकर हठधर्मी नारायण एक दिन घर की अँधेरी कोठरी में जाकर बैठ गया। उसके गायब होनेपर माता बेचैन हो गई। खूब ढूँढ़ा पर वह न मिला। माता संयोग से उस कोठरी में गई जहाँ नारायण ध्यानमग्न बैठा था। उसने अचरजयुक्त स्वर से उससे पूछा—'नारायण! तू यहाँ क्या कर रहा है?' बाल नारायण ने तत्काल उत्तर दिया—'मैं संसार की चिंता कर रहा हूँ।' उत्तर सुनते ही माता अवाक् हो गई। माता को उसकी अलौकिकता से भय होने लगा। अंततोगत्वा उसने सोचा कि जब तक इसका विवाह न कर दिया जायगा तब तक इसको सांसारिक सूझ-बूझ न आवेगी। माता उसे विवाहबद्ध होने के लिए कहती थी और वह स्पष्टता से 'नहीं' कहता था। माता के विह्वलता से विनती करने पर नारायण बड़ी धूर्तता से विवाहमंडप में 'शुभ मंगल सावधान' कहने तक खड़ा रहने को राजी हो गया।

उसका विवाह शीघ्र ही आयोजित किया गया। बड़ा मंडप बनाया गया। बाराती बड़े ठाट बाट से मंडप में जमकर बैठे। वर-वधू विवाह-संस्कार के लिए पाटों पर खड़े हुए। ब्राह्मणों ने मंगलाष्टक कहना आरंभ किया। प्रत्येक बाराती फूला न समाता। पर होनहार होकर ही रहता है। ज्यों ही 'शुभ मंगल सावधान' शब्द ब्राह्मणों ने कहे त्यों ही नारायण एकाएक विवाहमंडप से बाहर भाग गया। वह वायुवेग से भागा और देखते-देखते अदृश्य हो गया। अघटित और अप्रत्याशित घटना होकर रही। नारायण अब गंभीर रामदास बनते हैं।

तपस्या :—नारायण सीधे नासिक की ओर चल पड़े। अनेक आपत्तियों को टक्कर देते हुए चार-पाँच दिनों में वे नासिक पहुँचे। वहाँ पास ही टाकली नामक देहात में एक गुफा थी। उसी गुफा में रहकर वे तपस्या करने लगे। बारह वर्ष तक उन्होंने बड़ी कड़ी तपस्या की। वहां संगमस्थल पर नदी के जल में कमर तक पानी में निश्चल खड़े रहकर वे गायत्री मंत्र की उपासना मध्याह्नकाल तक प्रतिदिन करते थे। इसे ही पुरश्चरण कहते हैं। पुरश्चरण के अतिरिक्त जो समय शेष रहता उसमें वे 'श्री राम जय राम जय जय राम' मंत्र का जप करते थे। किंवदन्ती के अनुसार उन्होंने तेरह कोटि रामनाम का जप किया। साथ ही साथ दोपहर में नासिक में जाकर वे पंडितों के पास शास्त्रों और पुराणों का अध्ययन करते थे और वे भिक्षा मांग कर अपना गुजारा करते थे। पूरे दिन भर उनका एक भी क्षण आलस में नहीं बीतता था। इस प्रकार उन्होंने लगातार बारह वर्षों तक कठोर तपस्या कर भली-भांति आध्यात्मिक बल एवम् शास्त्रीय ज्ञान संपादित किया। कहते हैं कि प्रभु रामचन्द्र जी उनकी घोर तपस्या से प्रसन्न हुए और उन्होंने भक्त को आश्वासन दिया कि वे उनके धर्मोद्धार के कार्य में सहायता करेंगे और उनके मनोरथ पूरे करेंगे। अनंतर वे अपने को 'रामदास' कहने लगे। चौबीस वर्ष की अवस्था में नटखट नारायण नरोत्तम रामदास बना।

तीर्थयात्रा :—उस समय साधारणतया वृद्ध अवस्था के लोग अपने जन्म को धार्मिक दृष्टि से सफल बनाने के लिए तीर्थयात्रा करते थे किन्तु युवक रामदास का उद्देश्य कुछ और था। तीर्थयात्रा करते हुए रामदास जी देश-स्थिति का एवम् हिंदू समाज की अवनति का सूक्ष्म अवलोकन करना चाहते थे और अन्ततोगत्वा वे उसमें सफल होकर रहे। वे सर्वप्रथम काशी गए। वहां कई

दिनों तक रहे। हनुमानघाट पर उन्होंने हनुमान जी की मूर्ति स्थापित की। वहां से अयोध्या होते हुए वे हरिद्वार और बदरीनाथ गए। लौटते समय वृन्दावन, गोकुल व मथुरा में देवदर्शन व भ्रमण किया। तत्पश्चात् वे चित्रकूट होकर द्वारका गए। किंवदन्ती के अनुसार एक भील ने उन्हें एक धनुष और एक दण्ड भेंट-स्वरूप दे दिया। यह दण्ड सज्जनगढ़ में अभी तक देखने को मिलता है। बाद में वे महाराष्ट्र लौटे तथा घर जाकर वृद्धा एवम् अंध माता का दर्शन किया। अत्यधिक आग्रह करने पर भी वे घर में न ठहरे और पुनः दक्षिण की ओर चल पड़े। वे सीधे रामेश्वर तक गए। उन्होंने यात्रा करते समय कई पवित्र स्थलों पर मठ स्थापित किये। मठों की सूची में प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, काशी, केदार, द्वारका, रामटेक, रामेश्वर, तिलंगण, श्रीरंगपट्टण, सूरत, रायचूर, इत्यादि महाराष्ट्र के बाहर के नगरों के नाम मिलते हैं। उपर्युक्त मठों पर उन्होंने निपुण एवम् लोक-संग्रहकारी महंतों की नियुक्ति की थी। महन्तों को श्री रामदास जी ने स्वयं शिक्षा दी थी। गुरु जी के आदेशानुसार ये महन्त धार्मिक शिक्षा का प्रसार कर अपना संप्रदाय बढ़ाते थे।

यात्रा में श्री रामदास मण्डली जमाकर उसे रामोपासना का उपदेश देते थे। श्री रामदास गाते बहुत अच्छा थे। आपने गायनकला की भूरि-भूरि प्रशंसा की और जनता को जागृत करने में उसका खूब उपयोग किया। पूरे भारत का सूक्ष्म निरीक्षण कर वे सन् १६४४ में महाराष्ट्र लौटे। इस प्रकार देशभ्रमण करने का फल यह हुआ कि श्री रामदासजी को देश एवम् हिंदू समाज की अवनति का यथार्थ ज्ञान हुआ जिससे अपने हिंदू समाज की धार्मिक एवम् आधिभौतिक उन्नति करने की तिलमिलाहट उनमें उत्पन्न हुई और वे तत्काल धर्मोद्धार तथा समाजोद्धार करने में जुट गए। आपने आत्मविश्वासपूर्ण प्रतिज्ञा की—'श्री रामचन्द्रजी के चरण-कमलों को अपने हृदय में स्थापित कर मैं अखिल संसार का उद्धार करूँगा। इन दुःखपीड़ित दीन जनों की मैं तत्काल सहायता करूँगा। श्री रामप्रभु का यह दास पवित्र हुआ है। अब कौन पतित रह सकता है?' हिंदू समाज की दीन हीन दुर्दशा देखकर श्रीरामदास जी इस निर्णय पर पहुँचे कि बिना न्यायी और स्वधर्म-निष्ठ राजा के धर्मोद्धार या समाजोद्धार करना सम्भव नहीं है। स्वराज्य के बिना हिंदू जनता अपने बल पर खड़ी नहीं हो सकती। अतः किसी भावी स्वराज्य-संस्थापक के सहारे या आश्रय में वे अपना कार्य शुरू करना चाहते थे। संयोग से

इसी समय सरदार शाहजी भोंसले गुप्तरूप से स्वराज्य की स्थापना करने में लगे हुए थे। कहते हैं कि उनकी श्रीरामदासजी से नासिक पंचवटी में पंद्रह वर्ष पूर्व भेंट हुई थी। इधर श्री रामदास अपने धर्मकार्य के लिए सुरक्षित एवम् सुयोग्य स्थान ढूँढ़ने में व्यस्त थे। उनको कर्ण-परम्परया पता लगा कि सरदार शाहजी का अधिकृत प्रदेश कृष्णा नदी के किनारे पर ही है। बस, श्री रामदासजीने मसूर प्रांत में अपना कार्यजाल फैलाना तय किया। वे सन् १६४५ में मसूर में जाकर बसे। चंद वर्षों में वे समर्थ कहलाते हैं।

मसूर में रहकर वे कोदण्डधारी श्रीरामचंद्र और बलभीम हनुमानजी की उपासना में लोगों को प्रवृत्त करने का जी-जान से प्रयत्न एवं प्रचार करने लगे। चन्द वर्षों में उन्होंने ग्यारह गाँवों में बलभीम की विशिष्ट मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। स्वामी रामदासजी द्वारा स्थापित बलभीम की प्रतिमाएँ 'पाँव के नीचे दबाया हुआ राक्षस' इस स्वरूप की थीं। उन्होंने यह उद्दीपक प्रतीक जान-बूझकर जनता की उपासना के लिये रखा। वे सचमुच चाहते थे कि दुष्ट राक्षसों का नाश कर धर्म की रक्षा करनेवाले बलभीम की उपासना से हिंदू लोग कुछ बल प्राप्त करें। बलोपासना के वे सच्चे समर्थक थे। दिन-प्रति-दिन उनका रामोपासना का सम्प्रदाय बढ़ने लगा। उनके शिष्य बढ़ने लगे। उन्होंने अपने प्रत्येक मठ में अखाड़े की व्यवस्था की थी जहाँ शिष्य और अन्य ग्रामवासी व्यायाम के रूप में लाठी-काठी घुमाना, तलवार और भाला चलाना व फेंकना इत्यादि की शिक्षा प्राप्त कर प्रतिकार करने की क्षमता बढ़ाते थे। इससे नवजवान हिंदुओं में संघटन बढ़ा और धर्म का एवं देश का पुनरुद्धार करने के लिये वे कटिबद्ध हुये। इस प्रकार उनके शिष्य और अनुयायियों की संख्या दिन-प्रति-दिन दुगुनी होती गई और महाराष्ट्र में चारों ओर उनकी कीर्ति फैल गई। संतश्रेष्ठ तुकारामजी ने उनसे भेंट की और वे परस्पर की योग्यता भली भाँति जानने लगे। सारे देश के बड़े-बड़े साधु और महापुरुष आकर उनका उपदेश और मार्ग-दर्शन प्राप्त करने लगे। श्री रामदासजी की लोकसंग्रह करने में अद्भुत सामर्थ्य देखकर लोगों ने उनको 'समर्थ' कहना प्रारम्भ किया और तभी से वे समर्थ रामदास नाम से प्रसिद्ध हुये। श्रीरामदासजी ने स्वयम् 'समर्थ' की इस प्रकार व्याख्या की—'जो महाव्यक्ति अनेक लोगों का संचालन करता है और उनको लोकोद्धार के काम में लगा रखता है वही अपने विवेक के कारण समर्थ की पदवी प्राप्त करता है।' दूसरे स्थल पर आप कहते हैं—

'जो प्रपंच एवं परमार्थ में कृतार्थ है वही समर्थ कहलाता है।' संक्षेप में जो दूसरों को समर्थ बनाता है, जो दुर्बल प्रापंचिकों को आशा की किरण बताकर उनमें उत्साह तथा बल का संचार करता है वह समर्थ कहलाता है। लोकसंग्रह करके लोकोद्धार करना समर्थपन की कसौटी है। श्री रामदासजी कोदण्डधारी प्रभु राम को समर्थ कहते थे अतः समर्थ संप्रदाय का अर्थ हुआ प्रभु राम का सम्प्रदाय। आप आजन्म ब्रह्मचारी रहे। आपके हृदय में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य उमड़ते थे। आप योगी और महासंत भी थे। परन्तु यह पूछा जा सकता है कि आपको प्रपंच का ज्ञान कैसे हो गया था या हो सकता था? हम साधारण जन व्यक्तिगत गृहस्थी को ही प्रपञ्च कहते हैं। परन्तु श्री रामदासजी ने 'दासबोध' में (अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ में) प्रपञ्च की नई और सुधरी हुई व्याख्या की है। जब वे कहते हैं कि यदि आप प्रपञ्च का त्याग करके परमार्थ करने की चेष्टा करेंगे तो दुखी होंगे तब प्रपञ्च की बिलकुल भिन्न व्याख्या वे करते हैं। आपके अनुसार जीवनयापन का साधन या धंधा ही प्रपञ्च है। वे चाहते थे कि आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति आत्मनिर्भर बने। ऐसे आत्मनिर्भर व्यक्तियों की संघटना वे करना चाहते थे। प्रचलित सम्प्रदायों की कड़ी आलोचना करनेवाले श्रीरामदास नये सम्प्रदाय के संस्थापक क्यों और कैसे बने? समय की माँग थी कि कोई अनुशासित संघटना हिंदू समाज का उद्धार करे। विशेषतया जब परधर्मीय राजशासन धर्म तथा समाज को नष्ट-भ्रष्ट करने पर तुला था तब उसका प्रतिकार सामाजिक संघटन से ही हो सकता था। इस व्यावहारिक तथ्य को अनुभव करके श्री रामदास जी ने 'समर्थ सम्प्रदाय' की स्थापना की। केवल सम्प्रदाय-स्थापक बनने की लोकैषणा से उन्होंने सम्प्रदाय प्रवर्तित नहीं किया था। सम्प्रदाय उनके लिए साधन था साध्य नहीं। वे तो निस्पृहता एवं निरपेक्षता की मूर्ति थे। कहते हैं कि उन्होंने सारे भारतवर्ष में ग्यारह सौ मठ स्थापित किये थे।

महाराज शिवाजी की दीक्षा:—हम लिख चुके हैं कि श्री समर्थ के पहले संत तुकाराम महाराष्ट्र के अन्य भागों में (पूना की ओर) बहुत प्रसिद्ध थे। महाराज शिवाजी उन्हें अपना गुरु बनाना चाहते थे। जब शिवाजी ने संत शिरमौर तुकारामजी से प्रार्थना की कि आप मुझे अपना शिष्य बना लें तब तत्काल उन्होंने उत्तर दिया कि इस समय मेरे देखने में जितने संत और साधु हैं उनमें समर्थ रामदास आप जैसे राजा के गुरु बनने के लिए सुयोग्य हैं।

उन्हीं को अपना गुरु बनाकर जन्म सार्थक कीजिए। संत तुकारामजी के उपदेशानुसार महाराज शिवाजी ने तत्काल समर्थ को अपना गुरु बनाया और उनसे मंत्रदीक्षा प्राप्त की। समर्थ के महत्व का यह बहुत बड़ा प्रमाण है। कहने को आवश्यकता नहीं कि श्री समर्थ के समान योग्य एवम् दूरदर्शी गुरु के मिलने पर महाराज शिवाजी में दूना बल और चौगुना उत्साह उमड़ पड़ा और वे स्वराज्य-स्थापना में शीघ्र ही यशस्वी हुए। स्वराज्य-संस्थापक महाराज शिवाजी स्वभाव से धार्मिक एवम् भावुक थे। आप सत्वगुणों की मूर्ति थे। एक बार आप के मन में वैराग्य की लहर पैदा हुई। आप उदासीन बने और राज का शासन त्यागकर गुरुभक्ति के लिए उतावले बने। इस विरक्त मनोव्यथा में महाराज शिवाजी ने गुरु को पत्र लिखा। श्रीसमर्थ ने उक्त पत्र उठाकर पढ़ा। उसमें लिखा था—'मैंने आजतक जो राज्य स्थापित किया है वह सब गुरुदेव के चरणकमलों में अर्पित कर अब मैं गुरुदेव की सेवा में मग्न होना चाहता हूँ। कृपया आज्ञा दीजिए।' समर्थ महाविरागी एवम् तत्वदर्शी ठहरे। उन्होंने तत्क्षण उत्तर दिया—'राज्य करना तो क्षत्रियों का धर्म है। तुम सुचारु रूप से शासनप्रबंध करके प्रजा को सुखी करो यही मेरी सबसे बड़ी सेवा है।' उक्त पत्र में ही श्री समर्थ ने उन्हें ऋषि वशिष्ठ द्वारा राजा राम को दिये उपदेश का सविस्तार कथन किया और अंत में प्रजापालन करने का आदेश दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त उपदेश का अपेक्षित परिणाम महाराज शिवाजी पर हुआ और उन्होंने मृत्युपर्यंत प्रजापालन का कार्य बड़ी लगन से किया।

सन् १६८० में जब सच्छिष्य शिवाजी महाराज की शोचनीय मृत्यु हो गई, तब श्री समर्थ बहुत व्याकुल हुए। वास्तव में श्री समर्थ विरक्त साधु थे परंतु स्वराज्य-संस्थापक एवम् हिंदुओं के उद्धारकर्ता महाराज शिवाजी की अकाल मृत्यु ने उनके हृदय पर अमिट घाव किया। उनका शोक उदासीनता में परिणत हो गया और उन्होंने अपनी कोठरी के बाहर निकालना कतई छोड़ दिया। वे सदा भगवद्भजन में मग्न रहने लगे। महाराज शिवाजी के वीर एवम् उत्तराधिकारी पुत्र संभाजी के अनुचित कृत्यों को सुनकर वे अत्यधिक व्याकुल हुए। संभाजी को ठीक मार्ग पर लाने की तड़पन से ही उन्होंने उसको एक उपदेशपूर्ण पत्र लिखा। उन्होंने और बातों के साथ यह भी उपदेश दिया कि अपने सुयोग्य पिता (महाराज शिवाजी) के समान मराठों को एकत्र करने

का और महाराष्ट्र धर्म का प्रचार करने का पवित्र कार्य करते रहो। तात्पर्य यही था कि संभाजी सारे भारतवर्ष में स्वराज्य की वृद्धि करे और हिंदूधर्म की सब प्रकार से रक्षा एवम् संवर्धना करे। परंतु हिंदू समाज के दुर्भाग्य से उक्त पत्र का मदोन्मत्त संभाजी पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। श्री समर्थ की मनोव्यथा बढ़ती गई। जब उनका स्वर्गारोहण होने लगा तब उनके सब शिष्य बालकों की तरह रोने लगे। श्री समर्थ ने व्यथित अंतःकरण से कहा कि क्या 'इतने वर्ष मेरे साथ रहकर मृत्यु से डरना ही आपने सीखा है ?' शिष्यों ने कहा कि 'आपकी सगुण मूर्ति हम अब न देख सकेंगे। हम लोग किसके साथ भजन और बातचीत करेंगे ?' श्री समर्थ ने उत्तर दिया कि 'मेरे बाद जो शिष्य मुझसे उपदेश लेना चाहें वे मेरा 'दासबोध' ग्रंथ ध्यानपूर्वक पढ़ें।' इसके पश्चात् भगवान् रामचंद्र का भजन करते व सुनते हुए माघ वदी नवमी सन् १६८१ को श्री समर्थ ने देह का त्याग किया। उनकी समाधि सज्जनगढ़ पर है जहाँ प्रति वर्ष सहस्रों भक्त दर्शन के लिए एकत्र होते हैं।

समर्थ की साहित्य-सृष्टि:—समर्थ की काव्य-सृष्टि बहुत विस्तृत एवं विविध है। जैसे-जैसे उनके जीवन का विकास होता गया, जैसे-जैसे उनके जीवन की समृद्धि बढ़ती गई वैसे-वैसे उनकी काव्य-रचना भी संपन्न, विविधतापूर्ण और समाजोपकारी बनती गई। एवं उनका जीवन और काव्य-रचना परस्पर सम्बद्ध हैं। साधारणतया उनकी काव्य-रचना के तीन कालखण्ड माने जाते हैं। उनके जीवन में तपस्या का खण्ड बारह वर्ष से चौबीस वर्ष तक था। वे टाकली में तपस्या और अनुष्ठान कर रहे थे। उनका हृदय प्रभु राम के साक्षात्कार के लिए जलसे विलग मछली जैसा तड़प रहा था। उनका हृदय अतीव कोमल एवं संवेदनशील हो गया था। ऐसे समय में अन्तःस्फूर्त कविता की सृष्टि होनी स्वाभाविक थी। उन्होंने अपने हृदय की आर्तता 'करुणाष्टक' की रसीली रचना करके प्रगट की। भवभूति की उक्ति 'एको रसः करुण एव' करुणाष्टक को पढ़ते समय सार्थक प्रतीत होती है। करुणाष्टक का अर्थ है रुलानेवाली कविता। इन श्लोकों में समर्थ की तिलमिलाहट भरी हुई है। इस फुटकर श्लोकरचना में कवि के आभ्यन्तरिक भक्तिभावों की प्रभावकारी अभिव्यक्ति दिखाई देती है। अष्टक का अर्थ है आठ श्लोकों का एक वर्ग या शृंखला, परन्तु यह नियम सब करुणाष्टकों पर नहीं घटता। प्रारम्भ के करुणाष्टकों में आठ ही श्लोक हैं परंतु आगे कहीं-कहीं दस-बारह अथवा

बीस भी श्लोक हैं। किन्तु 'प्राधान्येन व्यपदिश्यते' न्याय के अनुसार ये करुणाष्टक कहलाये। इन अष्टकों की संख्या २५० के लगभग है। इनकी रचना संस्कृत के भुजंगप्रभात, शालिनी, शार्दूलविक्रीडित, इन्द्रवज्रा, द्रुतविलंबित, शिखरिणी इत्यादि वृत्तों के अनुसार है। समर्थ को भुजंगप्रयात वृत्त अति प्रिय था। आगे चलकर आपने इसका प्रयोग बहुत किया है। अतः इन अष्टकों में भुजंगप्रयात की प्रमुखता होनी स्वाभाविक है। सब अष्टकों में प्रभु रामचन्द्रजी आलंबनस्वरूप हैं। सामान्यतः प्रपञ्ची लोग लौकिक हानि-लाभ के लिये ही रोते हैं। ऐहिक सुख की प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति के लिये भगवान् की प्रार्थना करते हैं। परंतु युवक रामदास प्रभु राम के दर्शन के लिये रो पड़े। बिछुड़े हुए बालक जैसे भग्न हृदय से शोक करने लगे। उनका शोक ही श्लोक के रूप में प्रकट हुआ जैसे आद्यकवि वाल्मीकि का हुआ था। इन करुणाष्टकों की दूसरी विशेषता है कि कवि की युवावस्था के प्रबल भावों का यह स्वाभाविक उद्रेक एवं आविष्कार है। महाकवि वर्डस्वर्थ ने काव्य की व्याख्या की है कि कविता प्रबल भावनाओं का नैसर्गिक आविष्कार है। मेरी नम्र राय में यह व्याख्या करुणाष्टकों पर शब्दशः घटती है। इनमें कवि ने अपनी आन्तरिक अवस्था का अनुभूतिपूर्ण और भावपूर्ण निवेदन किया है। असहायता, विवशता, आर्तता और करुणा इनमें उमड़ पड़ी है। कहीं-कहीं कवि ने दास्यभक्ति का रसभीना परिचय दिया है। कहीं-कहीं राम के प्रति कृतज्ञता का प्रदर्शन है। कतिपय अष्टकों में कर्म, उपासना, ज्ञान, वैराग्य, अनुताप इत्यादि आध्यात्मिक विषयों का भावोत्पादक विवेचन है। कई अष्टकों में प्रपञ्ची लोगों को व्यवहारोपयोगी शिक्षा है। एक स्थल में उन्होंने स्वयं को लघु कवि कहा है। यद्यपि यह उनकी नम्रता थी तो भी वह नाम उस समय में शब्दशः सार्थ था। संक्षेप में करुणाष्टक नवोदित कवि की रसभीनी रचना है। जैसी अवस्था वैसी कविता का यह उत्तम उदाहरण है।

लघुरामायण :—इसी काल में कवि ने लघुरामायण की सफल रचना की। यह रचना संस्कृत के प्रमाणिका वृत्त के अनुसार है। प्रभु राम के दर्शन के लिए उनका हृदय कैसे तड़प रहा था और वे उनको क्यों श्रेष्ठतम देव मानते थे, इत्यादि का रसभीना वर्णन पाठकों को प्रभावित कर देता है।

पुराना दासबोध :—श्री रामदासजी ने दो 'दासबोध' ग्रंथों का प्रणयन किया। पहला है इक्कीस समासों का दासबोध, जिसको पुराना दासबोध कहते हैं। समास का अर्थ है प्रकरण। दासबोध का अर्थ है दास (रामदास) द्वारा दिया हुआ बोध अथवा दास (भक्त) के लिए बोध। दोनों ही अर्थ उपयुक्त हैं। पुराने दासबोध की रचना करुणाष्टक के साथ हो रही थी। उसकी कई पंक्तियों से सिद्ध होता है कि कवि रामदर्शन के लिये अतीव बेचैन थे और उनकी चेष्टाएँ जनता को पागल जैसी प्रतीत होती थीं। अतः यह रचना उनकी पूर्वावस्था की ही है। परमार्थ का विवेचन इसका प्रमुख विषय है। युवक कवि के प्रौढ़ आध्यात्मिक ज्ञान की झलक इसमें दृग्गोचर होती है। इसकी निवेदनशैली संवादात्मक है। शिष्य गुरु से अध्यात्म के बारे में बार बार प्रश्न पूछता है और गुरु उत्तरों से उसका समाधान करते हैं। यह काव्यमय संवाद बड़ा रोचक है। इसमें उपासना का सांगोपांग विवेचन है। कवि स्वानुभूति के बल पर कहते हैं कि जिसको प्रभु राम के दर्शन की उत्कट इच्छा है उसको 'श्रीराम जय राम जय जय राम' मंत्र का जप करना चाहिये। इसमें शब्दज्ञान की अपेक्षा उपासना का अधिक महत्व है। प्रपञ्च और परमार्थ, विवेक और वैराग्य, भेद और अभेद का मार्मिक विवेचन है। युवक कवि ने स्पष्ट कहा—'जिसे परमार्थ-साधना करनी है उसने प्रपञ्च का पूर्णतया त्याग करना चाहिए।' भविष्य में अपने अनुभव के बल पर रामदासजी ने अपने उक्त मत में काफी संशोधन किया। कवि ने अतीव ओजपूर्ण शैली में कथनी और करनी में अभेद रखने को कहा। वक्ता और श्रोता की बड़ी मार्मिक व्याख्या कवि ने एक समास में की। यह ग्रंथ समर्थ सम्प्रदाय की स्थापना होने के पूर्व लिखा गया था। इसमें लेखक प्रपञ्च का कट्टर विरोधी दिखाई देता है परंतु नये और प्रमाणित दासबोध में उसने सजगता से प्रपञ्च करने की अनुमति दी है। यह ग्रंथ भावी बृहत ग्रन्थ का प्रारूप है। दोनों का स्वरूप, शैली एवं विवेच्य विषय प्रायः एक से हैं। इसमें कवि के विचारों की अपरिपक्वता है जो अवस्थानुरूप ही थी।

तीर्थाटन खण्ड की रचना :—समर्थ ने तीर्थाटन के निमित्त देशभ्रमण करते समय सामयिक लोकस्थिति के जो दृश्य देखे वे अत्यन्त करुणाजनक व उद्वेगजनक थे। अतः उनकी इस काल की रचना प्रायः करुणरस से ओतप्रोत है। मध्यकाल के भारतीय संतों में रामदासजी की एक अद्वितीय विशेषता यह है कि

उन्होंने आँखों-देखी लोक-दुर्दशा का वास्तविक एवं प्रभावकारी वर्णन अपने काव्य में किया। वे निरे अध्यात्मवादी लोकपराङ्मुख संत नहीं थे। हिंदुओं की सर्वमुखी अवनति से दुखी होकर उन्होंने काव्यरचना की या यों कहिए कि अपनी हृत्पीड़ा व्यक्त की। 'आसमानी सुलतानी' नामक दीर्घ काव्य में फसल, वतन, धन व पतिव्रता की प्रतिष्ठा का गुंडों द्वारा कैसे नाश किया जाता था और अवर्षण, भुखमरी, निर्वासन, पराधीनता, हिंदुओं के मंदिरों का भंजन और हिंदू-स्त्रियों का अपहरण इत्यादि का हृदय को हिला देनेवाला भावपूर्ण चित्रण है। लोगों को खाने के लिए एक कण भी मिलना कठिन था। किसान रात-दिन कष्ट उठाते थे परंतु भुखमरी से उनकी मुक्ति नहीं थी। गुण्डे इतने सामर्थ्यशाली थे और राजसत्ता का उन्हें ऐसा आश्रय प्राप्त था कि वे दिन-दहाड़े हिन्दुओं के घर में घुसकर युवतियों का अपहरण कर लेते थे। न्याय का नामोनिशान नहीं था। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली जंगली नीति का व्यवहार होता था। दरिद्रता इतनी व्याप्त थी कि एक पैसे के लिये भी लोग परस्पर सिर फोड़ते थे। लोग ऊपर से तो भले आदमी दिखते थे परंतु जूते चुराने का हीन कर्म करने में भी नहीं हिचकिचाते थे। आँगन में कपड़े और वस्त्र सुखाना भी निरापद नहीं था अतः भावुक कवि व्याकुल हृदय से कहते हैं—'हे करुणासागर भगवंत! तू हमारी किस मर्यादा तक अग्नि-परीक्षा करना चाहता है? मैं तो इस जीवन की अपेक्षा मृत्यु को ही अच्छा मानता हूँ।' उपर्युक्त दीर्घ कविता का नाम ही सूचित करता है कि मुसलमान सुल्तानों का शासन हिंदू प्रजा के लिए आसमानी आफत के समान भयावह था। जैसे भूचाल अथवा जल-प्रलयादि प्राकृतिक प्रकोपों से मानव भयभीत एवं त्रस्त होते हैं वैसे ही उस काल में वे शासकीय जुल्म के मारे हो गये थे। इसी समय में श्री रामदासजी ने 'परचक्र-निरूपण' नामक दूसरा दीर्घ काव्य रचा। इसमें भी तत्कालीन परिस्थिति का वास्तविक एवं भयंकर वर्णन है। हिंदुओं के बहुमुखी पतन का दर्दभरा शब्दचित्र कवि ने सरसता से खींचा है। हिंदुओं में व्याप्त अनेक मत-मतान्तर और सम्प्रदायों की बहुलता एवं परस्पर विरोध देखकर स्वामीजी का हृदय उमड़ आया। उन्होंने लोगों को उपदेश दिया कि 'ऐसी विषम अवस्था में कोदण्डधारी राम की ही उपासना करके अपने धर्म एवं देश का उद्धार करना चाहिये।' एवं उन्होंने यथार्थवादी कविताओं की सरस रचना करके दीन-हीन हिन्दुओं को अपनी भयानक दुर्दशा का परिचय कराया और उक्त दुर्दशा नष्ट करने के लिए उन्हें सचेत किया।

धर्मोद्धार खण्ड की रचनाएँ :—पूरे देश का भ्रमण करने पर हिंदुओं में चैतन्य और उत्साह फूकने के उदात्त ध्येय से प्रेरित होकर समर्थ रामदास ने रामायण के सुंदर काण्ड और युद्ध काण्ड की वीररसयुक्त प्रभावकारी रचना की। प्रतापी कोदण्डधारी प्रभु राम का अनन्य भक्त बलभीम हनुमान दास-भक्ति का आदर्श है। परन्तु उसकी दास-भक्ति दुर्बल एवं बुद्धू नहीं थी। वह प्रतापी और पराक्रमी थी। इसलिए समर्थ के काव्य के कोदण्डधारी राम और प्रतापो हनुमान वर्ण्य विषय अथवा नायक बने। ध्यान में रखने की बात है कि रामायण के सात काण्डों में केवल उपर्युक्त दो काण्डों पर ही उन्होंने साभिप्राय रचना की। महाबली हनुमान और प्रभु राम का बल, पराक्रम, शौर्य और दुष्ट राक्षसों का नाश करना इत्यादि उत्साहप्रद, स्फूर्तिप्रद, गुणों का दीन-हीन हिंदू समाज को दिग्दर्शन कराने के लिए इन दो उपयुक्त काण्डों की रचना उन्होंने की। हिंदुओं में प्रतिकार करने की एवं युद्ध की प्रवृत्ति जगाने के उद्देश्य से ही इन दो काण्डों की सृष्टि की गई थी। सुंदर काण्ड का नायक है प्रतापी हनुमान। उन्होंने अकेले लंका जाकर सीता का शोध किया और लंका का दहन किया। इन कृत्यों का वीररस से भीना हुआ वर्णन सुंदर काण्ड में समर्थ ने किया। इस काण्ड के कुल श्लोक १४२ हैं। वृत्त भुजंगप्रयात है। लंकादहन का भयानक वर्णन है। महाबली के पराक्रम का उत्तेजक वर्णन है। अन्त में महाबली हनुमान जैसे प्रतापी रामभक्तों के पुनः अवतार के लिये प्रार्थना है। युद्धकाण्ड का नायक है कोदण्डधारी राम प्रारम्भ में ही समर्थ ने श्रीराम की कथा के श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन किया। श्रीसमर्थ रामदास कोदण्डधारी राम को सब देवों में श्रेष्ठ मानते थे क्योंकि उन्होंने अन्य सब देवों को रावण के बन्धन से मुक्त किया था। श्रीराम और रावण के सैन्यदलों में हुए युद्ध का वर्णन भी अनूठी वीररसयुक्त शैली में किया गया है। इन्द्रजीत और लक्ष्मण, राम और रावण के संवाद वीररस से ओतप्रोत हैं। कहीं कहीं रौद्ररस की झलक दिखाई देती है। कवि किसी भी घटना का शब्द चित्र खींचने में निपुण है। उक्त युद्ध का वर्णन करते समय कवि महाशय सामयिक राजनीति पर व्यंग करते हैं और हिंदुओं को दुष्ट शासकों के विरुद्ध लड़ने को कहते हैं। सीता की शुद्धि का, राम के राज्याभिषेक का और अयोध्या के जनजीवन का बड़ा रोचक एवं भावपूर्ण वर्णन है। संक्षेप में यह लोकमंगलकारी काव्य का आदर्श है।

मन के श्लोक:—यह मुक्तक काव्य है। इसके २०५ फुटकर श्लोक हैं। कहीं कहीं अपवाद के स्वरूप चार से अधिक श्लोक भी एक ही विषय का प्रतिपादन करते हैं। तो भी इसका स्वरूप मुक्तक ही है। मुक्तक के दो भेद होते हैं। एक पाठ्य और दूसरा प्रगीत। पाठ्य मुक्तक गेय याने गाने लायक होता है। प्रगीत में भावातिरेक अधिक होता है। पाठ्य में बिचार का सन्तुलन होता है। प्रायः पाठ्य मुक्तक सूक्तियों के रूप में होता है। मन के श्लोक पाठ्य मुक्तक हैं। इसमें नीति और ब्रह्मज्ञान-विषयक विवेचन है। कई गानेवाले इन श्लोकों को बड़ी मधुरता से गाते हैं। हिंदुओं की प्रवृत्ति परमार्थ की ओर मोड़ देने के निश्चित उद्देश्य से ही 'मन के श्लोक' की रचना की गई थी। उन दिनों में मुसलमान फकीर सुबह में अपने धर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से गीत गाते हुए गाँवों में घूमते थे और भोले-भाले हिंदू उनके गीत बड़ी चाव से सुनते थे। कई लोगों पर इस्लाम के सरल तत्वों का असर भी होता था। श्रीरामदास जैसा कट्टर धर्माभिमानी उस घटना को आँखें मूंद कर कैसे देख सकता था? अतः उन्होंने उसका प्रतिकार करने की युक्ति सोची। रामदासजी 'जैसे को तैसा'-सिद्धान्त के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने अपने शिष्य कल्याण को एक रात्रि में कागज, दवात और लेखनी लेकर बुलाया। कल्याण लिखने के लिये बैठे और श्री रामदासजी की मुखगंगा से 'गणाधीश जो ईश सर्वागुणां चा' चरण प्रवाहित हुआ। गुरु कहते थे और शिष्य लिखता जा रहा था। केवल ढाई घण्टों में २०५ श्लोकों की रचना पूरी हुई। सचमुच रामदासजी आशुकवि थे। सब श्लोकों का वृत्त भुजंगप्रयात है। प्रातः काल में उन्होंने अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि वे गाँवों में जाकर उन श्लोकों को प्रत्येक द्वार के सामने ऊँचे स्वर में कहें और अन्त में 'जय जय रघुवीर समर्थ' घोष करके भिक्षा स्वीकार करें।

वास्तव में 'मन के श्लोक' स्फुट रचना है। तो भी के० ल० रा० पांगारकरजी ने उनका विषयानुसार विश्लेषण किया। पहला श्लोक वन्दना पर है और अन्तिम दो श्लोक उपसंहारात्मक हैं। प्रारम्भ में और अन्त में श्रीराम की ही उपासना है। शेष श्लोकों में राघव का भक्त बनने का उपदेश और दिग्दर्शन है। श्लोक नं० २ से २७ तक भक्त की भूमिका बनाने के लिए विवेक और वैराग्य का उद्बोधन है। श्लोक २८ से १३५ तक सगुण उपासना के द्वारा राघव के पथ पर चलने का दिग्दर्शन किया है। श्लोक १३६ से १७४ तक निर्गुण का विवेचन है।

१७५ से २०२ तक सगुण निर्गुणातीत शुद्ध स्वरूप का वर्णन है। अन्तिम श्लोक में पाठ की फलश्रुति है। यदि बारीकी से देखा जाय तो इनमें निम्नलिखित विषयों का विवेचन मिलता है। (१) रामनाम का महत्त्व (२) अनन्य भक्ति की महिमा (३) सत्संग (४) विचार और उच्चार की एकता (५) इन्द्रिय-दमन (६) परोपकार (७) ब्रह्म-निरूपण (८) श्री सद्गुरु के लक्षण (९) विदेही स्थिति (१०) स्वधर्माचरण, इत्यादि।

अपने मन को ही उपदेश क्यों दिया ?:—प्रपञ्च में फँसने तथा उससे मुक्ति का प्रधान कारण मन ही है। अतः दूसरों को उपदेश करने की अपेक्षा पहले अपने मन को सुधारना आवश्यक है। रामदासजी का सिद्धान्त था कि पहले आचार बाद उच्चार। अपना मन वश में लाये बिना दूसरों को उपदेश करने की ढिठाई वे नहीं करते थे। अतः उन्होंने अपने मन को ही उपदेश दिया। उनके जैसे महापुरुष का मन विश्वमन की भाँति विशाल होता है। इसलिये उन्होंने अपने मन के द्वारा जन-मन को ही उपदेश दिया है। यह स्फुट काव्य अनुभूति से ओतप्रोत है। रामदासजी अनुभूति के बिना कुछ नहीं लिखते थे, इतना ही नहीं, अनुभूतिशून्य काव्य को वे काव्य नहीं कहते थे। संक्षेप में उक्त स्फुट रचना में आभ्यंतरता और बोध का बेजोड़ संगम है।

दासबोध:—जैसे गोस्वामी संत तुलसीदास जी का नाम उच्चार करते ही उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना रामचरितमानस आँखों के सामने खड़ी रहती है वैसे ही समर्थ रामदासजी का नामोच्चार करते ही दासबोध की स्मृति जग जाती है। ऐसा लगता है कि आप दासबोध की रचना करने के लिए ही इस भूमि पर आये थे। अपने सहस्रों शिष्यों को आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक शिक्षा देने के हेतु से रामदासजी ने दासबोध की सृष्टि की। इसकी शैली संवादात्मक है। जैसे कि पुराने दासबोध की है। शिष्य गुरु से अध्यात्म और लोक-व्यवहार से सम्बद्ध कतिपय मार्मिक प्रश्न पूछते हैं और गुरु उनका समाधान करते हैं। इस बृहत् कृति में जन-जीवन के सत्य का स्पष्ट विवरण है अतः यह ग्रन्थ लोकमंगलकारी रचना का उत्कृष्ट आदर्श है। विषयों की विविधता इतनी है कि उस काल में यह ग्रन्थ विश्वकोष ही माना जाना स्वाभाविक था। यह स्फूर्तिजन्य रचना नहीं है। यह अमरकृति पक्व एवं गंभीर विचारों का फल है, इसकी सृष्टि सन् १६४८ से

सन् १६७८ तक याने तीस वर्षों तक होती रही। इसके बीस दशक हैं। प्रत्येक दशक में दस समास होते हैं याने इसमें कुल दो सौ समास याने प्रकरण हैं। इसकी कुल ७७५१ ओवियें हैं याने ३१००४ चरण या सरल वाक्य हैं। इसमें संदेह नहीं कि दासबोध मुख्यतः अध्यात्म का विवेचन करनेवाला ग्रन्थ है। रामदासजी प्रारंभ में कहते है—'दासबोध गुरु-शिष्य का संवाद है और इसमें नवधा भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का विस्तृत विवेचन है। अध्यात्म-विषयक अनेकानेक शंकाओं का समाधान है। इसमें शास्त्रों के प्रमाण-सहित आत्मप्रतीति या अपने अनुभव की बातें बतलाई गई हैं।' दासबोध के प्रारम्भ के सात दशकों में उक्त विवेचन मिलता है, परन्तु जैसे जैसे रामदासजी को यह अनुभव होने लगा कि संसार के सभी लोग विरक्त और भक्त नहीं बन सकते प्रत्युत प्रपञ्च में रहकर ही जीवन सार्थक बनाना चाहते हैं वैसे वैसे उन्होंने समयानुसार जनसाधारण को जो उपदेश किये उनका समावेश भी इसमें वे करते गये। सातवें दशक से बीसवें दशक तक—जनसेवा परमेश्वर की भक्ति है और प्रपञ्च परमार्थ की दृष्टि से कैसे करना चाहिये—बड़ी प्रभावशाली शैली में कहा गया, जो सब पठनीय और मनन करने योग्य है।

दासबोध की विशेषता:—सब साक्षात्कारी संत कवियों का प्रमुख उद्देश जन साधारण को परमार्थ की ओर प्रवृत्त करना होता है। समर्थ रामदास भी पूर्ववर्ती सन्तों के समान भक्तिमार्गी ही थे किन्तु वे अद्वैत वादी भी थे। परंतु विषम देश-स्थिति ने उनको समाजोन्मुखी बनाया। उसका परिणाम हुआ कि दासबोध में अन्य सन्तों के ग्रन्थों की अपेक्षा अध्यात्म के साथ समयानुकूल एवम् आवश्यक व्यावहारिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक बातों का विवेचन मिलता है। इसमें राजनीति, क्षत्रियधर्म, उत्तम पुरुष, प्रयत्न, प्रारब्ध, स्वधर्मपालन, सयानपन, मूर्खता या जड़ता, निस्पृहता, चातुर्य्य, उत्तम काव्य के लक्षण, लेखन क्रिया इत्यादि जन-जीवन-सम्बद्ध विषयों का सरल और सुबोध विवरण है जो पढ़ते ही बनता है। पाठक को लेखक जैसी अनुभूति करा देना दासबोध की विशेषता है। यह केवल पठनीय ग्रन्थ नहीं है प्रत्युत आचरणीय, अनुकरणीय है। संक्षेप में दासबोध समर्थ रामदास जी की आत्मजीवनी है।

काव्य का स्वरूप कैसा हो ?:—समर्थ रामदास जी अपने दासबोध ग्रन्थ के तेरहवें दशक के तीसरे समास में काव्यकला के विषय में लिखते हैं

'कविता शब्दरूपी फूलों की माला है और उसमें अर्थरूपी सुगन्धित परिमल निकलता है जिससे सन्तरूपी भ्रमर आनन्द प्राप्त करते हैं। अपने मन में ऐसी ही माला गूँथकर रामचन्द्र जी के चरणों की पूजा कीजिए। ऐसी कविता की रचना और अभ्यास करना चाहिए जिससे ईश्वर की भक्ति बढ़े और विरक्ति हो। परोपकार के लिए ही कविता की सृष्टि हो। यदि कोरा शब्दज्ञान हो और उसके साथ अनुकूल क्रिया न की जाय तो वह सज्जनों को अच्छा नहीं लगता। इसलिए पहले अनुताप करके ईश्वर को प्रसन्न करना चाहिये। ईश्वर के प्रसाद से जो बातें मुँह से निकलती हैं वे ही श्लाध्य और प्रासादिक हैं। भक्तिहीन कविता को केवल ढोंग समझना चाहिए। जो प्रासादिक कवि होता है वह मनुष्यों की स्तुति नहीं करता। परमेश्वर ही उसकी स्तुति का पात्र होता है। कविता प्रासादिक अर्थात् निर्मल, सरल, प्रांजल और क्रमयुक्त होनी चाहिए। वह भक्तिबल से युक्त, प्रचुर अर्थवाली, रमणीय, मधुर, मृदु, मंजुल और विशाल होनी चाहिए। उसमें अक्षरबन्ध, पदबन्ध, अनेक प्रकार के कौशलपूर्ण छन्दबन्ध, कलाएँ, सिद्धियाँ और अन्वय आदि होने चाहिए। उसमें अनेक प्रकार के साहित्यिक दृष्टान्त, तर्क, गीतप्रबन्ध, सम्मतियाँ, सिद्धान्त, व्युत्पत्ति, मति, स्फूर्ति, धारणा इत्यादि होनी चाहिए ताकि उससे संशय का नाश हो और सिद्धान्त का निर्णय हो। कविता के पठन से अनुताप उत्पन्न हो, लौकिक विषयों से ग्लानि हो, ज्ञान उत्पन्न तथा प्रबल हो, वृत्तियों का अन्त हो, सद्बुद्धि प्राप्त हो, पाखंड नष्ट हो, विवेक जाग्रत हो, भिन्नत्व नष्ट हो और संसार के बन्धन टूटें।' श्री रामदास जी की राय में उपर्युक्त लक्षणों से युक्त कविता प्रासादिक अथवा उत्तम होती है। ऐसी कविता की रचना करनेवाले को प्रासादिक या श्रेष्ठ अथवा उत्तम कवि कहते हैं। अन्य तीन प्रकार के कवि होते हैं—धृष्ट कवि, पाठ कवि और धृष्टपाठ कवि। ढीठ या धृष्ट कवि उसको कहते हैं जो अपने मन में उठनेवाली सभी ऊटपटांग बातों को छन्दोबद्ध करता चलता है। पाठ कवि वह है जो बहुत से ग्रंथों का पाठ करके उन्हीं की बातों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके कविता की रचना करता है। धृष्टपाठ कवि जो कुछ सामने आता है उसका वर्णन चटपट करता है। ऐसी धृष्टपाठ कविता भक्तिहीन, कामुक, शृंगारिक, हास्य और विनोद आदि विषयों की होती है। उदर की ज्वाला शान्त करने के लिए धनी मनुष्यों की स्तुति करनेवाली कविता धृष्टपाठ है। कविता कभी हीन न होनी

चाहिये। प्रासादिक कवि ही लोकादर के भाजन होते हैं और उनकी शब्दसृष्टि लोकमंगल के लिए होती है।

काव्यस्फूर्तिविषयक भव्य कल्पना :—श्री रामदास जी के जीवन तथा काव्य-रचना की विशिष्टता भव्यता और उत्कटता है। अन्य कवियों की काव्यस्फूर्ति सम्बद्ध व्याख्याओं में सुन्दरता, सहजता, कोमलता, तरलता, अलौकिकता इत्यादि लक्षण एवं गुणों का यथेष्ट वर्णन मिलता है। परन्तु श्री समर्थ की व्याख्या में भव्यता तथा स्फोटकता का अनोखापन दिखाई देता है। वे कहते हैं—'हे भगवन्! जैसे तोप का अग्नि से स्पर्श होते ही वह भयानक स्फोट और उजाला करके आकाश में दूर तक गोला फेंकती है उस स्वरूप की काव्य-प्रतिभा मुझे दीजिए। जैसे महाबली हनुमानजी आकाश में सूरज पकड़ने के लिए एकाएक उड़े उस स्वरूप की दूरगामी काव्य-प्रतिभा मुझे दीजिए। जैसे वायु सर्वत्र संचार करती है वैसी ही स्वैर संचार करनेवाली काव्य-प्रतिभा मुझे दीजिए।' संक्षेप में श्री समर्थ रामदास जी का जोर सुंदरता, कोमलता, चंचलता की अपेक्षा भव्यता, ज्वालाग्राहिता और दूरगामिता पर अधिक है। इस विचार का कवि केवल कलाकवि कैसे बन सकता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर श्री समर्थ की सागर सदृश विशाल काव्य-रचना का अध्ययन करना चाहिये। आपकी कवि से सम्बद्ध भावना बड़ी विशाल एवम् शुद्ध थी। वे दासबोध में कहते हैं—'अब मैं कवीश्वर की वन्दना करता हूँ जो शब्दसृष्टि के ईश्वर तथा वेदों के अवतार हैं। ये सरस्वती के वासस्थान हैं अथवा नाना कलाओं के जीवन हैं। ये शब्दरत्नों के सागर अथवा नाना प्रकार की बुद्धि के आगर हैं। कवि अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रन्थों की खान है। ये सायुज्य मुक्ति का विस्तार करनेवाले कल्पतरु हैं। पहले कवि का वाग्विलास होता है और तब कानों में उसका रस प्रविष्ट होता है। कवि ही समर्थों की सत्ता, विद्वानों की विद्वत्ता, सृष्टि के भूषण, सिद्धियों के निधान, सभा के मण्डन, भाग्य के भूषण और अनेक सुखों के संरक्षक हैं। वे परोपकार के अनेक उपाय बतलाते हैं और अन्त में संशय का नाश करते हैं। कवि अमृत के मेघ हैं या नौ रसों के स्रोत हैं अथवा अनेक प्रकार के सुखों के उमड़े हुए सरोवर हैं।' भला कविसम्बद्ध इतनी लोकमंगलकारी व पवित्र भावना रखनेवाले श्री रामदास केवल लोगों का मनरंजन करनेवाली मधुर कोमल पदावली से युक्त रचना कैसे कर सकते थे? अतः उन्होंने जान-बूझकर

लोक-जागरण के लिए बोध करनेवाली कविता की प्रचुर रचना की। इसी दृष्टि से आपने दासबोध में राजनीति का मार्मिक निरूपण किया है। आप कहते हैं—'लोगों को आलसी न होने देना चाहिये। राजनीति का पालन करते हुए सब लोगों का संघटन करना चाहिये। दुष्ट मनुष्य के लिये दुष्ट मनुष्य की योजना करनी चाहिये। वाचाल के सामने वाचाल को खड़ा कर देना चाहिये। काँटे से ही काँटा निकालना चाहिये पर साथ ही इस बात का किसी को पता भी न लगने देना चाहिये। किसी काम में ढिलाई न होने देनी चाहिए। जिसने दूसरे पर पूरा विश्वास किया उसके सब काम चौपट हो गये। जो अपने काम के लिए स्वयं ही परिश्रम करे वही अच्छा है। राजा को ऐसा परमार्थी और धर्मात्मा होना चाहिये कि जिसके साथ रहनेवाले शूर-वीरों की भुजाएँ शत्रु की सेना को देखते ही फड़कने लगें। राजनीतिज्ञ को चाहिये कि हृष्ट-पुष्ट के सामने हृष्ट-पुष्ट को, उद्धत के सामने उद्धत को और नटखट के सामने नटखट को रखे। जब जैसे को तैसा मिलता है तब कार्य सफल होता है।' महाराज शिवाजी ने उपर्युक्त राजनीति का अनुसरण करके महाराष्ट्र में स्वराज्य की स्थापना की। अतः श्री समर्थ का पूर्वकथन सार्थक हुआ। इसी दृष्टि से आपने दासबोध में बार-बार पुरुषार्थ का निरूपण किया और प्रारब्धवाद की कटु आलोचना की। आपने स्पष्ट कहा—'यदि कीर्ति को देखा जाय तो सुख नहीं मिलता और यदि सुख को देखा जाय तो कीर्ति नहीं मिलती और बिना किये कोई काम नहीं होता।' प्रयत्न के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है अतः एक स्फुट स्तोत्र में आपने शक्ति की महिमा वर्णन की। आप कहते हैं—'चाहे पारमार्थिक कार्य हो चाहे लौकिक प्रापञ्चिक कार्य हो, शक्ति के बिना सफल हो नहीं सकता। शक्ति से ही सुख मिलता है। उसके बिना सदा दुर्दशा ही भोगनी पड़ती है। शक्ति की सहायता से ही मानव वैभव पाता है। दुर्बलको कौन पूछता है? जो रोगी और दुर्बल होता है उसे लोग दूर ढकेल देते हैं। शक्तिके बिना युक्ति भी सूझती नहीं और यदि सूझी भी तो युक्ति यशस्वी नहीं बनती। लौकिक व्यवहार के यश की ताली शक्ति है। इस संसार का सार शक्ति है। शक्ति के बल पर ही राज्य संपादित तथा स्थापित किया जाता है। अतः मैं लोगों से अनुरोध करता हूँ कि वे शक्ति की उपासना करें।' सचमुच शक्ति की उपासना करने का उपदेश देनेवाले समर्थ रामदास अनूठे

संत कवि थे। आपने कई स्फुट प्रकरणों में क्षत्रियों, सेवकों तथा राजा के कर्तव्य का प्रभावकारी निरूपण किया जिसे पढ़कर जन-मन में स्फूर्ति पैदा होती थी और है। इसीलिए श्री रामदासजी भावी स्वराज्य का स्वप्न देखते थे। महाराज शिवाजी के स्वराज्य की स्थापना के लगभग बीस वर्ष पूर्व 'आनंदवन भुवन गीत' की स्फूर्तिशाली रचना की। कोई महाशय इसको समर्थकृत भविष्यपुराण भी कहते हैं। वह गीत पढ़िए—'एक रात्रि में बड़ा उत्साहवर्धक स्वप्न मैंने देखा जिसमें जिधर देखिए उधर ही आनंदवन भुवन फैला था। जिस भूमि में पहले स्नान-संध्या के लिए जल भी नहीं मिलता था, जहाँ हिंदुओं के देवालय प्रतिदिन भग्न किए जाते थे, हिंदू महिलाओं की पवित्रता सदा संकट में रहती थी, आम जनता अन्न के लिये व्याकुल रहती थी, हिंदूधर्म अपना अस्तित्व ही मिट जाने की भयावह स्थिति में था, वहाँ अब पूरी तरह से धार्मिक स्वतन्त्रता स्थापित हो गई है, स्वराज्य के आगमन से सारी प्रजा सुखी और समाधानी हो गई है, जहाँ-तहाँ मंगलसूचक शहनाई बज रही है और लोग निर्भयता से पुरश्चरण, भजन, कीर्तन आदि कर रहे हैं। सब अत्याचारियों का विशेषतः पापी औरङ्गजेब बादशाह का कड़ा और यशस्वी प्रतिकार हुआ है। अन्ततोगत्वा भगवान ने अवतार धारण करके इस भूमि की मुक्ति विधर्मियों के हाथों से की है। अब यह सब भूमि आनन्दवन भुवन अर्थात् काशी जैसी पवित्र बनी है।' श्री समर्थ का उक्त स्वप्न महाराज शिवाजी ने भविष्य में साकार किया। इससे सिद्ध होता है कि आप द्रष्टा कवि थे, क्रान्तदर्शी कवि थे। ठीक इस तरह का वर्णन आपने रामराज्य का किया जिसको महाराज शिवाजी ने स्वराज्य के रूप में महाराष्ट्र में साकार किया।

श्री रामदास जी ने असंख्य स्तोत्र, आरती, श्लोक, अभंग, पद और गीतों की रचना की जो भक्ति और आध्यात्मिक विवेचन से ओतप्रोत हैं। परन्तु आपकी दो प्रासंगिक कविताओं का उल्लेख किए बिना हम नहीं रह सकते। कहते हैं कि श्री समर्थ सदा अपनी झोली में दवात, कलम और कागज रखते थे और जब काव्य की स्फूर्ति होती थी तब तत्काल रचना करने लगते थे। इस प्रकार की प्रासंगिक कविता बहुत है। एक समय संग्रामगढ़ की मरम्मत हो रही थी। महाराज शिवाजी के निरीक्षण में सैकड़ों कर्मचारी कार्य कर रहे थे। संयोग से स्वामी रामदास वहाँ पहुँचे। उस समय आपने शिल्पशास्त्र तथा स्थापत्य शास्त्र से सम्बद्ध अति मार्मिक जानकारी शिल्पकारों को तथा महाराज

शिवाजी को करायी। वे शिल्पकार अचरज करने लगे कि इतना सूक्ष्म ज्ञान रामदासजी ने कब और कैसे संपादित किया। उनकी सर्वज्ञता से सब आश्चर्य-विभोर हुए। एक समय श्री रामदास जी ने मठ के बगीचे में कौन-सी साग-भाजी बोनी चाहिए बताया। आपने लगातार दो सौ साग-भाजी के नाम और गुण सुनाए। शिष्यगण आश्चर्यमुग्ध हो गए। आपका आध्यात्मिक ज्ञान जितना गहरा था उतनी ही लौकिक बातों की जानकारी सर्वमुखी, विशाल और मार्मिक थी। श्री समर्थ की सब रचना उपलब्ध नहीं है परन्तु जो है वह इतनी विशाल और विविध प्रकार की है कि उससे आपकी कवि-प्रतिभा का अच्छी तरह से हम मूल्यांकन कर सकते हैं।

श्री समर्थ का वाङ्मय उनके समान ही है। जैसा लेखक या कवि वैसी उसकी शैली (Style is the man) यह न्याय उन पर पूरा घटता है। विवेकयुक्त वैराग्य, प्रकाण्ड विद्वत्ता, भक्ति, दीर्घोद्योग, समाजोन्मुखता, दुर्बलता से चिढ़, भव्यता तथा उत्कटता में रुचि, लोकोद्धार की तड़प, निस्पृहता, वैभव के प्रति घृणा, प्रचार, प्रयत्न और सावधानता आपके विशेष गुण थे। इन गुणों का यथार्थ दर्शन आपकी कविता में होता है। इन गुणों का विमल प्रतिबिम्ब हम आपके साहित्य-सरोवर में देखते हैं। आप स्वयं लड़ाकू तथा उदास वृत्ति के थे। आप मानव के व्यवहार की ओर कठोर एवम् तर्कशुद्ध दृष्टि से देखते थे। यही कठोर न्यायी वृत्ति आपकी साहित्य-सृष्टि में देखने में आती है। श्री समर्थ के सम्प्रदाय में अधिकतर उच्चवर्णीय ब्राह्मण और क्षत्रिय होते थे और उनके द्वारा हिंदू धर्म की रक्षा और स्वराज्य-स्थापना करने के उदात्त हेतु से आपने उनको स्फूर्तिशाली उपदेश बार-बार किए, यह ऐतिहासिक सत्य है। इस सत्य के आधार से कई आलोचक समर्थ के साहित्य पर संकीर्णता का आरोप करते हैं और कुछ अंश में वह आरोप सत्य भी है। यह तो मानना ही होगा कि वारकरी सम्प्रदाय के संत-साहित्य में जो उदारता, सहिष्णुता व सामाजिक प्रगतिशीलता दिखाई देती है उसका अभाव समर्थ की साहित्य-सृष्टि में है। समर्थ का वाङ्मय स्फूर्ति, लोकोद्धार की सक्रिय तड़प, लड़ाकूपन और व्यावहारिक उपदेश का भंडार है। यह साहित्य सामाजिक समता की दृष्टि से संकीर्ण है तो भी राजनीतिक प्रगति-शीलता और सामाजिक क्रियाशीलता की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह ऐतिहासिक सत्य सब संशोधक विद्वानों ने माना है। यह बात हम

मानते हैं कि श्री रामदास जी ने काव्य के कलापक्ष की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना परवर्ती कवियों ने दिया था। आपके काव्य में मधुरता, कोमलता तथा लालित्य का फीकापन खटकता है। श्री समर्थ 'अर्थरि तात्पर्यम्' (काव्य की महत्ता उसके अर्थ पर निर्भर है) इस न्याय के कट्टर समर्थक थे। आपकी काव्य-विषयक दृष्टि ही भिन्न तथा अटल थी जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं। आप कहते थे कि जो दूसरों को समर्थ बनाता है वही समर्थ कहलाता है। उक्त न्याय आपकी काव्य-रचना पर घटता है। निःसंशय श्री समर्थ का साहित्य श्रेष्ठ है। वह कलायुक्त है या नहीं, चिंता की बात नहीं है।

समर्थ रामदासजी की हिंदी रचना

रामदासजी ने उत्तर भारत में लगभग सात वर्षों तक निवास किया। अतः युवावस्था में आपका हिंदी भाषा में रचना करना स्वाभाविक ही था। समर्थ गाथा तथा धूलिया के श्री समर्थ वाग्देवता मंदिर की जीर्ण पाण्डुलिपियों तथा अन्य स्रोतों से आपके हिंदी पद प्राप्त हुए हैं। वे राग-रागिनियों में भी गाये जा सकते हैं। हम यहाँ कुछ हिंदी पद उद्धृत करते हैं जिनमें परमात्मा की सर्वव्यापकता का भाव ध्वनित है। आप अपने आराध्य राम को मोहन नागर साँईं आदि नामों से भी अभिहित करते थे। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आपकी हिंदी अशुद्ध एवं मराठीपन लिए हुए है।

(पद १)

जित देखो उत रामहि रामा।
जित देखो उत पूरण कामा॥ धृ॥

तृण तरुवर सातो सागर।
जित देखो उत मोहन नागर॥ १॥

जल थल काष्ठ पाषाण आकाशा।
चन्द्र सुरज नच तेज प्रकाशा॥ २॥

मोरे मन मानस राम भजो रे।
रामदास प्रभु ऐसा करो रे॥ ३॥

(पद १)

(राग सिंध काफी, ताल दादरा)

राम न जाने नर तो क्या जी ॥ धृ ॥
धन दौलत सब माल खजीना ।
और मुलुख सर किया तो क्या जी ॥ १ ॥
गोकुल मथुरा मधुवन द्वारका ।
और अयोध्या कर आया तो क्या जी ॥ २ ॥
गंगा गोमति रेवा तापी ।
और बनारस न्हाया तो क्या जी ॥ ३ ॥
दर्वेश शवडा जंगम जोगी ।
और कानफाडी हुआ तो क्या जी ॥ ४ ॥
बेद पुरान की चर्चा घनी है ।
और शास्तर पढ़ आया तो क्या जी ॥ ५ ॥
रामदास प्रभु आत्म रघुबीर ।
इस नयन नहिं छाया तो क्या जी ॥ ६ ॥

श्री रामदासजी कहते हैं कि यदि मन रामनाम में नहीं रत हुआ तो धन, राज्यलाभ, तीर्थव्रत, स्नान, योग-साधना इत्यादि व्यर्थ हैं ।

श्री रामदासजी निम्नलिखित पदों में कहते हैं कि 'हिन्दू और मुसलमान नामों से दो भिन्न मजहब भले ही चले हों पर दोनों का सर्जनकर्त्ता एक ही है और वही सृष्टि को चलाता है । जिसकी परमार्थ के प्रति लगन है वह अल्ला मियाँ को प्यारा है । संसार में गैबी (परमार्थ-साधक) के सिवा अन्य सभी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं ।

(पद १)

(राग काफी, ताल दीपचंदी)

रे भाई गैबी मरद सो न्यारे
वे ही अल्ला मिया के प्यारे ॥ धृ ॥
देहरा तुटेगा, मशीदी फुटेगा
लुटेगा सब हय सो ।
लुटत नहीं फुटत नहीं
गैबी सो कैसो रे भाई ॥ १ ॥

हिंदु मुसलमान महजब चले
येक सरजिनहारा ।
साहब आलम कुं चलावे
सो आलम ही न्यारा ॥ २ ॥
अवल एक आखीर एक दोऊ नहीं रे भाई ।
हम भी जायेंगे तुम भी जायेंगे ।
हक सो इलाही रे ॥ ३ ॥

(पद २)

एक जमीन एक ही पानी, एक आतश असमान ।
एकमेहु आलम चलाता, एक चंद सुभान ॥ १ ॥
भाई काहे कु लड़ते, लड़ते सो पड़ते भाई ।
गैबि सोई एक ईलाहि, पंचभूत भूतखाना ।
आज्यब महजब इसमें है रे, यो तो सब कुफराना ॥ २ ॥
बंदा कमिन हक बोलता, सुन हो खातिर ल्यावो ।
अल्ला बिन एक जग नहीं रे, गैबि बाटसु ज्यावा रे ॥ ३ ॥

स्वामी जी अपने मन के द्वारा साधारण जनता को कैसे उपदेश करते थे, पढ़िये—

रे मन सामन सुमन के मन योग तन मन सो सब साही ।
सुंदरी सुत सपुत आटक भटकत लटकत सज्जन भाई ॥
यौवन धाम आराम चि रामगुणी गुणधाम पुजे इतना ही ।
दास कहे आब देख जेब तब राम कि काम बिना कछु नाहीं ॥

भावार्थ :—'इस दुनिया में राम के बिना सब कुछ झूठ है। अन्य सब संबंधी स्वार्थवश होकर प्रेम करते हैं परन्तु मौके पर धोखा देकर छोड़ जाते हैं। अतः ऐ मन तू राम का ही सहारा ले और सार्थक हो।' किंवदन्ती है कि समर्थ रामदास जी ने कई रचनाएँ अवधी, व्रज इत्यादि भाषाओं में कीं। समर्थकृत पद्यपदान्तरे नामक ग्रन्थ में इन सब अमराठी पदों का संग्रह किया गया है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि समर्थ जी ने उत्तर भारत में बहुत वर्षों तक निवास किया था। उधर उनके मठ भी थे। आपके एक पद में है 'कहते किताब कुरान' तात्पर्य है कि समर्थ रामदास जी सब धर्मों की समानता तथा

एकता का प्रतिपादन करते थे। उपर्युक्त पदों में आपने हिंदू मुसलमानों को आपस में लड़ने से निवृत्त होने का उपदेश दिया। स्वामी जी किसी अन्य धर्म के द्वेष्टा नहीं थे और न वे किसी धर्म को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहते थे। प्रत्युत वे धार्मिक सहिष्णुता के समर्थक थे। अन्यथा वे श्री शिवाजी महाराज को स्वराज्य-स्थापना के पश्चात् अन्य धर्मों के पवित्र स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करने का उपदेश सहज में दे सकते थे और कम से कम महाराष्ट्र में तो मुसलमानों की मसजिदें खड़ी न रह सकती थी। हम इतिहास में पढ़ते हैं कि श्री शिवाजी महाराज ने एक भी मसजिद नष्ट नहीं करायी। इससे दोनों की परधर्म सहिष्णुता स्पष्ट होती है। उनकी हिंदूधर्मनिग्रा धर्मसहिष्णुता को लिए हुई थी। वह समर्थ की सहिष्णुता थी न कि असमर्थ (दुर्बल) की शरणागति। श्री समर्थ चाहते थे कि हिंदू मुसलमानों के समान सबल बनें ताकि दोनों में मित्रता बनी रहे। 'दास विश्राम धाम' नामक ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है कि समर्थ रामदास जी की मितत्रा शमना मीर नामक मुसलमान अवलिया से भी थी। आपको मीर साहब की आध्यात्मिक योग्यता के प्रति आदर था। अवलिया मीर भी समर्थ के प्रति अत्यादर भाव रखते थे।

श्री समर्थ के कतिपय हिंदी पद 'दास फकीरा' के नाम से मिलते हैं। एक पद पढ़िए—

> सब घट भाई रे खुदाई।
> खाली जागा नई रे खुदा बिना ज्यानत नाई रे॥
> झुट कहे सो झुट दिवाने खबर न पाई रे।
> दास फकिरा कहे इतनाहि अंतर भाई रे॥

श्री समर्थ के पूर्व समय में मुसलमानों का महाराष्ट्र के जीवन में बहुत सम्पर्क बढ़ गया था। अतः समर्थ की हिंदी भाषा का उर्दूमिश्रित होना स्वाभाविक है। पहली बात है कि आपकी हिंदी अशुद्ध थी। उसमें मराठी शब्द घुसेड़ दिये जाते थे। दूसरी बात है कि उस पर मराठी के असर के साथ उर्दू का भी प्रभाव पड़ा है। अतः आपके तथाकथित हिंदी पदों का भावार्थ जानना भी कठिन होता है। कुछ भी हो, हिन्दी के लिए क्या यह गौरव की बात नहीं है कि महाराष्ट्र में अपूर्व क्रान्ति का संचार करनेवाले कर्मयोगी संत ने उसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर उसमें सब को उपदेश दिया।

दूसरा अध्याय

समर्थ-सम्प्रदाय और उसकी साहित्य-सृष्टि

श्री रामदासजी ने दासबोध के ग्यारहवें दशक के पाँचवें समास में अपने संप्रदाय की चतुःसूत्री का स्पष्ट निवेदन किया। वे कहते हैं—'सबसे पहली और मुख्य बात हरिकथा एवम् अध्यात्म-निरूपण है, दूसरी बात राजनीति है और तीसरी बात सभी विषयों में सावधानता रखनी है। चौथा कर्तव्य पूरा करना और सदा उद्योगशील रहना है।' समर्थ चाहते थे कि उनके सम्प्रदाय में पाखण्डी और अनीश्वरवादी न आवे। राजनीति का आज जो संकीर्ण अर्थ है उस अर्थ में श्री रामदासजी ने उसकी व्याख्या नहीं की थी। उनकी दृष्टि में राजनीति का अर्थ है सामाजिक प्रपंच, लोक-व्यवहार और सामाजिक कार्य, जिसमें आज की राजनीति पूरी समा जाती थी। इसी अर्थ में आपने दासबोध में सत्ताईस स्थलों पर राजनीति का उल्लेख किया। तीसरी व चौथी बात उनकी व्यवहार-दक्षता और अविरत प्रयत्नशीलता बताती है। इस चतुःसूत्री के अनुसार अपने अनुशासित सम्प्रदाय स्थापित किया। उक्त सम्प्रदाय के निम्नलिखित लक्षणों का निवेदन आपने बड़ी प्रभावशाली शैली में किया। वे लक्षण हैं—(१) लिखना, (२) पढ़ना, (३) अर्थ लगाना, (४) शंका-निवृत्ति, (५) अनुभव, (६) गाना, (७) नृत्य, (८) ताली बजाना, (९) अर्थ-भेद, (१०) प्रबन्ध रचना, (११) प्रबोध, (१२) वैराग्य, (१३) विवेक, (१४) दूसरों को संतुष्ट रखना, (१५) राजनीति, (१६) एकाग्रता, (१७) कार्यव्यग्रता, (१८) प्रसंगावधान, (१९) उदासीनता, (२०) समाधान, (२१) रामोपासना, इत्यादि। उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट होता है कि रामदास का सम्प्रदाय ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग का प्रचार करने के लिये प्रवर्तित किया गया था। वे चाहते थे कि उनके शिष्य ऊपर कहे गुणों से युक्त हों। इससे स्पष्ट होता है कि उनका सम्प्रदाय विशिष्ट व्यक्तियों के लिए था न कि साधारण जनता के लिये।

समर्थ सम्प्रदाय का तत्त्वज्ञान:—यह सम्प्रदाय अद्वैत मत का था। दासबोध में जो कि सम्प्रदाय का पूज्य एवं प्रामाणिक ग्रंथ है, परंपरागत अद्वैत

का अभिनव और अत्यंत प्रभावकारी ढंग से प्रतिपादन है। 'अहं महावाक्य की अनुभूति प्राप्त करना ही सत्य ज्ञान है। यह आत्मज्ञान तीर्थव्रत, तप, दान, पंचाग्नि-साधन वा गोरांजन से प्राप्त नहीं होता। वह सद्गुरु की कृपा से और आत्मप्रतीति से ही साध्य है। अतः इस सम्प्रदाय में गुरु का श्रेष्ठतम महत्त्व है। आत्मज्ञान से माया का भ्रम-पटल दूर हो जाता है, साधक सिद्ध अर्थात् ब्रह्मज्ञानी होता है और वह सायुज्यमुक्ति पाने का अधिकारी बनता है।

आचारधर्म:—श्री रामदासजी की राय में केवल ब्राह्मणवर्ण के साधक ही ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के पात्र होते हैं। आद्य शंकराचार्य जैसी ही आपकी भी धारणा थी कि यदि ब्राह्मणवर्ण सुव्यवस्थित और स्वकर्तव्यनिष्ठ बनता है तो अनायास अन्य वर्ण उसका अनुकरण कर वैदिक धर्म की रक्षा एवं संवर्धना करेंगे। (ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणे रक्षितः स्यात् वैदिको धर्मः। तदधीनत्वात् वर्णाश्रम-भेदानाम्।) अतः इस सम्प्रदाय का प्रचार प्रायः ब्राह्मणों में ही हुआ। केवल ब्राह्मण ही गुरुमंत्र दे सकते थे और महंत या मठाधीश बनते थे। वर्णाश्रम के आचार पर इसमें विशेष जोर था। यह उपासना का सम्प्रदाय था। इसमें रामोपासना पर विशेष बल था। साथ में महाबली हनुमान और महाकाली देवी की पूजा भी होती थी। दासबोध में श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति का रसीला निरूपण है। पर सब भक्तियों में 'आत्मनिवेदन' को महत्तम माना जाता था। सगुण पूजा पर विशेष जोर था क्योंकि साधारणजनों के लिए यही सुलभ मार्ग है। श्री समर्थ का कड़ा आदेश था कि साम्प्रदायिक स्वतः निर्धन रहकर समाज सेवा करें। शिष्य या महंत के लिए अपरिग्रह के व्रत का आचरण करना अनिवार्य था। उसको प्रतिदिन भिक्षा माँगकर निर्वाह करना आवश्यक था। निस्पृहता, निरपेक्षता और अपरिग्रहता पर अत्यधिक जोर होने से शिष्य या महंत तेजस्वी, त्यागी और परिश्रमी होते थे। प्रत्येक साम्प्रदायिक को काया-वाचा-मन से परोपकार करना आवश्यक था। पहले तो ब्रह्मचर्य पर अत्यधिक जोर था पर आगे चलकर गृहस्थों को भी सम्प्रदाय में सहज ही प्रवेश मिलने लगा।

समर्थ संप्रदाय और वारकरी संप्रदाय:—श्री रामदासजी ने समय की आवश्यकतानुसार रामोपासना के संप्रदाय का बीजारोपण कृष्णा के किनारे मसूर में किया। महाराष्ट्र की भक्तिरूपी उपजाऊ भूमि में यह पौधा तुरंत

लहलहाया। दासबोध और स्फुट रचनाएँ रूपी जल से सिंचित होने से वह फूला और फला। विशाल वटवृक्ष जैसा यह संप्रदाय अन्य दूरवर्ती प्रदेशों में भी फैला। स्वराज्य-संस्थापक शिवाजी महाराज के आश्रय से वह अधिक सुदृढ़ और सघन बना। लगभग ११०० मठों की स्थापना हुई। उन पर मठाधीशों की नियुक्तियाँ हुईं। प्रति वर्ष महोत्सव और मेले लगने लगे। सज्जनगढ़ (श्रीरामदासजी के निवासस्थान) एवम् निर्वाणस्थान पर प्रति वर्ष सैकड़ों पालकियाँ आने लगी। पर संस्थापक श्रीरामदासजी के निर्वाण के पश्चात् जहाँ-तहाँ शिथिलता आ गई। सब शिष्य, महंत और मठाधीश अपरिग्रह और निर्धनता का त्याग कर मठों की अधिकार-संपत्ति के लिए परस्पर लड़ने में रुचि लेने लगे। परोपकार जाता रहा। संक्षेप में कहना पड़ता है कि उपर्युक्त यश का कारण श्रीसमर्थ रामदास का अलौकिक व्यक्तित्व था न कि उनके सिद्धांत। संप्रदाय ने कालोचित रूप से कुछ धार्मिक संघटना का कार्य अवश्य किया पर भागवत या वारकरी संप्रदाय की तुलना में वह नगण्य-सा प्रतीत होता है। वारकरी संप्रदाय में आध्यात्मिक एवम् उपासना के क्षेत्र में जो समानता, उदारता और सहिष्णुता का न्यायोचित व्यवहार होता था उसको समर्थ के संप्रदाय ने धक्का दिया। वारकरी संप्रदाय में जो मानवता थी और जिससे नीच जातियाँ परमार्थ एवं भक्ति के क्षेत्र में कुछ उन्नति कर सकी थीं उसको श्री रामदास के संप्रदाय ने निषिद्ध ठहराया और हिंदू समाज में परंपरागत जाति-श्रेष्ठता की संकीर्णता को पुनः जगाया और पुष्ट किया। वारकरी संप्रदाय में गुरु की आध्यात्मिक श्रेष्ठता देखी जाती थी न कि उसकी जाति और तर्क एवम् आध्यात्मिक दृष्टि से यह बात स्वतः सिद्ध है। इसके विपरीत रामदासजी के संप्रदाय में गुरु की जाति को अत्यधिक महत्व प्राप्त हुआ और उसकी पारमार्थिक योग्यता की ओर आँख मूँदने को कहा गया। कहाँ वारकरी संप्रदाय की प्रगतिशीलता और कहाँ रामदास के संप्रदाय की संकीर्णता और पुराणप्रियता। यही मुख्य दोष है जिसकी वजह से समर्थ का संप्रदाय उतना लोकप्रिय नहीं हो सका जितना वारकरी संप्रदाय। वारकरी संप्रदाय समानता से सबके लिए एक ही उपदेश देता है और साधन बताता है किंतु समर्थ के उपदेश प्रायः ब्राह्मणों के लिए और प्रसंगानुसार क्षत्रियों के लिए ही हैं। एवम् वारकरी संप्रदाय की आध्यात्मिक, सामाजिक एवम् साहित्यिक प्रगतिशीलता संदेह के परे है। वह व्यक्तिनिष्ठ नहीं तत्वनिष्ठ है।

श्री रामदासजी ने गुरु की जाति को अधिक महत्व दिया अतः उनके संप्रदाय में जाति-संकीर्णता व जातिनिष्ठा बढ़ी जिसका अन्य जातियों पर बुरा प्रभाव पड़ा। काश श्री रामदासजी राजनीति के क्षेत्र में जितने उग्र और प्रगतिशील थे उतने ही धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में होते तो महाराष्ट्र का कितना चिरंतन उपकार होता!

साहित्य-रचना

यह मानना पड़ता है कि समर्थ रामदास के सम्प्रदाय में सब उच्च ब्राह्मणवर्ण के शिष्य होते हुए भी आपकी बराबरी करनेवाला एक भी शिष्य नहीं था। राजनीति एवं समाजोद्धार की बात छोड़ दीजिए परन्तु ग्रन्थ-रचना करने में भी एक भी शिष्य आपकी योग्यता नहीं रखता था। क्या विचार और क्या भाषाशैली दोनों में ही श्री समर्थ अपने संप्रदाय के सर्वोत्तम ग्रन्थकार हैं। आपके शिष्यों ने प्रचुर मात्रा में ग्रन्थ-रचना की जिसका संक्षिप्त वर्णन हम यहाँ करते हैं। आपके ज्येष्ठ बंधु श्री गंगाधर ने, जिनका साम्प्रदायिक नाम श्रेष्ठ था, भक्ति-रहस्य और सुगमोपाय नामक दो ओविबद्ध ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त उनके कुछ स्फुट पद भी प्राप्त हैं। ग्रन्थ विद्वत्तापूर्ण है और पदों की भाषा शुद्ध और सरल है। श्री रामदास के समकालीन शिष्यों में जयराम स्वामी वडगांवकर, रंगनाथ स्वामी निगडीकर, केशवस्वामी भागानगरकर और आनन्दमूर्ति ब्रह्मनाळकर प्रसिद्ध थे। इन सब साधु-पुरुषों का समावेश रामदास-पंचायतन में किया जाता था। श्री जयरामस्वामी ने सीता-स्वयंवर, रुक्मिणी-स्वयंवर, दशमस्कन्ध की टीका, आध्यात्मिक प्रकरण और कई अभंग तथा पदों की रचना की। रंगनाथ स्वामी ने रामजन्म, गजेन्द्रमोक्ष, सुदामा चरित्र, पंचीकरण, स्फुट आध्यात्मिक प्रकरण, पद, श्लोक इत्यादि की रचना की। श्री आनन्दमूर्ति ब्रह्मनालकर ने भूपालियों (प्रातः-प्रार्थनाओं) और अनेक पदों की सरस रचना की। श्री दिनकर गोसावी श्री रामदास के प्रिय शिष्य थे। आप श्री समर्थ के सहवास में अनेक वर्ष रहे। आपने 'स्वानुभव-दिनकर' नामक ग्रन्थ और कुछ स्फुट पदों की रचना की। स्वानुभव-दिनकर की ६७५० ओवियाँ हैं। इसमें वेदान्त और भक्ति का निरूपण है। भाषाशैली सुगम और आह्लाददायक है। स्फुट रचनाओं में श्लोक, अनुष्टुप्, अभंग, पद इत्यादि हैं। आपकी साहित्य-सृष्टि काव्यकला की दृष्टि से रमणीय है।

भीमस्वामी :—इनको श्री समर्थ ने दीक्षा देकर तंजोर के मठ का मठाधीश नियुक्त किया था। ये गृहस्थ होते हुए भी उच्चकोटि के भक्त थे। इन्होंने श्री समर्थ का ५० पदों में संक्षिप्त चरित्र लिखा। उपर्युक्त चरित्र साहित्यिक एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

वेणाबाई :—यह महाराष्ट्र की एक सुप्रसिद्ध भक्त कवयित्री थी। यह बचपन से ही भक्त और विरक्त थी। १० वर्ष की अल्पावस्था में वह विधवा हो गई। अतः अपना दुःख भूलने के लिए वह सदा एकनाथ-कृत भागवत के अध्ययन में मग्न रहती थी। संयोग से श्री समर्थ उसके गाँव में गये। वह उनसे अत्यधिक प्रभावित हुई और उसने उनसे गुरुदीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के उपरान्त वह रामोपासना में पागल जैसी रहने लगी। राम ही उसका सर्वस्व था। वह आर्तता से पुकारती—'हे पतितपावन राम! मैं सर्वथा तेरी हूँ, मेरे हृदय में अच्छा भाव हो, बुरा भाव हो, या भाव न हो, पर मैं तेरी ही हूँ! मुझ में सज्जनता हो, दुर्जनता हो या मैं पापबुद्धि हूँ, पर हे पतित-पावन राम, मैं तेरी ही हूँ। मैं दीन-हीन और अपराधिनी हूँ, पर प्रभु, हूँ तेरी ही।' यह थी उसकी समर्पण की भावना। लोकापवाद की ओर आँख मूँदकर वह श्री रामदास जी के पास रहती थी और उनकी सेवा में एवं रामोपासना में समय बिताती थी। सचमुच वह पुण्यशीला नारी थी। उसने कीर्तन करते हुए रामनाम के जयघोष में स्वर्गारोहण किया। उसके 'सीता-स्वयंवर' के अलावा कुछ स्फुट पद भी उपलब्ध हैं। सीता-स्वयंवर पर वेणाबाई के पूर्व और पश्चात् कई कवियों ने रचना की परन्तु वेणाबाई की काव्यकृति अपनी शैली की है। इसमें स्त्री-सुलभ भावनाओं की जितनी बारीकी से जानकारी कराई गई है उतनी अन्यत्र नहीं प्राप्त होती। ग्रन्थ ओवीबद्ध है और उसके चौदह समास हैं। विवाह की सब धार्मिक विधियों का मार्मिक एवं वास्तविक वर्णन इसमें है। इसका कोमल अनूठापन वर्णन के परे है। श्रीमती वेणाबाई के पूर्व महानुभाव पंथ की कवयित्री महदंबा ने रुक्मिणी-स्वयंवर पर एक काव्य की रचना की थी। परन्तु इतनी सुन्दर और स्वतन्त्र रचना इसके पूर्व किसी कवयित्री ने नहीं की थी।

गिरिधर स्वामी :—यह वेणाबाई की शिष्या बयाबाई का शिष्य था। इसने 'समर्थप्रताप' नामक ग्रंथ लिखा जिससे पता चलता है कि यह श्रीरामदास के सहवास में रहा था। इसमें श्री समर्थ का पूरा चरित्र वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त गिरिधर ने निवृत्तिराम, संकेतरामायण, श्री समर्थकरुणा इत्यादि चालीस छोटे-मोटे ग्रंथों का प्रणयन किया। संकेतरामायण में ६७४१ ओवियाँ हैं। निवृत्तिराम नामक ग्रंथ भी सरसता के लिए प्रसिद्ध है। परंतु उपर्युक्त ग्रंथों में गुरुचरित्र पर 'समर्थप्रताप' ग्रंथ ही महत्वपूर्ण है।

आत्माराम महाराज येक्केहालीकर:—ये बाल्यावस्था से ही विरक्त एवम् एकान्तप्रिय थे। यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् ये रामदास के सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुए। इन्होंने 'श्री दास विश्रामधाम' नामक बृहत् ग्रंथ की सफल रचना कर अपना नाम मराठी साहित्य में अमर किया। श्री समर्थ के चरित्रविषयक ग्रंथों में यह सबसे बड़ा ग्रंथ है। इसमें १६३०२ ओवियाँ हैं। श्री रामदासजी के चरित्र से सम्बद्ध अधिक से अधिक सामग्री इसमें है। सचमुच यह समर्थ सम्प्रदाय का विश्वकोष है। इसमें सम्प्रदाय के लक्षण, मठ, आचार, सब कुछ प्राप्य है। यह ग्रंथ जितना विशाल है उतना साहित्य की दृष्टि से सराहनीय नहीं है। परन्तु साम्प्रदायिक जानकारी के लिए अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

इनके अतिरिक्त कई छोटे-मोटे साहित्यकार हो गए परन्तु उनकी रचनाएँ साम्प्रदायिक परिपाटी से भिन्न नहीं हैं अतः उनका उल्लेख हम यहाँ नहीं करते।

संक्षेप में श्री रामदास के सम्प्रदाय की रचना उतनी लोकप्रिय न हो सकी जितनी वारकरी सम्प्रदाय की थी।

तीसरा अध्याय

वामन पंडित

(१६०८–१६९५)

श्री शिवाजी महाराज द्वारा स्वराज्य की स्थापना होने के पश्चात् महाराष्ट्र में सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ। गत ३५० वर्ष में महाराष्ट्र की भाषा, वेष तथा सभ्यता पर जो यावनी शासन का कुप्रभाव हुआ था उससे मराठी भाषा मुरझा-सी गई थी। संस्कृतिरक्षक श्री शिवाजी महाराज ने अपने मंत्रिमंडल में जो अष्टप्रधान नियुक्त किये उन्हें संस्कृत की उपाधियाँ दी गई थीं। उर्दू-फारसी की जगह मराठी राजभाषा बनी। श्री शिवाजी ने मराठी में राज व्यवहार-कोष बनाने के लिए प्रकाण्ड विद्वान् रघुनाथ पंडित को नियुक्त किया। उनको मंत्रि-मंडल (अष्टप्रधानों) में स्थान दिया। इसका तत्काल परिणाम यह हुआ कि विद्वान् लोग संस्कृत के शब्दभंडार से लाभ उठाते हुए मराठीभाषा को अधिक शुद्ध और समृद्ध बनाने में रुचि लेने लगे। इन विद्वानों ने धीरे धीरे धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त पौराणिक ग्रंथों एवम् संस्कृत के महाकाव्यों का मराठी में अनुवाद करना अथवा तत्सदृश सरस रचना करना प्रारम्भ किया। अतः इन विद्वान् कवियों द्वारा संस्कृत छंदों का मराठी में प्रचुरता से प्रयोग किया जाने लगा। भाषाशैली ने भी संस्कृत का ढंग अपनाया। इस तरह की संस्कृत-सदृश सरस काव्यरचना करनेवालों को 'पंडित कवि' अभिधान प्राप्त हुआ। पंडित काव्य का श्रीगणेश करने का गौरव प्रकाण्ड विद्वान् वामन को प्राप्त हुआ। आइए, हम उनकी संक्षिप्त जीवनी पढ़कर उनके काव्य-सरोवर का रसास्वाद लें।

वामन पंडित का जन्म और प्राथमिक शिक्षण बीजापुर में हुआ। परंपरावादी ऋग्वेदी ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी लौकिक लाभ की दृष्टि से इन्होंने उर्दू-फारसी भाषा का गहरा अध्ययन किया क्योंकि उस समय बीजापुर के बादशाह मुसलमान आदिलशाह थे। किंवदन्ती है कि उर्दू-फारसी भाषा पर इनकी प्रभुता देखकर बादशाह ने इन्हें मुसलमान बनाना चाहा। पर युवक वामन की

धर्मनिष्ठा जाग उठी और वे तत्काल बीजापुर से भागकर काशी जा पहुँचे। वहाँ लगातार बारह वर्षों तक एड़ी-चोटी का पसीना एक कर इन्होंने संस्कृत साहित्य एवं दर्शनशास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया। परिश्रम एवं अध्ययन का साथ प्राप्त होते ही इनकी नैसर्गिक बुद्धिमत्ता चमक उठी। ये बेजोड़ वाग्वीर थे। इन्होंने काशी के सब विद्वानों को विवाद और दर्शनशास्त्र की चर्चा में पराजित कर कई विजय-प्रमाणपत्र प्राप्त किए। इनका अहंकार भी खूब बढ़ा। ये प्रकाण्ड घमंडी विद्वान् आरम्भ में द्वैतवादी थे। किंवदन्ती है कि संयोग से इनकी श्री समर्थ रामदासजी से भेंट हो गई। श्री रामदासजी ने इनको मलयाचल पर तपस्या करने को कहा जो उन्होंने तत्परता से किया। यहाँ मलयगिरि पर उनको सच्चिदानंद नामक संन्यासी ने गुरुमंत्र दिया और 'भार्गवी वारुणी विद्या' सिखलाई। घमंडी द्वैतवादी वामन पंडित में क्रांति हो गई और वे अद्वैत उपासना के कट्टर समर्थक बने।

साहित्यिक रचना :—इनकी रचना स्थूल रूप में तीन प्रकार की थी—वेदान्तविषयक, पौराणिक आख्यानपरक और अनुवाद या भाषांतरयुक्त। इनकी उपलब्ध लगभग पैंतालीस हजार पंक्तियों में से लगभग पच्चीस हजार पंक्तियों में वेदांत का निरूपण है। वेदांतविषयक ग्रंथों में यथार्थ दीपिका, निगमसार, चित्सुधा, प्रियसुधा, राजयोग तत्त्वमाला, गीतार्णवसुधा, कर्मतत्व इत्यादि हैं, जिनसे इनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता एवं आध्यात्मिक ज्ञान का बोध होता है। यथार्थदीपिका भगवद्गीता की काव्यबद्ध टीका है। इसकी २२२६६ ओवियाँ हैं। कवि ने गीता का यथार्थ अर्थ विशद किया है। कहीं-कहीं आपने ज्ञानेश्वरी की कड़ी आलोचना की है। ज्ञानेश्वरी का दूसरा नाम भावार्थदीपिका है। इसका विरोध करने के हेतु इन्होंने अपने गीताभाष्य का यथार्थदीपिका नाम रखा। यह भाष्य तर्ककर्कश, और काव्यहीन है। भाषाशैली प्रभावी, तर्कयुक्त और वकीलों के ढंग की है। उसमें सुगमता, स्पष्टता है पर कोमलता और लालित्य का अभाव है जो ज्ञानेश्वरी में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। वामन पंडित ने इस भाष्य में ज्ञानयुक्त सगुण भक्ति का प्रभावकारी प्रतिपादन किया। संत ज्ञानेश्वर ने ज्ञान, कर्म और भक्ति का विवेचन किया। ज्ञानेश्वरी अधिक उदार और समावेशक है पर यथार्थदीपिका अनुदार और संकीर्ण है। यथार्थदीपिका में केवल श्रीकृष्ण-भक्ति की ही श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। संक्षेप में वह एकेश्वरवादी है। कवि ने

अद्वैत और भक्ति की एकता का बड़ा तर्कशुद्ध निरूपण किया है। संक्षेप में यथार्थदीपिका गीता के भाष्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। आपकी आख्यानपरक रचनाओं का आधार रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत हैं। आपके चालीस आख्यानों में सीतास्वयंवर, भरतभाव, नामसुधा, वनसुधा, वेणुसुधा, हरिविलास, कात्यायनी व्रत, रासक्रीड़ा, राधाविलास, राधाभुजंग, जलक्रीडा इत्यादि के प्रति रसिक पाठक भृंग जैसे लुब्ध हैं। इनकी रचनाएँ संस्कृत के विविध वृत्तों के अनुसार होने से नादमधुर हैं। उनकी सरसता वर्णन के परे है। वामन पंडित श्लोकों की रचना करने में एकमेवाद्वितीय थे। इनके श्लोकों की पंक्तियों के अन्त अचूकता से यमकों में होते हैं अतः उनमें एक विशिष्ट नादगुण है जो पाठक और श्रोता को तुरन्त आकर्षित करता है। वे यमकों की श्लिष्ट एवं नादमधुर रचना में इतने निपुण थे कि समीक्षकों ने उनको 'यमक्या वामन' नाम से सम्बोधित किया। इनके श्लोक सरसता से ओतप्रोत होते हुए अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि अलंकारों से युक्त हैं। प्रसाद उनकी आत्मा है। इसीलिए 'सुश्लोक वामनाचा' (केवल वामन ही सुश्लोक की रचना कर सकते हैं) कहा गया है। इनके उपर्युक्त आख्यानों की रचनाओं में जो नाट्यपूर्ण आकर्षण एवं कौशल है उसके आधार पर हम कहते हैं कि वे श्रेष्ठ आख्यानकार कवि थे। उक्त आख्यानपरक काव्य कथोपकथन, रचनासौष्ठव, स्वभाव-परिपोष आदि काव्यगुणों के भंडार हैं।

मधुरा भक्ति की सरस अभिव्यक्ति:—राधाविलास, कात्यायनीव्रत आदि काव्य उत्तान शृंगार से ओतप्रोत हैं। वामन पंडित ने भक्ति के अवगुंठन में शृङ्गार का प्रभावी एवम् सरस वर्णन किया है। जैसे महाकवि सूरदास ने गोपी-कृष्ण के संयोगशृङ्गार का वर्णन करते हुए प्रेमजगत् की अनेक वृत्तियों तथा अनुभूतियों का सरस उद्घाटन किया वैसे वामन पंडित ने उपर्युल्लिखित आख्यानों में और जलक्रीडा आदि काव्यों में किया। यह कहना होगा कि प्राचीन मराठी कविता में मधुरा भक्ति की धारा को पुष्ट करने में वामन पंडित का सबसे अधिक योग रहा।

वामन पंडित ने जिन कथाओं पर उपर्युक्त प्रबंधकाव्यों या कथाओं की रचना की उनसे साधारण लिखे-पढ़े पाठक भली-भाँति परिचित थे। परंतु पंडित का कल्पनाविकास, भाषासौष्ठव और चरित्र-चित्रण में इतना अनुपम कौशल था

कि उनके बल पर आपने रामायण, महाभारत और भागवत की पुरानी कथाओं को दुगुना सरस और आकर्षक बना दिया। इन कथाकाव्यों का पदलालित्य और भाषामाधुर्य केवल आस्वाद्य है वर्ण्य नहीं। कवि की प्रतिभा का विकास देखते ही बनता है।

अनुवादात्मक रचनाएँ :—अनुवादपरक काव्यों में समश्लोकी भगवद्गीता, पंडित जगन्नाथकृत गंगालहरी, भर्तृहरिकृत नीतिशतक, शृङ्गारशतक, वैराग्यशतक, चतुःश्लोकी भागवत और श्री शंकराचार्यकृत अपरोक्षानुभूति प्रमुख हैं। उपर्युक्त काव्यमय भाषांतर या अनुवाद सरस एवं निर्दोष हैं जो कवि की प्रगाढ़ विद्वत्ता एवं प्रतिभा के निर्देशक हैं। गंगालहरी और शतकत्रय का अनुवाद मूल छन्दों में ही कवि ने किया है। जैसे स्वच्छ एवम् निश्चल जल में शरत्पूर्णिमा की रात्रि में चंद्रमा का प्रतिबिंब सुहावना और सुंदर होता है वैसे ही उपर्युक्त सब अनुवाद हैं। कहीं-कहीं उनका अनुवाद मूल श्लोकों से भी अधिक मधुर और सरस है। अनुवाद करना भी एक कला है। वामन ने प्रौढ़ एवम् कलापूर्ण अनुवाद करने का मराठी में श्रीगणेश कर उसका अनूठा उपकार किया। आपके पूर्व किसी कवि ने सरस अनुवाद नहीं किया था। वामन जितने श्रेष्ठ व अभिजात कवि थे उतने ही प्रतिभाशाली अनुवादक कवि थे। उनकी समश्लोकी गीता का अनुकरण कर भविष्य में लगभग नौ श्रेष्ठ कवियों ने अभंग, भक्ति, साखी, पद श्लोक व ओवी इत्यादि भिन्न छंदों में भगवद्गीता के सरस अनुवाद मराठी में किए।

स्फुट रचनाएँ :—इनकी मौलिक स्फुट रचनाओं में करुणाष्टक, मनबोध, वामनबोध, उपदेशमाला, व सिद्धांत विजय प्रमुख हैं। मनबोध पढ़ते समय रामदासजी के मन के श्लोक की स्मृति जग जाती है। करुणाष्टक तो अति रसीला है। उसे पढ़ते समय करुणा के उद्रेक से पाठक अश्रु-सिंचन करने लगता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई रसभीने गीतों की मधुर रचना की।

सचमुच वामन पंडित की प्रतिभा बहुमुखी थी। इन्होंने संस्कृत काव्यों के सरस अनुवाद किये, रामायण, महाभारत, भागवत के आधार पर कथाकाव्यों की सफल रचनाएँ कीं, श्री भगवद्गीता पर यथार्थदीपिका नामक उत्कृष्ट भाष्य-ग्रन्थ लिखा, निगमसार जैसा गूढ़ अध्यात्मपरक ग्रंथ स्वानुभव के आधार पर लिखा और राधाविलास, कात्यायनीव्रत, राधाभुजंग एवम् जलक्रीडा आदि शृङ्गार-

रसयुक्त काव्यों की मधुर सृष्टि की और मराठी का साहित्य खूब समृद्ध किया। इनकी काव्यसृष्टि की अद्वितीय विशिष्टता है कि एक ओर तो इन्होंने अतिगूढ़ और शुष्क दार्शनिक तत्वों का प्रभावकारी उद्घाटन किया तो दूसरी ओर मधुरा भक्ति से ओतप्रोत ललितरम्य काव्य की सुहावनी रचना की। वामन पंडित ने भक्तिकाव्य के कलापक्ष की ओर अधिक ध्यान देकर इसको काव्यगुणों से अधिक शोभायमान किया और पंडित-काव्यधारा को पुष्ट किया।

प्रबंध-काव्य-धारा:—प्राचीन मराठी साहित्य को अपनी प्रबंधकाव्य-धारा पर गर्व है। महानुभाव कवियों ने प्रबंध-काव्य-रचना का श्रीगणेश किया। दामोदर पंडित ने सन् १२७८ में वत्सहरण की रचना की। कवि नरेन्द्र ने सन् १२९२ में रुक्मिणीस्वयंवर की रसभीनी रचना की। कवीश्वर भास्करभट्ट बोरीकर ने सन् १३०६ में शिशुपालवध की सरस और कौशलपूर्ण सृष्टि कर इस धारा को पुष्ट किया। भविष्य में युगप्रवर्तक कवि एकनाथ महाराज ने १५७० के लगभग रुक्मिणी-स्वयंवर नामक अध्यात्मप्रधान प्रबंधकाव्य की अनूठी रचना कर इस धारा को पुनः प्रवाहित किया। आपके नाती महाकवि मुक्तेश्वर ने सन् १६४० के लगभग महाभारत की सर्वांगसुंदर रचना कर प्रबंधकाव्य का उत्कर्ष किया। निःसंशय कवि मुक्तेश्वर प्राचीन मराठी कविता के सर्वश्रेष्ठ एवम् सर्वमान्य कलाकार हैं। एकनाथ की विशेषता आध्यात्मिक रूपकों की योजना है, मुक्तेश्वर की विशिष्टता निवेदन की सरसता और रचना का सौष्ठव है। उपर्युल्लिखित सब प्रबंधकाव्यों में भक्ति की धारा बहती है। श्रोताओं का या पाठकों का मनोरंजन करते हुए उनको भक्ति करने के लिए प्रोत्साहित करना उन काव्यों का प्रधान हेतु था। इस दृष्टि से वे भक्तिरसप्रधान कथा-काव्य हैं। उपर्युक्त प्रबन्धकाव्यों में संस्कृत के पंच महाकाव्यों की कला दृष्टिगोचर नहीं होती। हम कह सकते हैं कि उनमें आर्ष महाकाव्य की प्रौढ़ता कुछ अंशों में दीख पड़ती है। पर इसके पश्चात् मराठी के प्रबंधकाव्यों ने नये आभूषण और वेष धारण कर संस्कृत के पंचमहाकाव्यों का सफल अनुकरण किया। पंडित वामन के समकालीन कवि सामराज और नागेश ने संस्कृत के नैषधादि महाकाव्यों का आदर्श सामने रखकर उनकी जैसी रचना करना प्रारम्भ किया। उनका अनुकरण कवि विट्ठल व आनंदतनय ने किया। रघुनाथ पंडित ने तो नैषध महाकाव्य को मराठी में सरसता से लाया। महाकवि मोरोपंत ने आर्यभारत

का सरस रूपान्तर करके प्रबंधकाव्य-मंदिर का शिखर बनाया। इन कवियों ने कलाविलास को अधिक महत्व देकर शृंगार, वीर, करुणादि रसों से ओतप्रोत सगुण, सालंकार और सर्वथा सुधरे हुए मनोहर प्रबंधकाव्यों का प्रणयन किया। ये कविसाहित्य कलाभिज्ञ थे अतः इनको कलाकवि कहना उचित होगा। ये सब कलाकवि स्वराज्य में रहे। अतः लोकानुरंजन के लिए ही इन्होंने उक्त रचनाएँ कीं।

सामराज (१६१३-१७००):—यह कवि वामन पंडित का समकालीन था। कहते हैं कि इसको श्री शिवाजी तथा उनके पुत्र राजाराम का आश्रय प्राप्त था। इसके दो प्रमुख काव्य हैं। पहला है रुक्मिणीहरण और दूसरा है मुद्‌गलाख्यान। अष्टसर्गात्मक प्रदीर्घ रचना, धीरोदात्त नायक, प्रेमविह्वल नायिका, विप्रलंभ शृंगार, प्रकृति का पोषक वर्णन, विरहावस्था और उसका उपचार, युद्ध का वीररसयुक्त वर्णन और अन्ततोगत्वा नायक-नायिका का मिलन एवम् विवाह इत्यादि संस्कृत महाकाव्यों के लक्षण रुक्मिणीस्वयंवर में स्पष्टता से दृग्गोचर होते हैं। इसकी भाषाशैली संस्कृतप्रचुर और समासबद्ध होती हुई सुगम और प्रसन्न है। कहीं-कहीं सामयिक लोकस्थिति का उल्लेख भी है। रुक्मिणी की माता के रूप में आदर्श प्रपञ्ची स्त्री का चरित्र-चित्रण मिलता है। कहीं-कहीं अध्यात्मबोध और भक्ति का अनूठा मेल दीख पड़ता है। इसके प्रधान रस शृङ्गार और वीर हैं पर भक्ति की शांतधारा बहती है। कवि की व्यवहार-कुशलता एवं तत्त्वज्ञता का अनुभव बार-बार होता है। संक्षेप में यह उत्कृष्ट प्रबन्धकाव्य है। इसके ११४० श्लोक हैं। भाषाशैली प्रौढ़, सम्पन्न और रमणीय है। दूसरा महाकाव्य 'मुद्गलाख्यान' २६१ श्लोक में हैं। मुद्गल कवि का आराध्यदेव था। पर इसमें मुद्गल नामक धनी और दान करनेवाले कल्पित व्यक्ति का चरित्र-चित्रण युधिष्ठर कृत अश्वमेघ यज्ञ के आधार पर किया गया है। कथावस्तु में मौलिकता एवं आकर्षण है। परंतु यह पहले की बराबरी नहीं कर सकता।

नागेश (१६१८-१६९३):—यह वामन और सामराज का समकालीन कवि था। इसका जन्मस्थान अहमदनगर के पास भिंगार नामक देहात था। इसने सीतास्वयंवर, रुक्मिणीस्वयंवर, शारदाविनोद, चंद्रावलीवर्णन इत्यादि पाँच कथाकाव्यों की रचना की। सीतास्वयंवर के ४१५ श्लोक हैं जो अनेकवृत्तात्मक हैं। जान पड़ता है इस कवि ने संस्कृत के पंचमहाकाव्यों का सूक्ष्म अध्ययन किया था क्योंकि उनके प्रसंगोचित उल्लेख और संदर्भ इसकी रचनाओं

में मिलते हैं। कवि निःसंदेह बहुश्रुत था। स्वयंवर के लिये आये राजाओं का सीता की सहेली द्वारा किया गया वर्णन, मंडप में राजाओं की शृङ्गार-चेष्टाएँ, राम को देखने के लिये आई हुई नगर की महिलाओं की घबड़ाहट और उत्सुकता इत्यादि का वर्णन रघुवंश जैसा प्रतीत होता है। स्वयंवर के पश्चात् जुलूस में सम्मिलित हुई चित्रिणी, पद्मिनी, हस्तिनी और शंखिनी स्त्रियों का मार्मिक वर्णन पढ़कर कवि की सूक्ष्म अवलोकन-शक्ति की जानकारी प्राप्त होती है। इस कवि के काव्य में काल-विपर्यास का दोष दीख पड़ता है। स्वयंवर के लिए आमंत्रित राजाओं की सूची में समकालीन चह्वाण मोरे इत्यादि राजाओं का उल्लेख मिलता है जो अक्षम्य दोष है। वैसे ही सीता के अलंकारों में मुसलमानों के अलंकारों के नाम हैं जो सदोष हैं। नागेश ने महाकाव्यों, नाटकों, पुराणों, छंद-शास्त्रों, कामशास्त्रों और साहित्यशास्त्रों का गंभीर अध्ययन किया था। वह 'शारदा-विनोद' काव्य में अपने को 'नानाकाव्यकलापचतुर' कहता है जो बात बिलकुल खरी थी। उसकी वर्णन-शैली वैशिष्ट्यपूर्ण है। वह प्रकृति या प्रसंग के वर्णन की अपेक्षा चरित्र-चित्रण में अधिक निपुण है। सीता और चंद्रावली के रूपवर्णन में शृङ्गारप्रिय कवि इतना मग्न हो जाता है कि वह उनका वर्णन ८० से अधिक श्लोकों में करता है। कहीं-कहीं जैसे कृष्णगोपीविलास के वर्णन में कवि उत्तान एवं अश्लील शृङ्गार का सहारा लेता है जो संस्कृत मन को खटकता है। कवि ने सीतास्वयंवर में अपरिचित सोलह अक्षरवृत्तों का उपयोग किया है। नागेश उत्कृष्ट कलाकवि थे इसमें कोई संदेह नहीं है।

विट्ठल (१६२८-१६९०):—किंवदन्ती के अनुसार यह कवि नागेश जैसा वामन पंडित का शिष्य था। इसका जन्मस्थान बीड नामक देहात था। यह कुलपरंपरा से विट्ठलभक्त था। इसका पूरा नाम विट्ठल अनंत क्षीरसागर है। इसने पांचालीस्तवन, रुक्मिणीस्वयंवर, सीतास्वयंवर, द्रौपदीवस्त्रहरण, रसमंजरी, विद्वज्जीवन और बिल्हणचरित्र आदि काव्यों की सुरस रचना की। सब काव्यों में चमत्कारिक यमक, अनुप्रास व श्लेष दिखाई देते हैं जो इसके वामन पंडित के शिष्य होने का स्पष्ट प्रमाण है। सीतास्वयंवर, रुक्मिणी-स्वयंवर और विद्वज्जीवन सात सर्गों में संस्कृत महाकाव्य जैसे रचे हैं। इनमें कवि का चित्रकाव्य-कौशल तथा छंदशास्त्र-नैपुण्य दृग्गोचर होता है। रसमंजरी और बिल्हण-चरित्र संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हैं। बिल्हण-चरित्र में शृङ्गार

रस की धारा तीव्रता से बहा दी है। राजकन्या शशिलेखा अथवा चंद्रकला और उसका अध्यापक बिल्हण इनकी परस्परानुरक्ति की विविध अवस्थाओं का मार्मिक और रसभीना वर्णन पढ़ते समय पाठक शृङ्गार-विभोर हो जाते हैं। कहीं-कहीं उत्तान शृङ्गार है। सीता-स्वयंवर और रुक्मिणी-स्वयंवर में संस्कृत के अनेक वृत्तों में सरस श्लोकों की रचना है। प्रबंधकाव्यों में इनका समावेश किया जाता है पर अन्य प्रबंधकाव्यों की तुलना में ये फीके हैं।

आनंदतनय :—ये तंजोवर सूबे में अरणी नामक गाँव के निवासी थे। इनके पिता का नाम आनंदराव था अतः ये अपने को काव्य में आनंदतनय कहते थे। इन्होंने दक्षिण भारत में शुद्ध आख्यानपरक रचनाओं का श्रीगणेश किया। इन्होंने लगभग बीस आख्यान काव्यों की सरस रचना की। ये आख्यान काव्य गीत (पद) छंद में हैं। कवि ने प्रधानतया कीर्तनकारों के लिए ही इनकी गीतप्रधान रचना की। इन कथाकाव्यों में सीता-स्वयंवर, राधा-विलास और पूतनावध काव्य कथा की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। पौराणिक कथाओं पर इनके लगभग एक हजार गीत (पद) उपलब्ध हैं। इनकी रचना कीर्तनकारों के लिए कामधेनु जैसी है। गीत (पद) वृत्तबद्ध, श्रुति-मनोहर और भक्तिरस से परिपूर्ण हैं। उनमें यमक, श्लेष और अनुप्रासादि शब्दालंकारों की प्रचुरता है। कवि विट्ठल और नागेश की रचना की तुलना में इनके गीत (पद) अधिक सरस और नादमधुर हैं। इनकी रचना प्रपंच से ऊबे हुए त्रस्त मन को आह्लाद देनेवाली प्रसन्न व प्रासादिक है। गीतकारों में इनका विशिष्ट स्थान है। गीतमय प्रबंधकाव्यों की रचना करने की प्रथा इन्होंने प्रचलित की।

रघुनाथ पंडित :—ये कवि आनंदतनय के समधी थे। इनका निवास तंजोवर में था। इनके जीवनकाल के संबन्ध में विवाद है पर हम कह सकते हैं कि आनंदतनय के समकालीन होने से इनका जीवनकाल अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होगा। इनकी काव्यसृष्टि अन्य कवियों की अपेक्षा अत्यन्त अल्प है परन्तु 'नल-दमयन्ती-स्वयंवर' इनकी ऐसी उच्चकोटि की रचना है, जिसने इन्हें मराठी साहित्य में अमर कर दिया। 'एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च' न्याय इन पर ठीक तरह से घटता है। काव्यकला की दृष्टि से प्रबन्धकवियों में रघुनाथ पंडित निःसंदेह सर्वश्रेष्ठ हैं। 'नल-दमयंती-स्वयंवर' का अध्ययन करने से सुबुद्ध पाठक कवि की व्युत्पन्नता, रसिकता, व्यवहारज्ञता, सुसंस्कृतता और राजदरबार

की सूक्ष्म जानकारी से भली भाँति प्रभावित होता है। इसीलिए विद्वानों में विवाद चल रहा है कि रघुनाथ पंडित श्रीशिवाजी महाराज अथवा अन्य महाराज के दरबार में ऊँचे पदाधिकारी रहे होंगे। आपने गजेन्द्रमोक्ष और रामदासवर्णन नामक अन्य दो लघु काव्य-कृतियों की रचना की पर ये प्रथम कृति की तुलना में निकृष्ट हैं। 'रामदास-वर्णन' के आधार पर हम कह सकते हैं कि कवि श्री रामदासजी का भक्त था। प्रबंधकाव्य का शिरमौर 'नल-दमयंती-स्वयंवर' का हम कुछ रसास्वाद लें।

नल-दमयंती स्वयंवर:—संस्कृत भाषा में लिखे महाकवि हर्ष के नैषध काव्य के आधार पर रघुनाथ पंडित ने उक्त प्रबन्धकाव्य की रचना की। नैषध काव्य पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में बटा है। पूर्वार्ध के १६ सर्गों में स्वयंवर तक का वृत्तान्त है। उत्तरार्द्ध के शेष छः सर्गों में नल की उत्तरायु का शोकपूर्ण वर्णन है। रघुनाथ पंडित ने केवल पूर्वार्द्ध के आधार पर अपने प्रबंधकाव्य की सरस रचना की। नैषधकाव्य के पूर्वार्ध में १७५० श्लोक हैं परन्तु रघुनाथ पंडित ने इनका २१८ श्लोकों में कौशलयुक्त संक्षेप करके कथावस्तु की आकर्षकता दुगुनी की। मूल कथावस्तु के सौंदर्य को द्विगुणित करके संक्षेप करना अति कठिन और श्रमसाध्य काम है। सचमुच रघुनाथ पंडित अलौकिक काव्य-शिल्पी थे। मूल कथावस्तु का विस्तार या आकार अठगुना छोटा करके उसकी आकृति का सौंदर्य दुगुना करना साधारण शिल्पकार का नाम नहीं है। इससे उक्त कवि की संक्षेप करने की चतुराई, मार्मिकता और औचित्यबुद्धि का परिचय प्राप्त होता है। बस, इस कवि का ऋण कथावस्तु तक ही सीमित है। चरित्र-चित्रण की मौलिकता और भाषाशैली के सौष्ठव में कवि की स्वतंत्र प्रतिभा की चमक दीख पड़ती है। प्रेमकाव्य होते हुए भी इसमें कहीं भी कवि ने शृंगार रस में अश्लीलता का प्रवेश नहीं होने दिया। प्रियतम और प्रेयसी की प्रेम-चेष्टाओं को भारतीय सभ्यता की मर्यादाओं का कहीं अतिक्रमण नहीं करने दिया। नायिका दमयंती राजा नल के रूप-सौंदर्य पर मोहित नहीं होती प्रत्युत उसका शुद्ध शील और उसकी पावन धवल कीर्ति सुनते ही उसकी धर्मपत्नी होने का निश्चय करती है। इस काव्य की नायिका दमयंती भारतीय सभ्यता, चारित्र्य और महिलासुलभ शालीनता का आदर्श प्रस्तुत करती है। नल और दमयंती नायक-नायिका के स्वभाव-दर्शन की बराबरी के दूत हंस पक्षी का चरित्र-चित्रण आकर्षक, स्वाभाविक और मार्मिक है। हंस के चरित्र-चित्रण में इस कवि ने

महाकवि हर्ष पर भी विजय प्राप्त की। कवि ने अपनी प्रतिभा-निर्मित मुग्ध शृङ्गार की योजना कर दमयंती के स्वभाव-दर्शन को ऊँचा उठाया। इसी प्रकार राजा नल के स्वभाव-दर्शन में मौलिक परिवर्तन करके उसको उदात्त, महान् और भारतीय संस्कृति की दृष्टि से आदर्श नायक चित्रित किया। राजा नल और दमयंती के संवाद में अभिजात कवित्व का आस्वाद प्राप्त होता है। भाषा संस्कृत-प्रचुर और अलंकारों से युक्त है। शब्दालंकार के साथ अर्थालंकार काव्य की ध्वनि और रस पुष्ट करते हैं। कहीं-कहीं यमकों की रचना में कवि की अत्यधिक रुचि प्रतीत होती है। उपमा, रूपक, दृष्टान्त, व्यतिरेक, श्लेष, भ्रान्तिमान् और स्वभावोक्ति अलंकारों की जहाँ-तहाँ उचित योजना होने से पाठक आनंदविभोर हो जाता है। कवि को शृङ्गार और करुण रस के निर्वाह में आशातीत सफलता मिली है। रचनाशैली वर्णन के परे है। कवि ने संस्कृत के गणवृत्तों के साथ मराठी के मात्रावृत्तों का भी बड़ी कुशलता से प्रयोग किया है। पदलालित्य और नादमाधुर्य काव्य को अति श्रुतिमधुर बनाता है। कहीं-कहीं कृत्रिमता खटकती है। ऐसा लगता है कि कवि ने एक-एक शब्द बड़े परिश्रम से ढूँढकर रखा है। कहीं-कहीं काव्य में दुर्बोधता का अनुभव होता है। पर ऐसे स्थल नगण्य हैं और काव्य प्रासादिक है। रसपरिपोष और अलंकार-वैभव दोनों दृष्टियों से यह प्रबन्ध काव्य श्रेष्ठतम है।

इसके अतिरिक्त कवि ने गजेन्द्रमोक्ष नामक कथाकाव्य की रचना की। कहते हैं कि इसकी रचना कवि ने वृद्धावस्था में की अतः इस काव्य में भक्ति-रस का अच्छा निर्वाह है। इसमें शब्दालंकारों की योजना में कवि की अत्यधिक रुचि व्यक्त हुई है। यह काव्य साधारण है। श्रीरामदास-वर्णन इनका तीसरा स्फुट काव्य है। यह भी साधारण है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पाण्डित्यपूर्ण काव्य-धारा अधिक विस्तृत होकर तीव्रता से प्रवाहित होती रही।

कवि निरंजन माधव (१७०३–१७९०):—इन्होंने वृत्तावतंस, वृत्त-मुक्तावली और वृत्तवनमाला नामक तीन छंदशास्त्रविषयक ग्रन्थों का प्रणयन करके संस्कृत तथा मराठी छन्दों के लक्षणों की जानकारी करा दी। यह इनकी मराठी साहित्य को अनूठी देन है। इसी प्रकार व्युत्पन्नमति निरंजन माधव ने संस्कृत की शैली का सप्तसर्गात्मक और गद्य-पद्य-मिश्रित सुभद्राचंपू की सृष्टि कर प्राचीन मराठी साहित्य का अलौकिक उपकार किया। प्रकाण्ड पण्डित के सिवा

उपर्युक्त ग्रन्थों की निर्मिति कौन कर सकता था। सचमुच निरंजन माधव की काव्य-प्रतिभा बहुमुखी थी। आपने छंदःशास्त्र, चंपू, ज्ञानेश्वरविजय और निरोष्ठ्य-राघव नामक दो चरित्र चिद्बोध रामायण जैसी अध्यात्मरामायण की टीका, वेदान्त, स्तोत्र-कलाप और प्रवास-वर्णन इत्यादि नानाविध रचनाएँ करके अपनी प्रतिभा की चमक दिखाई। निरोष्ठ्यराघवचरित्र की यह विशिष्टता है कि उसमें पवर्ग के अक्षर कतई उपयोग में नहीं लाए गए। कहीं भी प फ ब भ म अक्षर देखने में नहीं आते। निरोष्ठ्य राघव चरित्र की रचना करने में कवि को कितना परिश्रम उठाना पड़ा होगा हम कल्पना नहीं कर सकते। इसके शब्द-चयन में कितनी बारीकी का निर्वाह करना पड़ा होगा, जानना कठिन है। बांझ प्रसव-वेदनाओं की क्या कल्पना कर सकती है? इसके अतिरिक्त इस कवि ने 'रामकर्णामृत' नामक १११ स्तोत्रों का ग्रंथ रचा जिसमें 'श्री राम जय राम जय जय राम' मंत्र पंक्तियों के आद्यक्षरों से सधता है। कवि की परिश्रमनिष्ठा की कल्पना करना कठिन है। स्तोत्रों में भक्तिभाव है पर कवि का अधिक जोर रचना की चमत्कृति पर है, जो पंडिताई का स्वाभाविक प्रभाव है। निरोष्ठ्य राघवचरित्र और रामकर्णामृत चित्र-काव्य के उत्कृष्ट आदर्श हैं। इस कवि की पूरी जीवनी राजनीति में बीती पर उसका प्रतिबिम्ब इसकी काव्यसृष्टि में कहीं देखने में नहीं आता। इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में साहित्य लोकजीवन से विमुख हो गया था। साहित्य लोकानुरंजन या आत्मसंतोष के लिए ही रचा जाने लगा था। अपवाद के रूप में प्रवासवर्णन में कहीं-कहीं कवि तत्कालीन देवताओं के अलंकारों का, ऊँचे वस्त्रों का, स्वादिष्ट पक्वान्नयुक्त नैवेद्यों का उल्लेख करता है जिससे जान पड़ता है कि मन्दिर वैभवशाली थे और धार्मिक विधि में धन को प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई थी। निःसंशय पंडित कवियों में निरंजन माधव अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

महाकवि मोरोपंत पराड़कर (१७२९-१७९४) :—ये पंडित-काव्य-धारा के अंतिम कवि हैं। आपकी काव्य-प्रतिभा जैसी बहुमुखी थी वैसी ही बहुप्रसवा थी अतः काव्यविस्तार की दृष्टि से प्राचीन मराठी साहित्य में आप अद्वितीय कवि हैं। आपकी साठ हजार से अधिक आर्याएँ अभी उपलब्ध हैं और ग्रंथों के रूप में प्रकाशित हैं। अनुपलब्ध और पांडुलिपियों के रूप में अप्रकाशित तो कितनी हैं, कह नहीं सकते। सचमुच आपकी कविता सागर जैसी विशाल और बहुरत्नों से भरी हुई है। मोरोपंत उद्भट विद्वान्, कलाभिज्ञ,

प्रभावशाली प्रवचनकार और खरे भगवद्भक्त थे। इन स्वाभाविक भावनाओं के अनुसार आपने विविध, विपुल और विदग्ध (कलापूर्ण) काव्य-सृष्टि की। आप में दैवी प्रतिभा और मानवी प्रयत्न का अनूठा स्वर्ण-संगम था। आपकी पूरी जीवनी सरस्वती की उपासना में बीती। सचमुच आप विद्यादेवी के अनन्य उपासक थे। अतः पहले हम आपकी जीवनी पर सरसरी दृष्टि डालेंगे।

संक्षिप्त जीवनी:—मोरोपन्त का जन्म पन्हालगढ़ में १७२९ में हुआ। आपके पिता का नाम रामजीपंत था। श्रीमती लक्ष्मीबाई आपकी माता थीं। रामजीपंत पन्हालगढ़ पर एक साधारण कर्मचारी थे। कुछ वर्ष पहले रामजीपंत पराड़कर अपने विद्वान् मित्र श्री केशव पाध्ये के साथ जीवन-यापन के लिए कोंकण प्रान्त से आए थे। उनको चंद वर्षों में पन्हालगढ़ छोड़ना पड़ा अतः वे बारामती के सुप्रसिद्ध एवम् धनी नाईक कुल के आश्रय में वहां रहने लगे। परन्तु उन्होंने होनहार बुद्धिमान पुत्र मोरोपंत को विद्वान् मित्र श्री केशव पाध्ये के पास शिक्षा पाने के लिए रख दिया। यह बालक एकपाठी था। ज्यों-ज्यों गुरु पाध्ये पढ़ाते गए त्यों-त्यों वह ग्रहण करता गया और उसकी बुद्धि संपन्न एवम् तीव्र बनती गई। बाईस वर्ष की अवस्था में युवक मोरोपंत ने साहित्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र व पुराणादि का अध्ययन सफलता से पूरा किया। गुरु शिष्य की बौद्धिक प्रगति पर संतुष्ट हो गए और उन्होंने उसे हार्दिक आशीर्वाद देकर पिता के पास भेज दिया। उनकी बुद्धिमानी से आकर्षित होकर श्रीमान् बाबूजी नाईक ने उनको अपने कुल में पुराण का प्रवचनकार नियुक्त कर लिया। मोरोपन्त की मधुर वाणी और कथन की शैली से श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो जाते थे। निश्चिंतता से खूब पढ़ना और दो-ढाई घंटों तक अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करना उनका आजन्म व्यवसाय रहा। उनके श्रोता भी ऊँचे वर्ण के और पढ़े-लिखे रहते थे अतः वे प्रवचन करने में मग्न हो जाते थे। इस प्रकांड विद्वान् ने अपनी आयु के लगभग चवालीस वर्ष इस प्रकार के सुखी और निश्चिंत व्यवसाय में बिताए। सन् १७९३ में उन्होंने काशीयात्रा की। काशी यात्रा से लौटने के एक वर्ष पश्चात् उन्होंने स्वर्गारोहण किया।

कविवर मोरोपंत शांत वृत्ति के, धर्मनिष्ठ, कुटुंबी, कर्तव्यदक्ष और कर्मठ विद्वान् प्रवचनकार थे। उन्होंने प्राप्त सुखी व्यवसाय से अधिक से अधिक लाभ उठाकर काव्योदधि की सृष्टि की। उन्होंने चवालीस वर्ष में सत्तर हजार से अधिक

कविताओं की रचना कर साहित्य-जगत् में अनूठा कार्य किया। वे प्रतिदिन कुछ न कुछ रचना किए बिना सोते नहीं थे। उनकी कविता गंभीर और भक्तिरसयुक्त है। सामयिक राजनीतिक अथवा सामाजिक परिस्थिति के उल्लेख से उनकी विशाल काव्य-सृष्टि पूर्णतया रहित है। कविवर्य मोरोपंत का सामयिक सामाजिक या राजनीतिक आंदोलनों से कत्तई संपर्क नहीं था। वे तो सरस्वती के अनन्य उपासक थे। उनकी काव्य-रचना का हेतु स्पष्ट और निश्चित था। व्यक्तिगत उद्धार के लिए भगवच्चरित्रों का गान करना उनका नम्र ध्येय था। ('वाटे चरित्र त्यांचें काही आपण तरावया गावें'। आदिपर्व)। इसके साथ अन्य कुटुम्बियों को देव-देवताओं की कथा सुनाकर उनका सात्विक मनोरंजन करते हुए रामायण, महाभारत, भागवतादि ग्रन्थों को मराठी में लाना उनका विनम्र हेतु था। मोरोपंत व्यवसाय से प्रवचनकार थे अतः श्रोताओं को कैसे आकर्षित करना चाहिए, वे भली-भाँति जानते थे। इसलिए रसिक श्रोता एवम् पाठकों के लिए उन्होंने सुरस और चमत्कृतिपूर्ण विविध और विपुल रचना की। वे मार्मिक साहित्यशास्त्रज्ञ थे अतः अपनी रचना में उन्होंने काव्यकला का रमणीक आविष्कार किया। इसके अतिरिक्त वे उद्भट विद्वान थे। अतः उनकी काव्य-रचना में भिन्न-भिन्न पाठकों को अलग-अलग रुचि और आनंद प्राप्त होता है। उन्होंने दीर्घ और सुखी आयुष्य-में प्रदीर्घ काव्य-रचना की, परंतु यह स्पष्टतया मानना होगा कि उनकी विपुल और विस्तृत रचना साधारण जनता के आदर को कभी प्राप्त न कर सकी। विद्वान कवि मोरोपंत शिक्षित उच्चवर्णियों के ही आदर के भाजन हो सके। उपर्युक्त भूमिका को ध्यान में रखकर ही हम उनकी काव्य-सृष्टि का यथार्थ मूल्यांकन, समीक्षण और अध्ययन कर सकते हैं, क्योंकि कवि ने स्वयम् लिखा है 'गीर्वाणशब्द पुष्कल जनपद भाषाचि देखता थोडी' (मेरी रचना में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है और देशी (मराठी) शब्द बहुत थोड़े हैं) ऐसी संस्कृतप्रचुर मराठी साधारण पाठक या जनता कैसे समझ सकती थी? एवम् कविवर्य मोरोपंत की काव्य-सृष्टि विस्तीर्ण होते हुए भी संकीर्ण है किन्तु सालंकृत, सरस, सामर्थ्य-शालिनी और शांतिदायिनी है।

काव्य-रचना :—महाकवि का उपलब्ध और प्रकाशित काव्य-संग्रह ६०००० कविताओं का है और कहते हैं कि लगभग १५००० कविताएँ अभी अनुपलब्ध एवं अप्रकाशित हैं मोटे तौर पर उनकी काव्य-सृष्टि इस प्रकार विभाजित

की जाती है—महाभारतविषयक २५००० कविताएँ, रामायणविषयक १६००० कविताएँ, भागवतविषयक लगभग ९५०० और स्फुट काव्यरचना १०००० से अधिक। आपकी रचना निम्नलिखित चार खंडों में विभाजित की जाती है।

पहला खंड (१७५२ से १७६१):—इन दस वर्षों में कुशलवाख्यान, प्रह्लाद विजय, मदालसाचरित्र, हरिश्चन्द्राख्यान, श्रीकृष्णविजय (पूर्वार्ध), देवीमाहात्म्य, सप्तशती, विनायकमाहात्म्य और साररामायण इत्यादि की रचना उत्साही युवक मोरोपंत ने की। उपर्युक्त प्रारंभिक रचनाओं में कवि ने संस्कृत के महाकाव्यों की वर्णनशैली का सफल अनुकरण किया। इनमें कवि का पांडित्य-प्रदर्शन करने का उत्साह एवं उतावलापन और चमत्कृतियुक्त रचना करने की प्रबल लालसा दृग्गोचर होती है। सब आख्यानकाव्य सुलभ, सुरस और कलापूर्ण हैं। कहीं-कहीं अनुवाद करने में कृत्रिमता और दुर्बोधता देखने में आती है। कृष्णविजय कथाकाव्य सहृदयता, प्रतिभा की चमक और भावुकता से ओतप्रोत है। उक्त काव्यों में वीर, भयानक, रौद्र इत्यादि रसों के निर्वाह के लिए ओजोगुणयुक्त प्रदीर्घ समासों की योजना कवि ने की जिससे कवि का शब्दप्रभुत्व और भाषावैभव स्पष्ट होता है। मोरोपन्त कथोपकथन और चरित्रचित्रण में विशेष निपुण थे। अभी वे नवोदित कवि थे पर थे होनहार। अतः उक्त निपुणता की पहली झलक उपर्युक्त कथाकाव्यों में दीख पड़ती है। उक्त रचना प्रायः गीति और आर्यागीति छंदों में है।

दूसरा कालखंड (१७६२ से १७७१):—इन दस वर्षों में सुदामचरित्र, श्रीकृष्णविजय (उत्तरार्ध), भक्तभूषण, सीतागीत, सावित्रीगीत रुक्मिणीगीत, भृगुचरित्र, मंत्ररामायण, आर्यामुक्तमाला, संशयरत्नावली, आर्याकेकावली, नामरसायन, प्रश्नोत्तरमाला, भीष्मभक्तिभाग्य, नारदाभ्युदय, अवतारमाला इत्यादि हैं। इस दशक में मोरोपंत की काव्यप्रतिभा पल्लवित और पुष्पित हुई। इस कालखंड में कवि ने प्रमुखता से संस्कृत गणवृत्तों के आधार पर श्लोकों की मधुर और रसीली रचना की और अपने अति प्रिय आर्यावृत्त का श्रीगणेश किया। कवि ने लगभग ६७ वृत्तों का उपयोग किया और कथाकाव्यों को अधिक कलापूर्ण एवं निर्दोष बनाया। तीसरी विशेषता यह है कि कवि ने अपने आराध्य देव राम के चरित्रगायन का श्री गणेश किया।

तीसरा कालखंड (१७७१ से १७८१):—इस कालखंड में मोरोपंत ने अपने सर्वोत्कृष्ट प्रबन्धकाव्य, महाभारत की उत्कृष्ट रचना की। इसके अतिरिक्त अमृतमंथन, वामनचरित और मंत्रभागवत (एकादश स्कंध) पर भी कवि ने सरस रचनाएँ की। महाकवि मोरोपंत ने अपने अतिप्रिय आर्यावृत्त में समग्र महाभारत की रचना करके अपनी काव्य प्रतिभा से सबको आश्चर्य और आनंद-विभोर कर दिया। अब कवि की प्रतिभा फूली और फली थी। मँजे हुए कवि की अनूठी रचनाशक्ति महाभारत में स्थल-स्थल पर सहज में दृग्गोचर होती है। क्या कथोपकथन, क्या चरित्र-चित्रण, क्या कथा-निवेदन-कौशल, क्या वीर, रौद्र, भयानक, शृङ्गार, हास्य, शांत इत्यादि रसों का निर्वाह, क्या भाषाशैली की चमक-दमक, क्या विद्वत्ता का प्रदर्शन और रचना की सहजता, क्या प्रासादिकता और आह्लादक्षमता, सबका स्वर्णसमन्वय महाकवि के आर्याभारत में हुआ है। आर्याभारत अनूदित होते हुए भी उपर्युक्त काव्यगुणों से सम्पन्न है अतः आलोचक उसे मौलिक प्रबन्धकाव्य ही मानते हैं। स्वभावदर्शन अधिक प्रभावकारी करने के हेतु मोरोपंत ने कहीं-कहीं मूलकाव्य का कलापूर्ण संक्षेप किया तो कहीं-कहीं विस्तार किया और महाभारत को अधिक आकर्षक बनाया। महाभारत का स्वच्छंद अनुवाद होते हुए भी उक्त रचना ने मोरोपंत को महाकवि बनाया। उनकी यह रचना सर्वांगसुंदर है। रसोत्पत्ति और काव्यालंकारों की दृष्टि से उक्त काव्य वर्णन के परे है। वह जितना विशाल (१७००० आर्याओं का) है उतना ही भगवत्प्रेम से ओतप्रोत है। पांडवों की कथा अधिकतर वीररसयुक्त है किन्तु वीररस की हानि न करते हुए भी मोरोपंत ने उसे भक्तिरस का पुट देकर अधिक हृद्य और दिव्य बनाया। यहाँ वीर और भक्ति रसों का अत्यन्त दुर्लभ मणिकांचन योग है। आर्याभारत की सर्वांग सुंदरता का वर्णन करते नहीं बनता। वह शर्करा जैसा अंतर्बाह्य मधुर है। यह महाकवि की परिणत प्रज्ञा और प्रतिभा का पक्व फल है।

कालखण्ड (१७८२–१७९४):—इन पंद्रह वर्षों में कवि ने मंत्रभागवत, हरिवंश, १०८ रामायण, देवों के स्फुट स्तोत्र, काशीयात्राविषयक काशीरामायण, गंगारामायण, गंगास्तुति, गंगावकिली इत्यादि फुटकर काव्य, संतस्तवनपरकस्फुट प्रकरण और श्लोककेकावली की रसभीनी रचनाएँ कीं। संपूर्ण भागवत पर मराठी में ग्रंथरचना करनेवाले मोरोपन्त आद्य कवि हैं। मंत्र-

भागवत में कवि ने ३३२ नाममंत्रों की साधना की। कवि की विशेषता यह है कि भागवत के वेदान्तपूर्ण एकादश स्कंध को भी उसने रसभीना बनाया। मंत्र-भागवत में 'नमो भगवते वासुदेवाय' मंत्र की साधना की। मंत्रों की साधना की का अर्थ है मंत्र के अक्षर पंक्तियों के आरम्भ में लाये गये हैं, जिससे कवि की काव्य-शिल्पज्ञता एवं परिश्रमनिष्ठा का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। कहीं-कहीं कृत्रिमता दृग्गोचर होती है और ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि यहां कवि रचना की चमत्कृति और विचित्रता पर अधिक जोर देता है। अपने रचना-कौशल का यथेच्छ दर्शनसुख लेने की तीव्र इच्छा से मोरोपंत ने १०८ रामायणों की चमत्कृतिपूर्ण रचना की। इनमें से ९० रामायण उपलब्ध हैं। इनमें मंत्र-रामायण प्रथम है। इसमें 'श्री राम जय राम जय जय राम' मंत्र की साधना है। प्रत्येक कांड की पहली आर्या इसी मंत्र से आरंभ होती है। इसी प्रकार इस कथा-काव्य में 'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे' मंत्रों के अक्षर आरम्भ में लाये गये हैं। अन्य रामायणों में निरोष्ठ्य रामायण एक विशेषता रखती है। इसमें ओष्ठ्य वर्ग के (प फ ब भ म) अक्षरों का कतई उपयोग नहीं किया गया है। मंत्रगर्भरामायण, सप्तमंत्ररामायण और बालमंत्ररामायण भिन्न वृत्तों में उदाहरणार्थ साकी, शार्दूलविक्रीडित, अनुष्टुप्, तथा आर्या, गीतिमें रचे हैं। इनमें कवि ने छंद-वैचित्र्य का प्रदर्शन किया। नामांक-रामायण में प्रत्येक प्रथम पंक्ति के आरंभ में रा और द्वितीय चरण में म है। परंतु रामायण में 'परंतु' शब्द की चमत्कृतिपूर्ण बार-बार योजना की गई है जो पढ़ते ही बनती है। इसके अतिरिक्त कवि ने लगभग ग्यारह रामायण-सीता, हनुमान, गुरु, उमा, गंगा, काशी, प्रयाग आदि के नाम पर लिखी हैं। इनको सीतारामायण, हनुमान-रामायण, गुरुरामायण कहते हैं। इसी तरह ऋषि, राजा और सन्नामगर्भ के नाम से तीन रामायणों की चमत्कृतिपूर्ण रचना की है जिनमें संतों के नामों की साधना है। विष्णुसहस्रनामरामायण दस रामायणों का समूह है। प्रत्येक रामायण में सौ नामों का उल्लेख कर रामकथा का भक्तिपूर्ण गान किया गया है। इनके अलावा मात्रारामायण, धन्यरामायण, हुँरामायण, दिव्यरामायण, लघुरामायण व सौम्यरामायणों की रचनाएँ विचित्र एवं चमत्कारिक ढंग से की गई हैं। एवम् कवि ने शब्दचमत्कार और वर्णचमत्कार प्रदर्शित करने का अपना उद्देश्य बड़े परिश्रम से सफल किया। शायद ही संसार के साहित्यिक इतिहास

में किसी अन्य कवि ने अपने कविचातुर्य का प्रदर्शन इतनी चमत्कृतिपूर्ण शैली में किया हो। पर हमें स्पष्ट कहना पड़ता है कि ऊपर्युल्लिखित १०८ रामायण चित्र-काव्य के उदाहरण हैं न कि ध्वनिकाव्य के। उनमें प्रतिभा की अपेक्षा परिश्रम ही अधिक देखने में आता है। उनमें रसों के निर्वाह की अपेक्षा शब्द-रचना की शिल्पकारिता एवम् कारीगरी ही दृग्गोचर होती है। इनमें परिश्रम-युक्त कौशल अवश्य है परंतु काव्य तो प्रतिभा का स्फूर्त उद्गार होता है। अतः कई समीक्षक इसको कालापव्यय और कविप्रतिभा का दुरुपयोग मानते हैं। विशिष्ट अक्षर, छंद, शब्द और मंत्र के बंधन रखते हुए काव्य की रचना करना भाषा-प्रभुत्व का लक्षण हो सकता है और साधारण पाठक इससे स्तंभित भी होते हैं परंतु अभिजात रसिक शब्दचमत्कार के इस जाल में नहीं फँसते। बंधनों में काव्य-प्रतिभा का स्वच्छंद विहार नहीं हो सकता। बंधनों में काव्य-कल्पना बँध जाती है। बंधनों से कृत्रिमत्ता उत्पन्न होती है और बढ़ती है। जहाँ इतनी कृत्रिमता रहती है वहाँ भावनाओं की सहज उत्पत्ति रुक जाती है और जहाँ कविभावना प्रबल नहीं रहती वहाँ रसोत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः १०८ भिन्न-भिन्न प्रकार के रामायण लिखने का जो भूत मोरोपंत की प्रखर काव्य-प्रतिभा पर सवार हो गया था उसने उनका उक्त काव्य नीरस और कृत्रिम बना दिया। सचमुच यह पांडित्य का भड़कीला प्रदर्शन एवं काव्य-प्रतिभा का अपव्यय था। जिस महाकवि ने उत्कृष्ट ध्वनिकाव्यों की सृष्टि की उसका चित्रकाव्यों की निर्मिति में रुचि लेना कुछ असंगत-सा प्रतीत होता है। समाधान की बात यह हो सकती है कि चाहे कविचतुराई का प्रदर्शन भले ही हो पर कवि ने अपने आराध्य देव 'श्रीराम' को शब्दसुमनों के चित्र-विचित्र हार समर्पित कर अपनी काव्य-शक्ति का कुछ सदुपयोग ही किया।

आर्याभारत, मंत्रभागवत व संशयरत्नावली के अतिरिक्त मयूरपन्त का मौलिक और रसभीना काव्य है केकावली, जो उन्हें प्रथम श्रेणी के कवियों में सम्मान का पद देने के लिए समर्थ है। केकावली का अर्थ है मोर का लगातार चिल्लाना। जैसे मोर मेघ के दर्शन के लिए बेचैन होकर आर्तता से चिल्लाता है वैसे कवि मयूरपन्त भगवद्दर्शन के लिए तड़पते हुए आर्त हृदय से प्रार्थना करते हैं। केकावली में आर्तहृदय के स्वाभाविक उद्गार या यों कहिये उद्रेक हैं। आंग्ल कवि वर्ड्सवर्थ की व्याख्या 'काव्य प्रबल भावनाओं का एकाएक उद्रेक है' केकावली पर

ठीक तरह से घटती हैं। इसीलिए वह आदर्श रसभीना काव्य है। इसके १२३ श्लोक हैं। सब श्लोक संस्कृत के गणवृत्तों के अनुसार रचित हैं। यह महाकवि मोरोपंत की प्रायः अन्तिम रचना है। कवि की जर्जर वृद्धावस्था के चिह्न इसमें स्पष्टता से दिखाई देते हैं। कवि प्रारम्भ में कहते हैं—'कृतान्तकटकामलध्वजजरा-दिसो लागली' (मृत्यु का ध्वज मुझे दिखाई दे रहा है अतः हे भगवन् ! तू मुझे दर्शन दे)। केकावली में कवि ने अपना पातित्य स्वीकार कर भगवान के पतित पावनत्व का सहारा लिया और मछली जैसी व्याकुलता से उसे एक बार दर्शन देने के लिए पुकारा। एवं आसन्नमृत्युमनःस्थिति की श्रद्धा से केकावली काव्य भरा हुआ है। उसकी प्रत्येक पंक्ति सहृदय पाठक के मन को आर्द्र कर देती है। प्रत्येक श्लोक भक्तिरस का घूँट है। केकावलीकाव्य भक्ति एवं करुणरस का कुंभ है जो केवल आस्वाद्य है, वर्ण्य नहीं। इसमें काव्य-प्रतिभा एवं भक्ति के अवगुंठन में पांडित्य अधिक सुहावना बना है। इसकी शब्दरचना का नादमाधुर्य अनूठा है। यह उपासनाकाव्य का उत्कृष्ट आदर्श है। जैसे आम्रवृक्ष की चोटी का फल रसीला और मधुरतम होता है वैसे मयूरपंत की यह अंतिम रचना सर्वोत्कृष्ट है। केकावली के संबंध में 'मराठी वाङ्मय का इतिहास' के लेखक कै० ल० रा० पांगारकर कहते हैं कि केकावली पढ़ते ही मयूरपंत के काव्यगुणों के विषय में जो कुछ संदेह हो उनका तत्काल निराकरण हो जाता है। केकावली ध्वनिकाव्य का आदर्श उदाहरण है। यह परिणतप्रज्ञ की वाणी है जिसमें प्रेम (भक्ति), प्रतिभा और प्रसाद परिपूर्णतया भरा है। मयूरपंत का काव्य प्रधानता से भक्ति रस से ओतप्रोत है। आर्याभारत में वीर, शृङ्गार, हास्य, भयानक इत्यादि रसों का सफल निर्वाह है पर वहाँ भी भक्तिरस की ही सरस्वती बहती है।

यह मानी हुई बात है कि मयूरपंत का छंदोरचना पर विशेष अधिकार था। आपने अनेक संस्कृत (गणवृत्त), मराठी और हिंदी छंदों का प्रयोग सफलता से किया। आर्या छंद को मराठी में अत्यन्त लोकप्रिय बनाने का श्रेय आपको ही है। प्राचीन मराठी साहित्य में ओवी छंद को संत ज्ञानेश्वर ने लोकप्रिय बनाया, अभंग को संत तुकाराम ने अति लोकप्रिय बनाया, लोगों को श्लोक का चाव वामन पण्डित ने लगाया और आर्या की लोकप्रियता कवि मयूर पंत ने प्रस्थापित की। इससे मयूर पन्त का छंदोरचना पर विशिष्ट अधिकार सिद्ध होता है। उनका आर्याछंद पर अद्भुत और अनुपम अधिकार था। इनकी आर्या सुडौल और

गठी हुई है। इसकी चुस्ती और नादमधुरता वर्णन के परे है। यमकानुप्रास की कौशल्युक्त रचना से उसका नाद कान में गूँजता है और ध्वनि (व्यंजना) सहृदयों को आह्लाद देती है। शब्दावली अर्थगर्भित होने के कारण प्रत्येक आर्या उर्दू-फारसी के शेर जैसी आकर्षक और प्रभावकारी है। निःसंदेह उनका उपमा-चातुर्य अवर्णनीय है। सुप्रसिद्ध हिंदी कवि नंददास के लिए जो लोकोक्ति है वह मयूरपंत के संबंध में भी सार्थक है—

और कवि गढ़िया तो नंददास जड़िया।

इसी तरह कवि विठोबा अण्णा दफ्तरदार ने मोरोपंत की प्रशंसा करते समय कहा—

आर्याछंदे जोडुनि रामायण भारतादि आयकवी।
नायकवीर कवींचा ऐसा होईल अन्य काय कवी॥

अर्थात् आर्याछंद में रामायण और भारत की सरस एवं विस्तृत रचना करनेवाले कवि मोरोपंत सब पंडित कवियों में प्रमुख हैं। उनकी टक्कर का अन्य कवि उत्पन्न होना असंभव है।

संस्कृत-प्राकृत-मिश्रित भाषा का प्रयोग करके उन्होंने जो अपूर्व साहित्य-सागर-निर्माण किया उससे मराठी का प्राचीन साहित्य खूब समृद्ध हुआ। कहीं-कहीं उनकी दीर्घ समासयुक्त प्रौढ रचना दुर्बोध बनी परंतु व्याकरण की दृष्टि से उनकी भाषा शुद्ध, परिष्कृत और बेजोड़ है। मराठी का लचीलापन और उसका अलंकार-वैभव प्रदर्शित करके उन्होंने संस्कृत पंडितों को आश्चर्यचकित कर दिया। वे यथार्थ में भाषाप्रभु थे। आद्यकवि मुकुंदराज द्वारा प्रारम्भ किए प्राचीन मराठी-साहित्य-मंदिर का स्वर्णशिखर उन्होंने बनाया।

चौथा अध्याय

आनंद-संप्रदाय का साहित्य

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में आनंदसंप्रदाय के सिद्ध पुरुषों ने मराठी में प्रशंसनीय रचना की। उक्त संप्रदाय के निम्नलिखित प्रमुख साहित्यकार हैं—सहजानंद, पूर्णानंद, रंगनाथस्वामी, सदानंद अथवा शिवराम स्वामी, कृष्णदयार्णव और श्रीधर स्वामी। यह संन्यासी साधुओं का संप्रदाय था। हम प्रत्येक लेखक की रचनाओं का संक्षिप्त विवरण देना चाहते हैं। यहाँ एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रस्तुत संप्रदाय का सब साहित्य अध्यात्म और भक्ति से भरा है। कोई विशिष्टता न होने से यह संप्रदाय अधिक फैल न सका अतः पूर्वोल्लिखित पाँच संप्रदायों की तुलना में उसकी लोकप्रियता उपेक्षणीय है।

सहजानंद :—इन्होंने १५९२ में २५०० ओवियों में योगवाशिष्ठ पर टीका लिखी जो अभी हाल में उपलब्ध हुई है। कहते हैं इन्होंने ज्ञानदीपिका और अमृतानुभव टीकाएँ भी लिखीं थीं। **पूर्णानंद** :—इन्होंने १६१० में शिव-पार्वती परिणय नामक पौराणिक कथा का आध्यात्मिक अर्थ-विवेचन करनेवाला ग्रंथ लिखा जो ओवीबद्ध और विशिष्टतापूर्ण है। **रंगनाथ स्वामी निगडीकर**—ये समर्थ रामदास के समकालीन और अनुयायी थे। इन्होंने रामजन्म, गजेंद्रमोक्ष गुरुगीता और कई स्फुट प्रकरणों की रचना की। इनका पदसंग्रह नामक ग्रंथ विशिष्टतापूर्ण और बहुत लोकप्रिय है। इनके पद नादमधुर, गेय और कीर्तन के लिए अत्यधिक उपयोगी हैं। इन्होंने सरस श्लोकबद्ध अष्टकों और पंचकों की रचना की जो बोधप्रद और मर्मस्पर्शी है। **शिवराम स्वामी** (१६३२-१६७९ ई०)—ये प्रकांड विद्वान थे। इन्होंने विपुल वेदांतपरक और भक्तिपरक रचना की। भागवत के एकादश स्कंध पर इनकी मार्मिक टीका है। ये एकनाथ महाराज के नाती अर्थात् महाकवि मुक्तेश्वर के मौसेरे भाई थे। परंतु इस संप्रदाय को मराठी वाङ्मय के इतिहास में स्थान प्राप्त कराने का श्रेय कविवर **कृष्णदयार्णव और श्रीधर स्वामी** को है। कृष्णदयार्णव ने तन्मयानंदबोध नामक आध्यात्मिक गंभीर ग्रंथ की रचना की और कई सरस अभंग और पदों की सृष्टि की। पर ये लेखक भागवत के दशम स्कंध पर हरिवरदा नामक प्रौढ़ भाष्य करने से विख्यात

हुए और रहेंगे। स्मरण रखने की बात है कि हरिवरदा जैसी गंभीर टीका लिखते समय लेखक रक्तपित्त की व्याधि से जर्जर था और दरिद्रता से अति पीडित था। कहने की आवश्यकता नहीं कि शारीरिक व्याधि से पीडित लेखक की कृति में कहीं-कहीं निराशा और विषाद की काली झलक दृग्गोचर होती है। उक्त विशाल भाष्यग्रंथ के ८७ अध्याय अर्थात् बयालिस हजार ओवियों की सफल रचना करते ही कवि के प्राणपखेरू उड़ गए और ग्रंथ अपूर्ण रहा। उनके **उत्तम-श्लोक** नामक सत्पात्र शिष्य ने हरिवरदा भाष्य सन् १७४० में पूरा किया। उपर्युक्त ग्रंथ में लेखक की विद्वत्ता एवम् बहुश्रुतता का जहाँ-तहाँ अनुभव होता है। काव्य की दृष्टि से ग्रंथ सरस है। कहीं-कहीं शृङ्गाररस की धारा स्वच्छंद बहती है जो खटकती है। कवि का करुण गंभीर व्यक्तित्व, कथा-निवेदन की शैली और भाषा का माधुर्य इस भाष्यग्रंथ को भागवत पर लिखे अन्य भाष्यों में विशिष्ट स्थान दिलाने में सफल रहे।

श्रीधर स्वामी (१६५८-१७२९):—इनको प्राचीन मराठी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इनके ग्रंथ महाराष्ट्र के कोने-कोने में छोटे से बड़े तक, शूद्र से ब्राह्मण तक, अपढ़ से विद्वान् तक सभी पाठक बड़े चाव से सुनते और पढ़ते हैं। 'महाराष्ट्र-सारस्वत' के विद्वान लेखक कै० वि० ल० भावे ने लिखा है—'महाराष्ट्र में संसार के तापों से त्रसित अनाथों का मनोरंजन कर उनका चित्त परमेश्वर की ओर आकर्षित करनेवाला, संकट में सबको शान्ति और धैर्य प्रदान करनेवाला सिवाय श्रीधर स्वामी के दूसरा ग्रंथकार नहीं हुआ। संत नामदेव और संत तुकाराम के अभंगों का सर्वत्र प्रचार है पर उनमें लोकानुरंजन करने की क्षमता की कमी है। स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, पतित व विधवा आदि सबको समान रूप से पसंद आनेवाली रचना श्रीधर स्वामी की ही है।

जीवनी:—इनका जन्म नाझरे नामक गाँव में सन् १६५८ में हुआ। इनके पिता का नाम ब्रह्मानंद था। इन्होंने वेदान्त पर एक ग्रंथ लिखा। इन्होंने अपने होनहार पुत्र श्रीधर को शिक्षा देने के उद्देश्य से आत्मप्रकाश नामक दूसरा सहस्र ओवियों का सुलभ एवं सरस ग्रंथ लिखा। विद्याग्रहण के पश्चात् श्रीधर ने अपने सुयोग्य पिता से गुरुदीक्षा ली। अब वे पंढरपुर में ही रहने लगे। उन्होंने मृत्युपर्यन्त सुख से गृहस्थी निभायी। वे पिता और पुत्र दोनों की ओर से बड़े भाग्यवान थे। उनके पुत्र दत्तात्रय ने कई सरस स्फुट प्रकरणों की सफल

रचना कर अपने पिता को सन्तुष्टि प्रदान की। श्रीधर कुशल कीर्तनकार और प्रभावकारी प्रवचनकार थे अतः उन्हें लोगों ने आदर सूचक स्वामी, गुसाईं इत्यादि विशेषणों से संबोधित किया। इन्होंने सन् १७२९ में पंढरपुर में समाधि ली।

ग्रंथ-रचना:—श्रीधर स्वामी की लगभग साठ सहस्र कविता उपलब्ध हैं। इन्होंने १७०२ ई० में हरिविजय, १७०३ ई० में रामविजय और पश्चात् पाण्डव-प्रताप आदि पुराणग्रंथों की अति सफल रचना की। हरिविजय की ८१३६, रामविजय की ९१४७ और पांडव-प्रताप की १३३९७ ओवियाँ हैं। इनके पूर्व महाभारत की कौशलयुक्त सुरस रचना कवीश्वर मुक्तेश्वर ने की। साहित्य शास्त्र की दृष्टि से मुक्तेश्वर का भारत निःसंदेह अधिक श्रेष्ठ है पर श्रीधर ने भी उपर्युक्त कवि का यशस्वी अनुकरण करके वीर, करुण, शृङ्गार, अद्भुत, हास्य इत्यादि रसों का सफल निर्वाह अपने पांडवप्रताप में किया। इसके अतिरिक्त श्रीधर के पांडवप्रताप आदि ग्रंथों की भाषा सरल, प्रासादिक और साधारणजन-सुलभ है। विषय-विवेचन की शैली सर्वग्राह्य और भाषा परिचित दृष्टान्तों से शोभायमान है। अतः इनकी लोकप्रियता वर्णन के परे है। समाज के लिए ऐसे कवियों की परमावश्यकता होती है जो सरल और सुपरिचित घरेलू भाषा-शैली में जनता का मनोरंजन कर उनको भक्ति एवं सदाचार की ओर आकृष्ट करें और उनकी रुचि परिष्कृत करें। मेरी नम्र धारणा है कि श्रीधर स्वामी ऐसे लोकमंगलकारी साहित्य-स्रष्टाओं में एक हैं। इसके पश्चात् सन् १७१८ में इन्होंने शिवलीलामृत नामक ग्रन्थ की सृष्टि कर अपना नाम अमर किया। यह ग्रन्थ मराठी-भाषा-भाषियों के नित्य पाठ की वस्तु है।

उपर्युक्त ग्रंथ ओविबद्ध हैं और संस्कृत के पुराणों के आधार पर रचे गए हैं पर पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि ये कवि की मौलिक कृतियाँ हैं। उनमें रसों का सफल निर्वाह है व विविध प्रसंगों का वर्णन सरस, स्वाभाविक, हूबहू और नाट्यपूर्ण है जिससे उनकी आह्लादक्षमता पुष्ट होती है। हरिविजय में श्रीकृष्ण की लीलाओं का, रामविजय में राम की विजय का, पांडवप्रताप में पांडवों के पराक्रम का और शिवलीलामृत में शिवभक्ति का भावयुक्त वर्णन है। संक्षेप में सर्वजनसुलभ, भक्ति-नीतिप्रद व रसभीने ग्रन्थों की रचना करने में श्रीधर ने अपना विशिष्ट स्थान निर्मित किया।

पाँचवाँ अध्याय

पदों की मधुर रचना

सन् १७१० के पश्चात् श्री शिवाजी महाराज द्वारा स्थापित स्वराज्य का विकास मराठी साम्राज्य में होने लगा। ज्यों-ज्यों राज्य का विस्तार बढ़ता गया त्यों-त्यों मराठा सरदार अधिक धनी, सुखी और आरामतलब होते गये। अब उनका मनोरंजन करने के लिये पंडित कवि कथाकाव्य की कलापूर्ण रचना करने लगे। पर पंडित कवियों के प्रबन्धकाव्यों से उनका पूरा मनोरंजन न हो सका। अतः पंडित कवियों से भिन्न कई प्रतिभासम्पन्न कवियों ने पदों की नादमधुर रचना की और उन्हें कीर्तन में गाने लगे। पदों की सरस एवं श्रवणमधुर रचना करने-वाले कवियों में निम्नलिखित कवि मुख्य थे।

मध्वमुनीश्वर:—ये नासिक में रहते थे। इनका कुल कट्टर माध्वसम्प्रदाय का था। इनका पहला नाम त्र्यम्बक था। इन्होंने बहुत तीर्थाटन किया और कई वर्ष औरंगाबाद में ज्ञानेश्वरी पर प्रवचन किये। पर जनसाधारण की रुचि देखकर इन्होंने पदों की सरस रचना की। इनके सब पद कीर्तनों में गाये जाते हैं। इनके पदों में वाग्विलास देखते ही बनता है। मधु के छत्तों के समान इनके पद रस से ओतप्रोत हैं।

अमृतराय (१६९८–१७५३):—ये विदर्भ के बुलढाणा जिले में साखरखेडा नामक देहात के निवासी थे। अपने स्वामी की विलासी वृत्ति तथा पत्नी के झगड़ालू स्वभाव से त्रस्त होकर इन्होंने प्रपंच का त्याग कर दिया और भिक्षावृत्ति को स्वीकार कर ये भक्तिमार्ग में प्रविष्ट हो गये। संयोग से औरंगाबाद में इनकी मध्वमुनीश्वर से भेंट हो गई। उन्होंने उनसे गुरुमंत्र लिया। गुरु (मध्वमुनि) ने उनको उपदेश दिया कि वे अपनी अमृतमय वाणी से कीर्तन द्वारा जनसाधारण को भक्ति की ओर आकर्षित करें। बस, जीवन भर यही कार्य अमृतराय ने सफलता से किया। उन्होंने कड़ाका (कटाव) छंद में अमृतमधुर पदों की सरस रचना कर मराठी का पद-साहित्य समृद्ध किया। उनके पद गुरु के पदों की अपेक्षा अधिक कलापूर्ण और रसभीने हैं। शब्दचित्र खींचने में वे असाधारण निपुण थे। हिंदी और संस्कृत शब्दों का समुचित प्रयोग करने से उनके पदों का नादमाधुर्य खूब बढ़ा। प्रासानुप्रासों की कुशल

रचना का श्रोताओं पर इतना विलक्षण प्रभाव होता है कि पद के अर्थ की ओर से आँखें मूँदकर वे नाद ही में मुग्ध हो जाते हैं। कवि स्वयम् प्रभावकारी कीर्तनकार थे। अतः उन्होंने अपने पदों का कीर्तन में गायन करके उनकी लोकप्रियता बढ़ाई। भविष्य में सब कीर्तन करनेवालों ने उक्त पद-रचना से बहुत लाभ उठाया। सचमुच अमृतराय कीर्तनकारों के निधि थे। वे आशुकवि थे अतः कीर्तन के समय उन्होंने कई समयस्फूर्त पदों की सरस रचना करके श्रोताओं को आश्चर्यचकित कर दिया। महाकवि **मोरोपंत** ने इनकी प्रशंसा में कहा—**'कीर्तन सुखार्थ झाला अवतारचि अमृतराय जीवाचा'** (श्रोताओं को कीर्तन-सुख देने के लिए ही अमृतराय ने अवतार धारण किया था)। अमृतराय की वाणी बड़ी तीखी थी किंतु उनकी पदरचना अति मीठी थी। मध्वमुनि एवम् अमृतराय ने हिन्दी भाषा में भी सरस पदरचना की।

शिवदिन केसरी (सन् १६९८ से १७७४):—ये तीसरे विख्यात पदरचना करनेवाले कवि हैं। ये नाथपंथ के अनुयायी थे। इनके पदों में प्रबल भक्ति की धारा तथा शब्दचमत्कृति का आकर्षण है। इन्होंने कई लोकप्रिय पदों की रचना कर जन-साधारण को नीति एवं भक्ति का प्रभावकारी उपदेश दिया तथा हिंदी भाषा में भी कई उपदेशप्रचुर पदों की सुरस रचना की। इनके महिपतिनाथ और लक्ष्मणनाथ दो शिष्य थे। इन्होंने भी सरस पदों की सृष्टि कर अपने गुरु का कार्य आगे बढ़ाया। इनके अतिरिक्त विदर्भ में श्री देवनाथ और दयालनाथ उत्कृष्ट पदरचयिता थे। अब उपर्युक्त कवियों के कुछ हिंदी पदों का आस्वाद लीजिए।

मध्वमुनीश्वर के पद

(१)

बन्दे मत कर इतना मान ॥ ध्रु० ॥
अकलकु पकड तू नकल है ख्याली, नकली दी सब जान ॥ १ ॥
क्यों नहीं सुनता क्यों नहीं गुनता। तेरा दिल शैतान ॥ २ ॥
इस देही में पंछी जीयरा। दो दिनका मेहमान ॥ ३ ॥
झूठी काया झूठी माया। आखर मौत निदान ॥ ४ ॥
कहत है माधोनाथ गुसाईं। वैरागी मस्तान ॥ ५ ॥

(२)

अब मत सोव दिवाने जाग ॥ ध्रु० ॥
इस देहकु देख लगी है काल लहर की आग ॥ १ ॥
अपनी कमाई जिकिर खजीना लेकर भाई भाग ॥ २ ॥
कहत माधोनाथ गुसाई। देख हवासिर बाग ॥ ३ ॥

(३)

अंधारे जग अंधा ॥ ध्रु० ॥
साहेब से अपनी प्रीन छांडके। बेइमान हुवा बंदा ॥ १ ॥
बेद किताब कुछ नहीं माने। प्यारी का सब धंदा ॥ २ ॥
कहत है माधोनाथ गुसाई। निर्मल फकीर चंदा ॥ ३ ॥

औरंगाबाद में रहने से मध्वमुनि की भाषा में 'मुसलमानियत' अधिक है। अरबी-फारसी शब्द प्रचुरता से हैं। इन्होंने मोहनलाल की मूरत का कैसा लुभावना चित्र खींचा है, पढ़िए—

भज मन साहेब मोहन लाल ॥ ध्रु० ॥
कानन कुंडल मुगुट बिराजे, गलबीच मोतनमाल।
मृगमद आछो तिलक लगायो सौंधे भीने बाल ॥
पील झगोरी दामिनी चमके ऊपर वोढी साल।
कुंज गलन में बंसि बजावे गावे माधव ख्याल ॥

अमृतराय की हिंदी रचना:—इन्होंने मराठी तथा हिंदी में प्रथम बार कटाव नामक नये छंद में पद रचना की। इसमें सानुप्रासिक चरण होते हैं जिनकी शब्दयोजना से ही अर्थ झंकृत हो उठता है। एक कटाव का नाद सुनिए—

श्री वृंदावन मो अजपत बृजराज बिराजत है ॥ ध्रु० ॥
सत्यलोक ते ब्रह्मदेव जब, गोप भेख धर देखन आये।
गोवन के लघु रुच्छपाल कर पुच्छ धरत ॥
सिरमोर पच्छ, गर गुंज गुच्छ, बिच्छ लच्छ लच्छ।
श्रीवच्छ चिन्ह प्रभु तुच्छ गन्यो बल परिच्छाबेको ॥
बच्छा बालसह सकल चुराये।
एक बरस दरसन बिन ब्रिजजन तत गोकुल गन आप भये ॥

ग्रह-ग्रह की बछिया, नई-नई अछिया।
धोरी धुमरी कारी पियरी॥
हरी विचित्रा कपिला बरनी, प्रतच्छ हरनी।
जे ग्रह जैसो रहे तैसो॥
रंग चाल खुर सिंघ भाल गोपाल बाल।
सब विष्णु अवतरे।
जाको जैसो सुभाव तैसो॥
ऐन बैन को नैनहीन को।
बधीर कुबरे पंगु दुबरे॥
तुटी पन्हय्या, नई पुरानी, अपुन बिरानी।
लकुट कामरी, गलीत पासुरी, धुनिन बासुरी॥
कुरूप सुरूप सब विश्व कृष्ण मय।
त्रिलोक बिलोक॥
नयन करत एक ब्रिजराज चरन पर।
आन पर लुटित कोटि-कोटि कहे॥
मुरत आप मुरख बिसारे।
स्तुति गावत पद पंकज पुनीत रहे॥ श्री वृंदा०॥

इन्होंने हिंदी में शुकचरित्र, सुदामाचरित्र, द्रौपदीवस्त्रहरण, जीवदशा, रामचन्द्र वर्णन आदि लम्बी वर्णनात्मक रचनाएँ कीं। इनके प्रसिद्ध शिष्य सिद्धेश्वर महाराज ने निम्नलिखित पद में शरीररूपी बँगले का योग-परक वर्णन किया है। पढ़िये—

बंगला खूब बनाया बे उसमो माधव सोया बे॥ ध्रु०॥
पंच तत्व की भीत बनाई तीन गुनन का गारा।
राम नाम की छान छबाइ चानेहारा न्यहारा।
उस बंगले कु नव दरवाजे बीच पवन का खंभा।
आवे जावे सब कोई देखे यही बड़ा अचंभा।
आशा दुराशा माया नाचे मन मो ताल बजावे।
सुरत निरत मिरदंग बजावे राग छतीसा गावे।
बंगला खूब बनाया बे उसमो माधव सोया बे॥

अमृतराय के दूसरे प्रसिद्ध शिष्य माधव महाराज कृत रामधनी पढ़िये—

क्यों करता मगरुड़ि काफर भजता क्यों नहि रामधनी ॥ ध्रु० ॥
राम नाम जप उलटा काल भये बाल्मिकी मुनी ॥ क्यों ॥
जब सागर में पत्थर तर गये, बंदर अठारा क्षोणी।
सूर्पणखा और कुंभकर्ण सो शिकयेस्त भया कर्दमुनी।
खरदूषण और भीसुरा अहिमहि रावण की क्या रही बनी।
किष्किंध देश का राज गमाया, भई बाली की धूर धुनी।
घर घर भिक्षा मांगे भर्तृहरी, महाल मुलख सब त्यज रानी।
गोपीचंद सोलासौ रानी धड मंदिर है सात खणी।
अपना हिसाब कर ले आखडे माधव कर्दमुनी ॥

शिवदिन केसरी के पद

(१)

दो दिन तूम भलाई कर रे आखर तेरी मर मर रे ॥ ध्रु० ॥
सुपना सी जिंदगानी जानी दौलत झूठी भर भर रे।
आतम ग्यान बिन मुगत न होई जमका पेट डर डर रे।
कुटुम्ब कबीला साथ न जावे छांड बुराई कर कर रे।
शिवदिन प्रभु को साहेब के चरन सुभग धर धर रे।

(२)

उस पर वारि जाऊं रे उनके पाया लागूं रे।
नव दरवाजे दसवी खिरकी, उपर है एक फिरकी।
बिरला साधो कोइ एक जाने, लेकर मन की गिरकी।
दोनो नयन उलटे मारू, सब घर मरे सांई।
निंदा स्तुति कछु नहि जाने वोही लाल गुसाई ॥
शिवदिन के प्रभु केसरि साहेब, अगमनिगम का राजा।
अनुहत डंका दिन दिन बाजे, बाजत तन का बाजा ॥

शिवदिन केसरी के पदों में मराठी शब्द प्रचुरता से हैं। चाहे जो हो, उन्होंने हिंदी में भी अनुहत का डंका बजाया।

श्री देवनाथ महाराज (सन् १७५४-१८२१):—ये विदर्भ में सुर्जी अंजन गाँव के निवासी थे। बाल्यावस्था से व्यायाम करने में इनकी रुचि थी। अत

बड़े होने पर ये मल्लविद्या के उस्ताद बन गए। इन्होंने अपने देहात में अखाड़ा खोलकर बालकों में व्यायाम के प्रति रुचि पैदा की। व्यायाम करने में और कराने में जैसी इनकी रुचि थी वैसी ही परमेश्वर की भक्ति में भी थी। बलभीम हनुमान इनका आराध्य देव था। किंवदन्ती के अनुसार इनको श्री हनुमान् का साक्षात्कार हुआ था। ये श्री हनुमान के सम्मुख ध्यानस्थ होकर बैठते थे। कहते हैं कि श्री हनुमान ने इन्हें वरदान दिया था कि इनके मुख से जो कुछ निकलेगा वह काव्य बन जायगा। अब ये गाँवों में घूमते और साधारण जनों को भक्ति करने का उपदेश देते। इन्होंने काशी, रामेश्वर, द्वारका और हरिद्वार तीर्थ की यात्रा की। जब सवाई माधवराव पेशवा राज्य कर रहे थे तब ये पूना पहुँचे। पेशवा की माता ने इनसे गुरुमंत्र लिया। पूना में इनके कई भजन-कीर्तन हुए जिन्हें सुनते ही श्रोता भक्तिविभोर हो उठते थे। पेशवा ने पालकी में बैठाकर इन्हें सुर्जी अंजन गाँव पहुँचाया। यहाँ इन्होंने एक मठ स्थापित किया और एक भावुक सम्प्रदाय भी चलाया। देवनाथ सम्प्रदाय के साधक प्रति शनिवार को भजन करते हुए भिक्षा माँगते हैं। कहते हैं कि इनके जीवन में कई अद्भुत घटनाएँ घटी थीं। सन् १८२१ में ग्वालियर में जिस मंडप में देवनाथ कीर्तन करने में मग्न थे उसमें एकाएक आग लग गई और नाम-संकीर्तन करते-करते इनका प्राणोत्क्रमण हो गया।

काव्यरचना :—इनकी कतिपय रचनाएँ 'कवितासंग्रह' नामक पुस्तक में संकलित की हैं। मराठी के अतिरिक्त हिंदी में भी इन्होंने काव्यरचना की। इनके पदों में श्रीकृष्णभक्ति का सरस रूप देखने में आता है। बलभीम के भक्त होने पर भी काव्यों में ये श्रीकृष्ण के प्रति अधिक आकर्षित दिखलाई देते हैं। श्रीकृष्ण की बंशी से संबंधित एक सरस पद पढ़िए—

कैसे मोहन बंसी बजाई।
सुनत धुन मोहे सुधि नहि पाई।
भादों मासो मेघ गड़ा गड़ टपके बुंदरि खासी।
रूनझुम रूनझुम झुरमुर झरिया बरखत है घन रासी।
ओढि खुशाल दुशाल पिया संग रमिहि भोग विलासी।
बिजली सी बंसी आई, परि मोहि मदन कुमार भगाई।
कैसे मोहन बंसी बजाई॥

बंसी की ध्वनि को बिजली की उपमा देना कितना भावव्यंजक है। जिस तरह बिजली कौंधती है उसी तरह गोपी का हृदय चिलक उठता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण की बंसी से कवि की आत्मारूपी गोपी का मन विकल होता है। श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट होने पर भी श्रीरामभजन में इनकी लगन लगी रहती थी। ये कहते हैं—

राम बिना मोहि चैन परे नहि झूठी दिखावे धन सुत ध्यान।
झूठो भाई बंद लुगाई अवसर कोऊ आवै न काम ॥

मानव के जीवन में उतार-चढ़ाव आते ही रहते हैं। इस संबंध में इनका पद पढ़िए—

रमते नाथ फकीर। कोई दिन याद करोगे।
कोई दिन बैठे पालखी घोड़ा। कोई दिन शिरपे अबदागीर।
कोई दिन वोढे शाल दुशाला। कोई दिन भगवे चीर।
कोई दिन धोती और लंगोटी। कोई दिन नंगे पीर।
कोई दिन खासा पलंग बिछोना। कोई दिन जमिन पे शीर ॥

इनके कई पद कटिबन्ध प्रकारों में हैं और वे ध्रुपद ताल में गाये जा सकते हैं। इनकी रसवत्ता आस्वाद्य है वर्ण्य नहीं है, इन्होंने अनहतनाद का अनुभव किया और अन्य मराठी संतों के समान ही इस अनुभव का चित्रण भी किया। पढ़िए—

नैनन हरबिच छूटे फवारे दीन रयन सब गई।
सुरज विन चाँद उजाला सही।
लख लख तारे झमके सारे तुर्या उन्मनि भई।
अँखियाँ जर्द गर्द हो रही।
खुली समाधि हरदम जोगी घट घट मो निज साई।
सच्चा गोविन्द हे तुही।

इनके पद रहस्यवादियों के फक्कड़पन और निर्द्वन्द्वता से ओतप्रोत हैं। श्रीदेवनाथ ने उर्दू और फारसी की अच्छी जानकारी प्राप्त की थी। अतः पूर्ववर्ती मराठी संत कवियों की हिंदी रचनाओं की अपेक्षा इनकी हिंदी रचना अधिक स्वच्छ है। उसमें ब्रज, खड़ी बोली, मराठी और फारसी उर्दू का संगम है। इनके पदों में अनुप्रास, उपमा और रूपक अधिक मात्रा में मिलते हैं। कई स्थलों पर आनुप्रासिक पदयोजना का नाद अर्थानुगामी होने से आह्लादकारी है। वर्षा की रिमझिम का वर्णन कितना ऋतु-अनुरूप है। पढ़िए—

भादो मासमो मेघ घडाडत टपकत बुंदरी खासी।
रुमझुम रुमझुम झरझर झरिया बरसत है घनरासी॥

वैसे ही रूपक के दो उदाहरण पढ़िए—

(१) आत्मज्ञान की यह तन क्यारी बीज नहीं बोया।
(२) ज्ञानी के जंगल मो सुसरी फनकी नाहक के घर माया।
माया अंधारी रात परी भरपूर निंदभर सोया।

इनके अलंकारों की योजना में कोई अभिनवता नहीं है पर वे संतों की प्रतीक भाषा के अनुरूप हैं। देवनाथ ने अपनी योग्यता का शिष्य बनाकर विदर्भ को धन्य किया।

श्री दयालनाथ (सन् १७८८-१८३६):—ये संत देवनाथ के शिष्यवर थे। इनका जन्म विदर्भ में मुर्तिजापूर नामक बड़े गाँव में हुआ। इनके पिता के लगभग आठ दस पुत्र थे पर दुर्भाग्य से वे अल्पायु में हो चल बसे। अतः पिता ने इस हरि नामक अंतिम पुत्र को संत देवनाथ के चरणों में लाकर डाल दिया। देवनाथ ने उसका दयालनाथ नामकरण किया। वे दयालनाथ नाम से विख्यात हुए। गुरु ने इनको संस्कृत, उर्दू आदि भाषाओं से भलीभाँति परिचित कराया। प्रौढ़ होने पर दयालनाथ गृहस्थ बने। पर इनकी गृहस्थी संत की गृहस्थी थी। ये वाग्शिल्पी एवं रससिद्ध वक्ता थे। इसके अतिरिक्त इन्हें मधुर कंठ की देन थी। इनका गायन सुनते ही श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते थे। ये मँजे हुए कीर्तन करनेवाले थे। इनमें वक्तृत्वकला और संगीत का अनूठा मेल था। इसलिए इनके कीर्तन अति श्रवणीय होते थे। इसके अतिरिक्त ये प्रत्युत्पन्नमति भी थे। इनमें इस प्रकार प्रतिभा और व्युत्पन्नता का स्वर्णसंगम था। इन्होंने अपने गुरु के साथ और उनके पश्चात् महाराष्ट्र भर में भ्रमण कर अपने मधुर कीर्तनों से खूब कीर्ति संपादित की। इन्होंने मराठी में दीर्घ और सरस आख्यान कविताएँ रचकर मराठी का संतकाव्य समृद्ध किया। इन्होंने प्रायः हिंदूधर्म के सभी आराध्य देवताओं पर सरस पद-रचनाएँ की। इनके मराठी स्फुट पद विदर्भ की जनता को कंटस्थ हैं। इन्होंने हिंदी में फुटकल पदों की रचना की। इनके श्रीकृष्ण परक पदों में ब्रज की छटा दिखाई देती है। पढ़िए—

तुम देख्यो भय्या। मुरली को बजवय्या।
मोर मुकट की लटपट न्यारी। गरे सो लपटी राधा प्यारी।
कुण्डल सोहवे बनवारी। देखे गोपी कन्हय्या।

गरे मो सोहत है बनमाला। पीताम्बर प्रभु नूपुरवाला।
रास रचे नाचे अलबेला। पकरत गोपिन की बहिया।
झटपट खेलत चुंबत कान्हा। छतिया छुवावत गावत तान।
जमुना तट मो श्री भगवान। क्रीडत ब्रिज को बसवय्या।
दयालु देवनाथ अलबेला। साथे ब्रिजनारी का मेला॥

श्री दयालनाथ के पदों में भ्रमरगीत-परम्परा की भी कुछ बानगी मिलती है। इनके 'उद्धव-गोपी-संवाद' शीर्षक पद की निम्नलिखित पंक्तियाँ पढ़िए—

रूप हीन कुल जात की प्रीत करे नंदलाल।
गोपिन मोहरे डार के चाम चलावत ब्रिजपाल॥
करत करि बिसरत बुरि येहि देही येहि रीत।
किन सुख पायो ये सखि परदेसन की प्रीत॥
उधो कहो वहा जायके मर गई ग्वालण।
एक बार तुम छचियो अमृत जसोमति पाल॥
वा कुबरी ने चंदन चर्चो जादू ही कर डारी।
देवनाथ प्रभुनाथ दयालु बिन सारे हम मारी॥

दयालनाथ की गोपियों में उपालम्भ की सबसे अधिक तीव्रता दिखाई देती है। पढ़िए—

वह कुबरी ने चंदन चर्चो श्याम मूरत वहा लटकी।
श्याम के दाम चलावे सौकन गोपन मोह हरे खटकी॥

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में गोपियाँ कुब्जा पर बुरी तरह क्रुद्ध होकर उसकी निंदा करती हैं। श्री दयाल नाथ के श्रीकृष्ण पर रचे हुए पद रस से ओतप्रोत हैं और वे हिंदी कृष्ण-काव्य-परम्परा के अनुरूप हैं। इन्होंने हिंदुओं के अन्य आराध्य देव जैसे गणपति, शंकर, विठोबा आदि पर भी सरस पदों की रचना कर मराठी का पद-काव्य समृद्ध किया। अन्य संतों की तरह नाम-स्मरण और उपदेश देने-वाले पदों की भी इन्होंने प्रचुर रचना की। श्री दयालनाथ की हिंदी एवं मराठी भाषा अपने गुरु देवनाथ के समान ही उर्दूमिश्रित थी। गुरु शिष्य के इस युग्म ने मराठी एवं हिंदी में सरस रचना कर संत-साहित्य की धारा पुष्ट की। इन पर विदर्भनिवासियों को बड़ा गर्व है।

छठा अध्याय

संत-चरित्र-वाङ्मय

महानुभाव पंथ के प्रकाण्ड विद्वान महिंभट्ट (महिंद्र व्यास) ने सन् १२७८ में लीलाचरित्र नामक पहला गद्यग्रन्थ लिखा जिसका विस्तृत उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। ये महिंभट्ट मराठी के आद्य चरित्रलेखक हैं। इनके पश्चात् सन् १२९८ में संतश्रेष्ठ नामदेव ने संत ज्ञानेश्वर का समग्र चरित्र अभंगों में कहा जिसको हम पहला पद्यचरित्र कह सकते हैं। इसके बाद सच्चिदानंद बाबा, सत्यामल नाथ, आदि कवियों ने काव्य में संत ज्ञानेश्वर के चरित्र लिखे। एकनाथ महाराज ने उनके कुल के आद्य पुरुष एवं भक्त भानुदास का काव्यबद्ध चरित्र लिखा। इसी तरह महाकलाकवि मुक्तेश्वर ने अपने पूजनीय दादा एकनाथ महाराज का ओवी छंद में सरस चरित्र लिखा। कवि विट्ठल ने संत भानुदास और संत सखू के चरित्र लिखे। श्री समर्थ रामदास के कई शिष्यों ने उनके कई सरस और उत्कृष्ट चरित्र लिख कर मराठी का चरित्र-साहित्य समृद्ध किया। इनका विस्तृत वर्णन हम पहले कर चुके हैं। वैसे ही संत नामदेव, संतिन जनाबाई, संतिन कान्होपात्रा, संतशिरोमणि तुकाराम, बहिणाबाई, कचेश्वर इत्यादि भक्त कवियों ने अपना आत्मचरित्र अभंगों में कह कर मराठी की आत्मकथा की धारा पुष्ट की। परन्तु यहाँ स्पष्टता से कहना पड़ता है कि उपर्युल्लिखित कवि चरित्रलेखक के तौर पर प्रसिद्ध नहीं हैं। वे अपनी अन्य एवं सरस रचना के लिए ही विख्यात हैं। किन्तु सन् १७०० के लगभग उद्धवचिद्घन नामक चैतन्य सम्प्रदाय के कवि ने साकी छंद में संतमाला नामक चरित्रात्मक ग्रंथ का सरस प्रणयन कर मराठी में संत-चरित्रकार होने की ख्याति प्राप्त की। कहते हैं कि ग्वालियर के निवासी संत नाभाजीकृत 'भक्तमाला' के आधार पर उद्धवचिद्घन ने संतमाला की रचना की। वे प्रत्येक संतचरित्र का आरंभ साकी छन्द में करते हैं—**'बरवीं संत चरित्रें हो। पावन परम पवित्रें हो'**(वाणी एवं मन को पवित्र करने के लिए संत-चरित्रों का पठनऔर श्रवण अच्छा होता है)। ये चरित्र सरस और मधुर हैं। इनके श्रवण से

मन को आह्लाद प्राप्त होता है। सन् १७१५ के लगभग उक्त चरित्रकार कवि ने धारूर नामक देहात में समाधि ली। इनके पश्चात् दासोदिगंबर नामक कोई कवि हुए। इन्होंने 'संतविजय' नामक ग्रन्थ ओवी छन्द में लिखा जो उपलब्ध है। इस चरित्रात्मक ग्रन्थ में प्रायः सब पूर्ववर्ती संतों के चरित्र वर्णन किए गए हैं पर उनमें अतिशयोक्ति की प्रचुरता है। दासोदिगंबर से सम्बद्ध कुछ भी जानकारी प्राप्य नहीं है। इनके पश्चात् महाराष्ट्र में एक श्रेष्ठ संत चरित्रकार का उदय हुआ।

महिपतिबुवा ताहराबादकर (१७१५-१७९०):—ये मराठी के प्रसिद्ध संत-चरित्रकार और साधु पुरुष थे। इनका जन्म नगर जिला में ताहराबाद नामक देहात में एक ब्राह्मण पटवारी के कुल में हुआ। आपके पिता और माता भक्तिपरायण थे और वारकरी सम्प्रदाय के होने से प्रति वर्ष पंढरपुर की वारी करते थे। किंवदन्ती के अनुसार उक्त श्रद्धालु दम्पति को वृद्धावस्था में पुत्र-प्राप्ति हुई। पुत्र का नामकरण महिपति किया गया। बालक महिपति सुन्दर और सुडौल था। बाल्यावस्था में वह नटखट था। पर जैसे-जैसे वह बढ़ता गया वैसे-वैसे शांत और सयाना होता गया। जब अपने पिता के साथ वह पंढरपुर की वारी करने लगा तब उसकी वृत्ति भावुक और श्रद्धालु बन गई। अन्ततोगत्वा वह पक्का भक्त हो गया। कहते हैं कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। यह सिद्धान्त महिपति पर ठीक घटता है। श्रीधर स्वामी के जैसे उसने भी पटवारी पद का त्याग कर परमेश्वर की ही सेवा में अपने को सदा के लिए अर्पित कर दिया। महिपति गृहस्थ थे। वे अपना प्रपञ्च बड़ी सादगी में समाधानी वृत्ति से चलाते थे। उनकी पंढरपुर की वारी कभी न चूकती। उन्होंने ज्ञानेश्वरी, संत नामदेव के अभंग, एकनाथी भागवत और संत तुकाराम के अभंगों का खूब पठन किया। वे संत तुकाराम को अपना गुरु मानते थे। उन्होंने लिखा 'कि संत तुकाराम ने मुझ पर स्वप्न में अनुग्रह किया अर्थात् गुरुमंत्र दिया। संत तुकाराम की प्रेरणा से ही उन्होंने संतों के चरित्रों का लेखन किया। उन्होंने सन् १७६२ में नाभाजी कृत भक्तमाला के आधार पर अपना भक्तिविजय नामक पहला चरित्रग्रन्थ लिखा। इसके बाद सन् १७६७ में संतलीलामृत की रचना की। सन् १७७४ में भक्तलीलामृत का लेखन समाप्त किया और अन्ततोगत्वा १७८९ में संतविजय नामक ४०६२८ ओवियों का विशाल ग्रन्थ लिखा। उपर्युक्त सब ग्रन्थों में मुकुन्दराज और संत ज्ञानेश्वर से लेकर समर्थ रामदास तक के सब संतों के चरित्रों का सरस कथन है। महिपति ने

ईश्वरोपासना की भावुक वृत्ति से संतों के चरित्र-चित्रण किए। आप के उक्त चरित्र सगुण भक्ति के उपदेश से ओत-प्रोत हैं। आपकी कथा-निवेदन-रीति और भाषा-शैली इतनी आकर्षक और प्रासादिक है कि आप के उपर्युक्त ग्रन्थों का पठन पाठन महाराष्ट्र के देहातों में प्रति-दिन होता है। श्रीधर ने जैसे देवों के चरित्र सर्वजनसुलभ लिखे वैसे महिपति ने संतों के चरित्र साधारण-जनप्रिय किए। उक्त चरित्रों के लेखन के लिए उन्होंने कड़ा परिश्रम करके सामग्री इकट्ठी की और उसकी कलापूर्ण रचना कर चरित्रों का प्रणयन किया। सचमुच महिपति ने उक्त चरित्रों के रूप में मराठी को अनमोल देन दी और संत-चरित्रकार के रूप में अपना नाम अमर किया। इनके पश्चात् सन् १७९८ में दक्षिण भारत में तंजोवर में रामदास सम्प्रदाय के भीमस्वामी ने भक्तलीलामृत नामक चरित्रग्रन्थ की रसभीनी रचना की। महिपति के ग्रन्थ ओवी छंद में हैं पर भीमस्वामी ने अभंग छंद में चरित्र लिखे। इसकी विशिष्टता यह है कि इसमें समर्थ रामदास के चरित्र के साथ समान भावुकता से अन्य संतों के चरित्रों का भी प्रभावकारी कथन है। साम्प्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठ कर लेखक ने चरित्र लिखे। संक्षेप में प्राचीन मराठी साहित्य में चरित्रग्रन्थ अपनी विशेषता रखते हैं।

स्वच्छंदवादी काव्य-रचना (सत्रहवीं शताब्दी):—मराठी स्वराज्य की परिणति साम्राज्य में होने के कारण पेशवाओं के समय में मराठी-भाषा-भाषी सरदार और सूबेदार अधिक संपन्न और विलासी हो गए। इन विलासप्रिय अधिकारियों के मनोरंजन के लिए कई कवियों ने स्वच्छंदवादी (रूमानी) प्रेम-काव्यों की शृङ्गार-रस-पूर्ण स्वतंत्र रचनाएँ कीं। इन अद्भुत रम्य कथानक या प्रबंध-काव्यों में पंडित जगन्नाथ कविकृत शशिसेना काव्य अपनी विशिष्टता रखता है। **पंडित जगन्नाथ कवि** सत्रहवीं शताब्दी के अंत में हुए। उनके सम्बन्ध में अधिक विश्वसनीय जानकारी उपलब्ध नहीं है पर शशिसेना काव्य उपलब्ध है। इस अद्भुत रम्य काव्य के ५८१ श्लोक हैं। कथानक बिलकुल काल्पनिक, स्वतंत्र और मौलिक है। अमरावती नगरी के प्रधान मंत्री के अहिमाणिक पुत्र के साथ राज-कन्या शशिसेना का प्रेमविवाह होता है पर प्रारम्भ में उनके माता-पिताओं ने खूब विरोध किया था जिसका प्रतिकार प्रेमबद्ध युगल ने अद्भुत एवं अप्रत्याशित पराक्रमों द्वारा किया और अन्ततोगत्वा वे सुखमय दांपत्यजीवन का उपभोग करने में सफल रहे। इसके पूर्व किसी कवि ने स्वच्छंदवादी प्रबंधकाव्य की इतनी मौलिक

एवं रसभीनी रचना नहीं की थी। इसकी भाषा सरल, प्रासादिक और उचित अलंकारों से युक्त है।

इसी समय में **जीवन** नामक दूसरे कवि हुए। इन्होंने अनुभवलहरी नामक मौलिक काल्पनिक काव्य में पति-पत्नियों की विरह-व्यथा का कारुणिक चित्र खींचा। इस काव्य की भाषा अति सुलभ और रसभीनी है। विप्रलंभ शृङ्गार का यह उत्कृष्ट शब्दचित्र है। तत्कालीन विलासप्रिय लोगों को उपर्युक्त दोनों काव्यों ने बहुत आकृष्ट किया था। पौराणिक आख्यानपरक प्रबंधकाव्यों के श्रवण से रसिक लोग ऊब-से गए थे अतः रुचि में परिवर्तन करने की दृष्टि से उक्त दोनों काव्यों का स्वागत होना स्वाभाविक था। इसी प्रकार किसी अनाम कवि ने साहूकार आख्यान रचकर स्वच्छंदवादी काव्यधारा पुष्ट की। उक्त स्वतंत्र व काल्पनिक काव्य में किसी साहूकार का यथार्थ चित्र खींचा गया है जो पढ़ते ही बनता है। पर यह मानना होगा कि पौराणिक आख्यान-काव्यों के प्रति जन-साधारण की इतनी रुचि थी कि उपर्युल्लिखित तीन कल्पनारम्य काव्य-कृतियाँ प्रायः उपेक्षित ही रहीं। यत्र-तत्र सुखी रसिक उनका स्वाद लेते थे।

सातवाँ अध्याय

शाहिरी काव्य (पोवाड़ा और लावणी)

अरबी में शायर का अर्थ होता है कवि। मराठी ने यह शब्द अपनाकर वर्ण-विपर्यय से उसका स्वरूप शाहीर बनाया। उसके अर्थ में भी संकुचितता आ गई। मराठी में वीरगीत में यशोगान करनेवाले कवि को ही शाहीर कहते हैं। मराठी में वीरगीत को पोवाड़ा या पवाड़ा कहते हैं। वीरगीत (पोवाड़ा) गेय काव्य है। ये शाहीर इन पवाड़ों का गायन तन्तुवाद्य की सहायता से करते हैं। प्रत्येक सेना के साथ शाहीर (जो प्रायः गोंधली जाति का होता था) रहता था और युद्ध के पूर्व सैनिकों में नवस्फूर्ति की जागृति करने के हेतु स्फूर्तीली शैली में वह वीरगीतों का गायन करता था। इसी प्रकार युद्ध के बाद सैनिकों के मनोविनोद के लिए ये शाहीर शृंगार-रसभीने गीत (लावणियाँ) गाते थे। इससे स्पष्ट होता है कि वीरकाव्य की सृष्टि ऐतिहासिक परिस्थिति पर निर्भर थी। महाराष्ट्र के इतिहास का वसंत ऋतु ई० सन् १३२४ के पश्चात् पुनः १६५९ ई० में प्रारम्भ हुआ। लगभग सवा तीन सौ वर्ष महाराष्ट्र मुसलमानों की गुलामी की शृंखला में बद्ध रहा। सन् १६४६ में पुण्यस्मरण श्री शिवाजी महाराज ने स्वराज्य के आंदोलन का श्रीगणेश किया। चन्द्र की कलाओं की भांति दिन-प्रति-दिन उनका यश बढ़ता गया। महाराष्ट्र में जहाँ-तहाँ वीरश्री उछल रही थी। देश और धर्म के लिए बलिदान होने के हेतु सैकड़ों हिंदू युवक अग्रसर हो रहे थे। मानो सम्पूर्ण महाराष्ट्र स्वराज्य-प्राप्ति के लिए प्रज्वलित हो उठा था। वीरकाव्य की सृष्टि के लिए अनुकूल परिस्थिति पुनः निर्मित हो गई। जैसे वसंत ऋतु का आगमन होते ही कोयल अमृतमधुर कूजन करती है वैसे देशवीर एवं धर्मवीरों का यशोगान करने के लिए शाहीर उत्कंठित हो गये। वीरगीतों में राष्ट्रवीरों के पराक्रम का एवं चिरस्मरणीय ऐतिहासिक प्रसंगों का प्रभावकारी वर्णन होता है। महाराष्ट्र के इतिहास में ऐसी ही अलौकिक एवं अभिमानास्पद घटना १६५९ में घटी। उक्त घटना श्रवणीय एवं स्मरणीय है।

मराठी का पहला पोवाडा:—श्री शिवाजी महाराज को पकड़ने के लिए बीजापुर के राक्षसस्वरूप वज़ीरे आलम अफजल खां कटिबद्ध हो गए। खाँ साहब सागरसदृश सेनासहित प्रतापगढ़ की ओर बढ़े। अफजुल खाँ की अमर्याद शक्ति और छल से महाराज शिवाजी पूरे परिचित थे। अब उन्होंने जैसे को तैसा नीति से काम लेना निश्चित कर समझौता करने की उत्कंठा खाँ साहब के प्रति प्रदर्शित की। खाँ साहब के मन की हुई। उनका हर्ष फूला न समाता। उन्होंने तत्काल स्वीकृति भेजी और प्रतापगढ़ के नीचे एक मंडप में उनसे भेंट होना तय हुआ। श्री शिवाजी सदा सतर्कता से रहते थे। वे कभी गाफिल न पाये गए थे। नियत स्थान पर दोनों का आगमन हुआ। खाँ साहब ने मित्र का स्वांग रचकर श्री शिवाजी का आलिंगन किया पर गले से लगाते समय उनके शिर पर तलवार का वार किया। शिवाजी ने आत्मरक्षा की दृष्टि से उसका प्रतिकार किया और लोहे के तीक्ष्ण नख उनके पेट में घुसेड़ दिए। पहाड़ जैसे खाँ साहब की तत्काल मृत्यु हो गई। लोमड़ी द्वारा शेर के वध जैसी आश्चर्यकारी घटना हुई। सब महाराष्ट्र आनंद विभोर हो उठा। माता जीजाबाई का हर्ष तो आकाश में भी न समाता। वह दूरदर्शी राजनीतिज्ञा थी अतः उसने सोचा कि श्री शिवाजी महाराज का वह दैवी पराक्रम अनेक पीढ़ियों के लिये स्फूर्ति का स्रोत हो सकता था। जैसे एक दीप से अनेक दीप प्रज्वलित होते हैं वैसे एक पराक्रम का कृत्य अनेक के हृदयों में नव चैतन्य पैदा कर सकता है। अतः माता जिजाबाई ने उक्त प्रसंग पर पोवाडे की रचना कराने की तीव्र इच्छा प्रदर्शित की। राजमाता की इच्छा तत्काल पूरी हुई और अज्ञानदास शाहीर ने 'अफजल खाँ के वध का पोवाडा' रचा और दरबार में उसका वीरश्रीयुक्त गायन कर सबको आनंद-विभोर कर दिया। प्रसन्न होकर माता जिजाबाई ने अज्ञानदास को एक अरबी घोड़ा और सोने का कड़ा पारितोषक-स्वरूप में अर्पित किए। पोवाड़ा तद्भव शब्द है जो संस्कृत के प्रवादः शब्द से बना है। मराठी का दूसरा पोवाड़ा है सिंहगढ़ (१६७२) का इसका रचयिता था शाहिर तुलसीदास। इसमें श्री शिवाजी के दाहिना हाथ और परम मित्र वीरश्रेष्ठ तानाजी मालुसरे के अपूर्व पराक्रम तथा आत्मोत्सर्ग की स्फूर्तीली प्रशंसा है। यह स्वामिनिष्ठा एवं देशभक्ति का अनूठा चित्रण है। इसका भी वीरश्रीयुक्त गायन राजदबार में शाहिर तुलसीदास द्वारा किया गया था और उसको तत्काल हजार रुपयों का पारितोषिक मिला था। इस प्रकार पोवाड़ों

की रचना होने लगी। सन् १७९५ तक मराठों का इधर-उधर बोलबाला था। महाराष्ट्र का राज्य उत्तर में दिल्ली तक और दक्षिण में तंजौर तक फैल गया था। पराक्रमी मराठा सरदारों ने अटक पर भगवा झंडा फहराया था और नादिरशाह जैसे आक्रामक को भारत के बाहर भगा दिया था। उक्त वैभवशाली काल में मराठों में अनेकानेक देशभक्त एवं पराक्रमी वीर उत्पन्न हुए और उन्होंने कई अलौकिक कार्य किये। कई राजनीतिज्ञ पैदा हुए और उन्होंने अपनी बुद्धिमानी से शासन की बागडोर सफलता से सँभाली। हम पहले लिख चुके हैं कि वीरगीतों में राष्ट्रवीरों की स्फूर्तीली जीवनी का परिचय प्राप्त होता है और ये गीत इतिहास के साधनस्वरूप होते हैं। अतः जैसे महाराष्ट्र का इतिहास उज्ज्वल होता गया वैसे पोवाडों की वीर-रस-भीनी रचना होने लगी। संक्षेप में उक्त काल पोवाडों (वीरगीतों) की सृष्टि के लिये अत्यंत अनुकूल था और इसमें लगभग १५० पोवाडों की सरस रचना हुई। शाहीर सब जातियों में होते थे, जैसे—अग्निदास, तुलसीदास, यमाजी, मल्लारदास, हुसेन, दादू (मुसलमान), सगनभाउ, लहरी मुकुंदा, नारों त्रिबंक और प्रभाकर (ब्राह्मण)। कादर नामक शाहिर ने जंग-बहादुर पर उर्दू में पोवाड़ा रचा पर उसमें मराठी शब्दों की विपुलता है। पानीपत के संग्राम पर लगभग दस-बारह पोवाडे हैं जो अपनी साहित्यिक विशिष्टता के लिए प्रसिद्ध हैं। सचमुच ये पोवाडे महाराष्ट्र के राष्ट्रगीत हैं। इन वीरकाव्यों की लोक-प्रियता का प्रमुख कारण यह भी था कि वे वीर-रस से युक्त होने पर भी साधारण जनता को परिचित भाषा में रचे थे और उनमें प्रामादिकता के अलावा अपनापन था। प्रारम्भ में पोवाडों की भाषाशैली गद्यसदृश सुलभ थी। यद्यपि उनका वीरश्री-युक्त-गायन होता था परन्तु आगे चलकर उनमें भाषा की सुंदरता एवम् अलंकृतता और संगीत की राग-रागिनियों ने प्रवेश किया। अब पोवाडों का अपकर्ष गौर से पढिए।

पोवाडों का अपकर्ष:—जैसे-जैसे मराठों का साम्राज्य बढ़ता गया वैसे-वैसे उनके जीवन में विलास की मात्रा बढ़ने लगी। पोवाडा अब केवल विलासी सरदारों का स्तुतिगान बन गया। उसकी रचना केवल अर्थप्राप्ति के लिए होने लगी। उसका पहला तेजस्वी और स्फूर्तिदायक स्वरूप क्षीण होता गया। अन्ततो-गत्वा विलासप्रिय और देश की स्वतंत्रता खोनेवाले द्वितीय बाजीराव पेशवा पर लगभग आठ पोवाडों की अति सुन्दर एवम् रसभीनी रचना हुई। वीर रस की

जगह श्रृङ्गार ने ली। भाषा, रचना, अलङ्कारों की आकर्षकता में बहुत उन्नति हुई पर पोवाडों की आत्मा जाती रही। वर्ण्य विषयों में दुःखद परिवर्तन हुआ और वीरश्री का स्थान मनोविनोद ने लिया। यह सामयिक सामाजिक परिस्थिति का ही प्रभाव था। नई सामाजिक परिस्थिति ने नए काव्यरूप को जन्म दिया जिसे लावणी कहते हैं।

मराठी की लावणी-काव्यधारा:—मराठी शाहिरी काव्य की दो धाराएँ मानी जाती हैं। वे हैं पोवाडे और लावणी। पोवाडों की आत्मा वीर रस है तो लावणी की आत्मा श्रृङ्गार रस है। पोवाडा पुरुष है तो लावणी स्त्री है तथा इसका भाव श्रृङ्गार है। ऐसा लगता है कि लावणी का लवण (नमक) या लावण्य से संबंध है। लावणी सुन्दर एवम् नमकीन गीत है जिसका गायन श्रोताओं को आनन्दविभोर कर देता है। लावणी गीतों में तत्कालीन समाज-जीवन का सुंदर एवम् आकर्षक चित्रण है। लावणी रसवत्ता, पदलालित्य, नादमाधुर्य व अलङ्कारों की प्रचुरता इत्यादि काव्यगुणों से युक्त होती है। प्रायः सभी लावणी काव्यों में उत्तान श्रृङ्गार अपनी चरम सीमा पर होता है जिसका श्रवण और पठन समाज के लिए अहितकारक होता है। हम यह मानते हैं कि लावणी गीत की आह्लादक्षमता वर्णन के परे है पर जिस आह्लादक्षमता से मन में विकृति उत्पन्न होने की प्रबल आशंका होती है वह समाज के लिए हितकर कैसे हो सकती है? काव्य में सत्य, शिव और सुंदर का समन्वय होना चाहिए। लावणी में केवल कामुक सौंदर्य ही भरा है। अपवाद-स्वरूप कई लावणी गीतों में प्रारम्भ में भगवान का नमन व आवाहन होता है तो कई श्रृङ्गार-रसभीनी लावणी गीतों का वर्ण्य विषय राधा-कृष्ण-विलास अथवा शिव-पार्वती-क्रीडा भी है। पर इससे उनकी कामुक उत्तेजकता कम नहीं होती। चाहे जो कुछ भी हो, हम यह मानते हैं कि लावणी गीतों की लोकप्रियता अत्यधिक है। जितना वारकरी सम्प्रदाय का अभंग वाङ्मय लोकप्रिय है और जनजिह्वा पर है उतना ही लावणी वाङ्मय है। अब तक लगभग तीन सौ लावणी गीत उपलब्ध हैं। लावणी की रचना करनेवालों में सभी जातियों के कवि हैं। उनमें प्रकाण्ड शास्त्री रामजोशी, अनंत फंदी, प्रभाकर जैसे ब्राह्मण हैं और होनाजी बाल (गोंधली), सगनभाऊ (मुसलमान), परशुराम (सीपी), गंगुहैबती (गवली) प्रमुख हैं। रामजोशी व अनंत फंदी ने जैसी उत्तान या संभोगश्रृङ्गारयुक्त सरस लावणी गीतों

की रचना की वैसी पौराणिक एवम् आध्यात्मिक विषयों पर भी रसभीनी लावणिओं की प्रभावकारी रचना की। छंदशास्त्र की दृष्टि से लावणी काव्य अभ्यास करने योग्य है। यह काव्य स्वतंत्र और सर्वथा मौलिक है। अतः कई साहित्यमर्मज्ञ इसको मराठी का मौलिक काव्य कहकर गौरव करते हैं तो दूसरे इसको मराठी का लोकगीत या लोकसाहित्य कहते हैं। दोनों के कहने में अतिशयोक्ति है। इधर अधिक संशोधन करने पर स्पष्ट हो गया कि लावणी गीतों में जो विलासिता-युक्त जीवन का भड़कीला चित्रण मिलता है वह पूना जैसे नगरों में रहनेवाले सुखी एवम् विलासी अधिकारियों का है, न कि गाँवों में रहनेवाले साधारण जनों का। इससे उसके लोकसाहित्य होने पर आपत्ति आ जाती है। अब रही मौलिकता की बात। छन्द, काव्य की प्रतिमाएँ, भाषा-शैली, अधिकतर लावणी गीतों के वर्णन के विषय, इत्यादि में मौलिकता अवश्य है। लावणी काव्य एक तरह का स्वच्छंदवादी (रूमानी) काव्य है जिसमें शृङ्गार का अत्यधिक महत्व है। परन्तु स्पष्ट कहना होगा कि अलङ्कारों से लदी भाषा होने पर भी लावणी गीतों में भोंडा (नग्न) शृङ्गार है जो प्रायः अश्लील कहा जाता है। अपवाद के रूप में कई लावणी गीतों में शृङ्गार की मार्मिक व्यञ्जना भी है जो साहित्यमर्मज्ञों को अतिशय आह्लाद देती है। संक्षेप में 'प्राधान्येन व्यपदिश्यते' न्याय से लावणी काव्य सामाजिक अभिरुचि को दूषित करनेवाला है। पतनोन्मुख समाज की विकृत अभिरुचि उसमें प्रगट हुई और सन्निकट भविष्य में महाराष्ट्र की स्वतंत्रता की ज्योति बुझ गई।

आठवाँ अध्याय

गद्य-साहित्य का विकास

किसी भाषा का प्राचीन साहित्य प्रधानता से पद्यमय होता है क्योंकि मुद्रण-कला के अभाव में उस काल में स्मरणसुलभ पद्य की अत्यधिक रचना होती थी। पर पद्यरचना के साथ ही गद्य का आविर्भाव होना मराठी के प्राचीन साहित्य की विशेषता है। मराठी का गद्य साहित्य निम्नलिखित दो खंडों में विभाजित किया जाता है। पहला है यादवकालीन गद्य या महानुभावीय गद्य और दूसरा है श्री शिवाजी और पेशवाकालीन गद्य। हम पहले लिख चुके हैं कि मराठी महानुभाव-पन्थ की धर्मभाषा थी अतः जन-साधारण के लिए उस पन्थ ने मराठी में ही आग्रहपूर्वक रचना की। मराठी भाषा का सर्वोपरि विकास करने के लिए महानुभाव पन्थ ने कुछ न उठा रखा। मराठी गद्य की रचना का श्रीगणेश इस पन्थ ने किया जिसके लिए मराठी-भाषा-भाषी उस पन्थ के चिरकृतज्ञ हैं। सन् १२७६ में प्रसिद्ध महानुभाव पण्डित म्हाइंभट्ट जी ने 'लीळाचरित्र' नामक गद्य-ग्रन्थ की सफल रचना की। यह है मराठी का पहला उपलब्ध गद्यग्रंथ। इस ग्रंथ में महानुभाव पन्थ के आद्याचार्य महात्मा चक्रधर जी का जीवनचरित्र आख्यानों और संस्मरणों के द्वारा वर्णन किया गया है। जैसे बॉसवेल ने संस्मरणों का सरस उल्लेख कर डॉ० जानसन की जीवनी लिखी वैसे ही व्युत्पन्न पंडित म्हाइंभट्ट ने किया। उक्त ग्रन्थ की भाषा सरल, सुलभ और आनन्ददायी है। कथन की शैली रोचक है। इसके पश्चात् बड़े-चढ़े उत्साह से उक्त लेखक ने 'ऋद्धिपूरचरित्र' लिखा। यह है महात्मा चक्रधर जी के गुरु अर्थात् श्री गोविंद प्रभु का चरित्र। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उनकी यह दूसरी गद्यकृति पहली जैसी सरस और उत्कृष्ट है। इसके पश्चात् १३०८ ई० में महानुभाव पन्थ के दो विद्वानों ने जिनके नाम हैं नरेन्द्र और परशराम, मिलकर स्मृतिस्थल नामक ग्रन्थ लिखा। यह भी चरित्रग्रंथ है। इसमें नागदेवाचार्य की जीवनी उसी शैली में लिखी है। उपर्युल्लिखित तीनों ग्रन्थों का स्वरूप समान है। पर सब में चरित्रचित्रण अति

प्रभावकारी और हृद्य है। चरित्रनायकों के छोटे-मोटे संस्मरण सरस भाषाशैली में कथन करके उनके सजीव चित्र पाठकों के सामने प्रस्तुत किये गये हैं। उक्त ग्रंथों में काव्य की झलक भी कहीं-कहीं दीख पड़ती है। ये चरित्र ग्रंथ तत्कालीन यादवकालीन गद्य का आदर्श हैं। उनकी भाषा मुहावरेदार और मंजी हुई है। संक्षेप में भाषा और भावना की दृष्टि से उक्त तीनों चरित्रग्रन्थ उत्कृष्ट हैं। चरित्र-कथन के पश्चात् महानुभाव विद्वान् अपना तत्त्वज्ञान विवेचन करने में मग्न हुए और सन् १२८० में व्युत्पन्न पंडित केसोबास ने **सूत्रपाठ** ग्रंथ की रचना की। यह प्रौढ़ ग्रंथ है। इसमें आद्याचार्य चक्रधर की उक्तियों का संकलन है। इन सूत्रों का अल्पाक्षर-रमणीयत्व देखते ही बनता है। प्रस्तुत ग्रंथ पढ़ने से महात्मा चक्रधर के नीति, संन्यास व आचार-सम्बद्ध विचारों से लेखक सहज ही परिचित हो जाते हैं। पाठों की भाषाशैली भी सात्त्विक विवेचन के अनुरूप है। सूत्रपाठ से ११४ सूत्र लेकर उनका विवेचन **दृष्टान्तपाठ** नामक दूसरे ग्रन्थ में किया है। दृष्टान्तपाठ में मूल सूत्र और उस पर दृष्टान्त का कथन महात्मा चक्रधर द्वारा हुआ और उससे जो दार्ष्टान्तिक अर्थात् तत्त्व निकला वह पंडित केसोबास कृत है। तत्त्वकथन की भाषा प्रौढ़ और संस्कृतप्रचुर है। एवं मराठी को संस्कृत जैसी प्रौढ़ बनाने का प्रथम श्रेय केसोबास को है। शास्त्रीय परिभाषा मराठी में प्रचलित कर उसके वाग्बल और व्यंजना शक्ति को उक्त लेखक ने पुष्ट किया। इस दृष्टि से केशवराज सुरी (केसोबास) मराठी के प्राचीन गद्य के आचार्य माने जाते हैं। इनका अनुकरण कर भविष्य में कई महानुभावों ने लगभग पचास भाष्यग्रन्थ व व्याख्याग्रन्थ लिखे और मराठी का गद्य-साहित्य समृद्ध किया। कहते हैं कि उक्त मराठी गद्य ग्रन्थों की जो पांडित्यपूर्ण लेखनशैली है वह खंडन मंडन करने के कौशल में संस्कृत की समता रखती है। केसोबास का दृष्टांतपाठ सामाजिकदृष्ट्या सूचक है। उसके सब दृष्टांत तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों पर प्रकाश डालते हैं। वे पाठक को यादवकालीन व्रतों, वस्त्रों, शिक्षा और दीक्षा की प्रणालियों तथा भोजन के पक्वान्नों से भली-भाँति परिचित कराते हैं। उनकी भाषा खरी लोकभाषा है। दुर्भाग्य से यादवों का शासन अल्पकाल में ही समाप्त हो गया और सन् १३२५ में मुसलमानों की निरंकुश सत्ता महाराष्ट्र में प्रस्थापित हुई जिसका स्वाभाविक दुष्परिणाम यह हुआ कि मराठी साहित्य में विशेषतः गद्यनिर्माण होना कठिन हो गया। संक्षेप में मराठी शैली के प्राथमिक संवर्धन

का श्रेय महानुभावपंथियों को है। उन्होंने ही मराठी पद्य के समान मराठी गद्य भी धार्मिक प्रचार में प्रयुक्त किया। अब तक मराठी गद्य की भाषा शुद्ध मराठी रही।

मुसलमानी शासन स्थिर होते ही फारसी-उर्दू का राज्य-व्यवहार में बलात् प्रयोग होने लगा। तहसील, कचहरी, काजी, कारकून, अर्जी, मंजूर, मिसल, फरियादी, वकील आदि शब्द नित्य व्यवहार में आने लगे। मराठी की बोल-चाल की भाषा पर उर्दू फारसी का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। पारिभाषिक शब्दावली में संस्कृत से संबंध टूटने लगा। पद्य की भाषा तो प्रायः वैसी ही परिष्कृत एवम् शुद्ध रही पर गद्य की भाषा बोलचाल की होती है अतः उसमें भयानक परिवर्तन हुआ। संत एकनाथ के समय में (सोलहवीं शताब्दी) में मराठी की गद्य भाषा में लगभग पचास प्रतिशत फारसी-उर्दू के शब्द मिलते हैं। सन् १३२५ से १६७४ तक मराठी की गद्य धारा क्षीण तो अवश्य हुई पर रुकी नहीं। यह मराठी गद्य के लिए अज्ञातवास का भयानक काल था। तो भी उक्त अज्ञातवास के दीर्घकाल में 'पंचतंत्र' के कई सरस अनुवाद हुए और केशवाचार्य ने सन् १४७८ में महिकावती की बखर लिखी। फादर स्टीफन्स ने अपने बृहत् खिस्त-पुराण पर गद्य-प्रस्तावना लिखी। खिस्तपुराण ओवीबद्ध विशाल ग्रन्थ है पर उसकी संक्षिप्त प्रस्तावना वक्तृत्वपूर्ण शैली में लिखी है जिसमें फादर स्टीफन्स की स्वधर्मनिष्ठा प्रखरता से दीख पड़ती है। फादर स्टीफन्स के संबंध में हम पहले बहुत लिख चुके हैं। इसी समय में मराठी के युगप्रवर्तक साहित्यकार श्री एकनाथ महाराज ने अर्जदस्त, हिंदू-तुर्क-संवाद और अन्य कई गद्यमय स्फुट प्रकरणों की सरस निर्मिति कर गद्यधारा पुष्ट की। श्री एकनाथ ने उपर्युक्त गद्य स्फुटों में रूपक-कौशल तथा व्यवहार-चातुर्य का असाधारण प्रदर्शन किया। इनमें प्रपंच और परमार्थ का मनोहर संगम देखने में आता है। इनमें यमकों का उपयोग किया गया है अतः इसको सयमक गद्य कहना उचित है। श्री एकनाथजी के उपर्युक्त गद्य स्फुटों में फारसी उर्दू शब्दों की प्रचुरता है जिससे स्पष्ट होता है कि गद्य की भाषा कितनी दूषित हो गई थी। संत एकनाथ के पद्यों की भाषा अति शुद्ध और परिष्कृत है पर गद्य की भाषा पर बोलचाल की भाषा का स्वाभाविक कुप्रभाव पड़ा जिसे उनके जैसा प्रखर व्यक्ति भी न टाल सका। यहाँ मराठी गद्य का पूर्वार्ध समाप्त होता है।

स्वराज्य में गद्य का विकास:—सन् १६७४ में श्री शिवाजी महाराज का राज्याभिषेक हुआ और मराठी भाषा पुनः राजभाषा पद पर आसीन हुई। गत सवा तीन सौ वर्षों में मराठी पर फारसी-उर्दू का जो बुरा असर हुआ था उसको हटा कर गद्य की मराठी भाषा को शुद्ध करने के उद्देश्य से श्री शिवाजी ने राजभाषा-मंडल स्थापित किया जिसमें संस्कृत और मराठी के दिग्गज भाषाशास्त्रज्ञ और पण्डित थे। इन्होंने फारसी-उर्दू के शब्द हटाये और उनके पर्यायवाची संस्कृतनिष्ठ शब्द बनाकर मराठी गद्य भाषा की शुद्धि की जिससे गद्य-लेखन को प्रोत्साहन मिला पर मराठी के दुर्भाग्य से केवल छः वर्ष बाद स्वराज्य-संस्थापक श्री शिवाजी महाराज की शोचनीय मृत्यु हुई और उनके द्वारा प्रारम्भ किया भाषाशुद्धि का कार्य प्रायः ठप हो गया। उनके पश्चात् किसी राजा या पेशवा ने भाषाशुद्धि का कार्य उतनी लगन से नहीं किया परन्तु मराठी राजभाषा होने से उसकी खूब उन्नति हुई। मुसलमान बादशाहों के पास तवारीख लिखनेवाले और खबर कहने वाले लिखे-पढ़े सेवक होते थे। अतः मुसलमानों के विश्वासनीय इतिहास उपलब्ध हैं। मराठों ने उनका अनुकरण कर बखरनवीस अधिकारियों की नियुक्ति की। खबर का मराठी रूप बखर है जिसका अर्थ है वार्ता, जानकारी इत्यादि। बखरनवीस का अर्थ है इतिहासलेखक या जानकारी संगृहीत करने वाला। मराठी में बखर का व्यापक अर्थ होता है। चरित्रग्रंथ, इतिहास, वर्णन का वृत्तान्त, आत्मचरित्र, सम्प्रदाय की जानकारी, व्यवहार की या राजनीति की जानकारी सबका समावेश बखर में होता है। संक्षेप में तत्कालीन गद्य के सब लेखन प्रकारों का समावेश बखर में होता था। अतः बखर साहित्य की प्रचुरता से रचना होने लगी। उक्त बखर गद्य का साहित्यिक और ऐतिहासिक द्विविध-महत्व है। बखर में भाषाशैली की तड़क-भड़क एवं ठाठ-बाट वर्णन करने का ढंग, संभाषणों की अकड़, चरित्रचित्रण की सजगता, शब्द-शब्द में व्यक्त होने वाला स्वाभिमान सब कुछ वर्णन के परे है। बखर उपर्युक्त गुणों की मूर्ति होती है। एवं साहित्यिक गुणविशिष्ट पचास बखरों की रचना श्री शिवाजी के पश्चात् (१६८४ से १८१८ तक) हुई। इन बखरों में निम्नलिखित बखरें विशेष महत्व की हैं—

(१) सभासदी बखर अर्थात् कृष्णाजी अनंत सभासद कृत शिवछत्रपति का चरित्र। यह श्री शिवाजी का पहला चरित्र है। लेखक स्वयं शिवाजी के सहयोगी

थे अतः उन्होंने उनके चरित्र-चित्रण में सच्चाई और सूक्ष्मता का अच्छा निर्वाह किया जो इतना रसभीना है कि पढ़ते ही बनता है। (२) चित्रगुप्त विरचित बखर शिवाजी का चरित्र है। (३) ९१ कलमी बखर भी शिवाजी का चरित्र है। (४) चिटणीस कृत शिवाजी का सप्तप्रकरणात्मक चरित्र भी उत्कृष्ट बखर है। (५) खंडोबल्लाल चिटणीस कृत शिव दिग्विजय भी पठनीय है।

श्री शिवाजी महाराज बखरकारों के लिए स्फूर्ति का स्रोत थे। उन पर लगभग आठ-दस बखरें लिखी गईं जो अपनी साहित्यिक विशिष्टता रखती है। मल्हार रामराव चिटणीस ने शाहू छत्रपति की आज्ञा से कई चरित्रात्मक बखरें लिखीं जिनमें समकालीन सेनापतियों एवं राजनीतिज्ञों की जीवनियाँ रसभीनी शैली में वर्णित हैं। इसी समय दो राजनीतिपरक बखरों की अलौकिक सृष्टि हुई। वे हैं आज्ञापत्र (१७१६ ई०) और राजनीति। श्री शिवाजी के ज्येष्ठ पुत्र शंभु छत्रपति की आज्ञा से प्रधान मंत्री नीलकंठ मोरेश्वर पिंगले ने 'आज्ञापत्र' लिखा। उक्त ग्रंथ के नौ प्रकरणों में श्री शिवाजी महाराज की नौ आज्ञाओं का सरस विवेचन है। लेखक के सूक्ष्म निरीक्षण, ज्ञान और अनुभव का इससे अच्छा परिचय प्राप्त होता है। भाषा धारा-प्रवाह और सरल है। मल्हार रामराव चिटणीस ने शुक्रनीति के आधार पर 'राजनीति' बखर लिखी जिसमें राजनीतिक व्यवहार का सूक्ष्म विवेचन है। उक्त दोनों बखरें शिक्षाप्रद हैं। इसी प्रकार श्री नाना फडणवीस ने बाल पेशवा नारायण राव की शिक्षा के लिये 'नारायण व्यवहार शिक्षा' नामक ग्रंथ लिखवा लिया था। यह है राजनीति पर तीसरा ग्रन्थ। इसकी भाषा बालसुलभ और चुभती है। पानीपत के तीसरे महायुद्ध (१७६१ ई०) पर कई सरस बखर-ग्रन्थों की सफल रचनाएँ हुईं। उनमें (१) भाऊसाहब की बखर, (२) पानीपत की बखरें (३) भाऊ साहब की कैफियत और (४) होलकर की थैली विशेष प्रसिद्ध हैं। भाऊसाहब की बखर सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक गुणों से युक्त है। उसकी मुहावरेदार, मँजी हुई परिष्कृत भाषाशैली पाठक को मंत्रमुग्ध कर देती है। बखरनवीस की वर्णनशैली इतनी सामर्थ्यशाली है कि वर्ण्य व्यक्ति और प्रसंग पाठकों के सम्मुख पुनर्जीवित होकर खड़े हो जाते हैं। सब बखर करुण रस से ओतप्रोत हैं। सरस गद्य शैली का यह उत्कृष्ट आदर्श है। यह मराठी बखर-साहित्य की मुकुटमणि है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ नाना फडणवीस ने आत्मचरित्र

लिखा जिसका अंतर्भाव बखर-साहित्य में होता है। सत्य कथन आत्म-चरित्र की आत्मा है। श्री नाना फडणवीस ने कठोर बनकर सत्य का कथन किया जो अत्यंत हृद्य है। आत्म-चरित्रों में उक्त चरित्र अपना विशिष्ट स्थान रखता है। श्री हनुमान स्वामी की आज्ञा से श्री मल्हार रामराव चिटणीस ने हनुमान स्वामी की बखर लिखी। उक्त बखर श्री समर्थ रामदास का विशाल गद्यचरित्र है, जिसमें अति विस्तार से अद्भुत चमत्कारों के साथ श्री रामदासजी की जीवनी रोचक शैली में लिखी है। श्री हरिहर पटवर्धन ने हरिवंश की बखर लिखी जिसमें नारायण पेशवे के वध का आँखों देखा-सा वर्णन है। अन्ततोगत्वा दक्षिण में तंजौर में शिला में खुदी हुई 'मराठाशाही की बखर' का उल्लेख कर हम यह प्रकरण समाप्त करेंगे। उक्त बखर सन् १८०३ में श्री सरफोजी राजा की आज्ञा से उनके चिटणीस ने लिखी और शिला में खुदवाई। सचमुच यह एक अचरज है कि लगभग सवा सौ पृष्ठों का एक समग्र ग्रन्थ पत्थर की दीवाल पर खुदवाकर लिखा गया। सुदूर दक्षिण के तंजौर प्रान्त में मराठी भाषा के स्वरूप का यह उत्कृष्ट नमूना है। इस बखर में काव्य की झलक है। श्री सरफोजी भोसला का यह चिरस्थायी साहित्यिक कार्य है। संक्षेप में मराठी का गद्य साहित्य बखरों की रचनाओं से अति समृद्ध बना। कई बखरों की भाषा पर फारसी-उर्दू का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है पर कई बखरों की भाषा अधिकतर शुद्ध एवं संस्कृतनिष्ठ मराठी है। बखरों के अतिरिक्त सन् १७७१ में अष्टावक्र-गद्यटीका नामक ग्रन्थ श्री शिवराम ने लिखा था। इसी प्रकार निरंजन माधव ने 'वाक्यसुधाटीका' गद्य में लिखी। उक्त दोनों टीकाग्रन्थों की गद्यशैली शुद्ध, सुगम और प्रासादिक है। अर्थात् ये दोनों अध्यात्म का निरूपण करनेवाले ग्रन्थ हैं। बखर साहित्य लौकिक व्यक्ति और प्रसंगों पर लेखकों द्वारा लौकिक दृष्टि से लिखा हुआ लौकिक गद्यसाहित्य है। बखरों के अतिरिक्त तंजौर में गद्य-नाटकों की सरस रचना हुई।

नाटकों की रचना:—श्री शिवाजी महाराज के सौतेले बन्धु व्यंकोजी राजा ने सन् १६८५ में तंजौर को दक्षिण सुभा की राजधानी बनाई। उनके साथ कई महाराष्ट्रीय परिवार भी थे। उनके वंशजों में राजा सरफोजी, तुकोजी, प्रतापसिंह और अमरसिंह विद्या एवं कला के प्रति रुचि रखने वाले और उनके पोषक थे। उन्होंने वहाँ कई चित्रकार, शिल्पकार, गायक

और लेखकों को आर्थिक सहायता दी और सब कलाओं का विकास कराया। उक्त राजाओं ने 'सरस्वतीमहल' नामक विशाल एवं सुन्दर ग्रन्थालय बनाया जिसके हाल में नाटकों के प्रयोग प्रारम्भ किए। इस ग्रन्थालय में उक्त राजाओं द्वारा लिखवाये तीस-पैंतिस नाटकों की पाण्डुलिपियाँ हैं जिनसे सिद्ध होता है कि १६० वर्ष पूर्व मराठी के रंगमंच और नाट्यवाङ्मय का अस्तित्व था। मराठी-भाषा-भाषियों के लिए यह अभिमान की बात है। सब नाटकों की कथावस्तुएँ पौराणिक हैं। तंजौर में श्री और सरस्वती का अनूठा संगम हो गया था। राजाओं में सरफोजी और प्रतापसिंह ने 'गणेश-लीला-वर्णन' और 'गणेश-विजय' नामक नाटक लिखे जो सरस्वती महल में गणेशोत्सव और शारदोत्सव के समय सफलता से खेले जाते थे। कहते हैं कि सुभद्रापरिणय और लक्ष्मीनारायण आदि नाटकों की रचना अन्य राजाओं ने ही की थी। एवं मराठी नाट्यसृष्टि का श्रीगणेश तंजौर में हुआ और उससे मराठी का गद्य-साहित्य पुष्ट हुआ।

ऐतिहासिक पत्र-व्यवहार:—बखरों की रचना के साथ ही मराठी में पत्र-व्यवहार खूब बढ़ा। स्वराज्य का विकास साम्राज्य में होने से मराठा सरदार और उनके साथ कई परिवार अन्य सूबों में जाकर बस गए। पूना से इन लोगों का पत्र-व्यवहार मराठी गद्य में ही होता था। दिल्ली से तंजौर तक सब प्रमुख राजधानियों में मराठा सरदार और मराठी-भाषा-भाषी लोग रहने लगे। उनका परस्पर पत्रव्यवहार मराठी में होता था जिससे गद्य की निर्मिति को अनायास सहायता मिली। इधर गत साठ वर्ष में उक्त ऐतिहासिक पत्र-व्यवहार के विषय में बहुत संशोधन हुआ और लगभग चालीस सहस्र पत्रों की मूल पांडुलिपियाँ इकट्ठी की गई। उपलब्ध पत्रों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि धीरे-धीरे मराठी गद्यधारा कैसे पुष्ट बनती गई। पत्रलेखन एक कला है। इस कला में कई मराठा सूबेदार बड़े निपुण थे। प्रायः सब सूबेदार और धनी लोग अपने पास पत्रलेखक रखते थे। स्वामी की इच्छा, आशा, आकांक्षा, आज्ञा, जिज्ञासा इत्यादि सूक्ष्म भावनाओं का सफल निर्वाह करने में ये पत्रलेखक कुशल होते थे। इनका भाषा पर पूरा अधिकार होता था। ये उचित शब्दों को प्रयुक्त कर अपेक्षित प्रभाव पाठकों पर डाल सकते थे। इसके अतिरिक्त उक्त ऐतिहासिक पत्रों में उपदेश, प्रलोभन, निषेध, डाँट डपट, मेल, अनुनय, शरणागति इत्यादि भावों का सरस निर्वाह होता था जिससे गद्य का उत्कर्ष स्पष्ट होता

है। कई पत्रों का वाचन इतना मंत्रमुग्ध कर देता है कि पाठक को उपन्यास पढ़ने का आनंद प्राप्त होता है। कई पत्रों में संस्कृत के सुभाषितों का मार्मिक प्रयोग किया गया है जो केवल आस्वाद्य है, वर्ण्य नहीं। श्री शिवाजी महाराज, पहला बाजीराव पेशवा, नाना फडणवीस, गोविंदराव काले इत्यादि महापुरुषों के पत्रों में सामयिक राजनीतिक समस्याओं का विस्तृत उद्‌घाटन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी मँजे हुए निबंधलेखक ने उक्त पत्र लिखे होंगे। कई पत्रों में युद्ध के स्फूर्तिदायक वर्णन हैं तो कई पत्रों में पराभव के हृदयद्रावक वृत्तांत हैं। कई पत्र प्रवास के सुखद तथा दुःखद अनुभवों से भरे हुए हैं तो कई पत्रों में राजनीति से संबद्ध धार्मिक, नैतिक और व्यावहारिक बातों का सरल विवेचन है। संक्षेप में उक्त पत्रसाहित्य विविध विषयों और शैलियों की निधि है। निःसंशय उसने मराठी-गद्य-धारा को विस्तृत और प्रबल बनाया। एवम् सन् १२७८ में प्रवाहित हुई मराठी-गद्य-धारा कतिपय भयानक शिलाखंडों से टकरा कर १८१८ ई० में विशाल प्रवाह के स्वरूप में बहने लगी।

प्राचीन मराठी साहित्य के प्रमुख ग्रंथ

१. ज्ञानेश्वरी	... ...	संत ज्ञानेश्वर
२. शिशुपालवध	... ...	कवीश्वर भास्करभट्ट बोरीकर
३. गाथा	... ...	संत नामदेव
४. रुक्मिणी-स्वयंवर	... ...	नरेन्द्र
५. लीलाचरित्र	... ...	म्हाइंभट्ट
६. दृष्टान्तपाठ	... ...	केसोबास
७. भागवत	... ...	एकनाथ महाराज
८. महाभारत	... ...	मुक्तेश्वर
९. ख्रिस्तपुराण	... ...	फादर स्टीफन्स
१०. अभंगांची गाथा	... ...	संत तुकाराम
११. दासबोध	... ...	समर्थ रामदास
१२. यथार्थदीपिका	... ...	वामन पंडित
१२. नल-दमयंती-स्वयंवर	... ...	रघुनाथ पंडित
१४. आर्या भारत और केकावली	...	मोरोपंत
१५. पांडव-प्रताप	... ...	श्रीधर
१६. संत-लीलामृत	... ...	महिपति
१७. शिवचरित्र	... ...	सभासद
१८. भाऊसाहेबाची बखर	...	कृष्णाजी शामराव

प्रमुख संदर्भ ग्रन्थों की सूची

१. महाराष्ट्र सारस्वत—श्री० वि० ल० भावे

२. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास भाग १, २, ३—श्री० ल० रा० पांगारकर

३. मराठी साहित्याची रूपरेखा (पूर्वार्ध)—डॉ० वि० पां० दांडेकर

४. मराठी वाङ्मयाचा परामर्श—प्रा० गं० भा० निरंतर

५. प्राचीन मराठी वाङ्मयाचे स्वरूप—प्रो० ह० श्री० शेणोलीकर

६. मराठीचें साहित्य शास्त्र —डॉ० मा० गो० देशमुख

७. मराठी संतों का सामाजिक कार्य—डॉ० वि० भि० कोलते

८. हिन्दी को मराठी संतों की देन—आचार्य डॉ० विनय मोहन शर्मा

९. मराठी साहित्य का इतिहास—श्री कृष्णलाल शरसोदे (हंस)

१०. मराठी साहित्य का इतिहास—प्रा० नारायण वा० गोडबोले

११. संत तुकाराम—डॉ० हरि रामचंद्र दिवेकर

१२. हिंदी दासबोध—बाबू रामचंद्र वर्मा

१३. हिंदी ज्ञानेश्वरी—बाबू रामचंद्र वर्मा

१४. श्रीज्ञानेश्वर चरित्र—अनुवादक, श्री० ल० ना० गर्दे

१५. श्रीएकनाथ चरित्र ,, ,,

१६. श्रीतुकाराम चरित्र ,, ,,

१७. महाराष्ट्र शब्दकोष, विभाग ४–५ श्री० य० रा० दाते

१८. प्राचीन मराठी गद्य—डॉ० शं० गो० तुलपुले

१९. पाँच संतकवि ,,

२०. नामदेवाचीं भजनें—संत विनोबा भावे

२१. हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल

२२. हिंदी संतकाव्य—पं० परशुराम चतुर्वेदी

२३. उत्तरी भारत की संत-परंपरा ,,

२४. महाराष्ट्रांतील पाँच संप्रदाय—पं० रा० मोकाशी

२५. संतवाङ्मयाची सामाजिक फलश्रुति—प्रो० गं० बा० सरदार

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		मुखबन्ध	
४	१७	जेय	जेथ
५	१०	हारि	हरि
८	२५	शहाटी	राहाटी
१४	५	Cunstractive	Constractive
		ग्रंथ	
७	१३	का	के
८	१०	१२७१ से १२९३	१२७५ से १२९६
१६	२	श्री आदिनाथ	श्री आदिनाथ (शंकरजी)
३३	१५	या	तथा
४७	२५	जनवाई	जनाबाई
४८	२१	शिवदीन	शिवदिन
७३	४	उसमें	उनमें
९२	६	कवियित्री	कवयित्री
९८	२०	मंगलवेठा	मंगलवेढा
१२६	३	१५९६	१५९९
१२६	५	कुरुनदन्दन	कुरुनन्दन
१९२	४	१६८२	१६८१
२१८	८	सब	कई
२२४	२९	कल्पनाविकास	कल्पनाविलास